प्रकाशकीय

साधुमार्गी जैन परम्परा मे महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुक्मीचदजी म सा की पाट–परम्परा मे षष्ठ युगप्रधान आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा विश्व–विभूतियों मे एक उच्चकोटि की विभूति थे अपने युग के क्रातदर्शी सत्यनिष्ठ तपोपूत सत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन वैराग्य से ओत–प्रोत साधुत्व प्रतिभा–सम्पन्न वक्तृत्वशक्ति एव भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्व–पर–कल्याणकर था।

आचार्यश्री का चिन्तन सार्वजनिक सार्वभौम और मानव मात्र के लिए उपादेय था। उन्होने जो कुछ कहा वह तत्काल के लिए नहीं अपितु सर्वकाल के लिए प्रेरणापुज बन गया। उन्होने व्यक्ति समाज ग्राम नगर एव राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के लिए अनेक ऐसे तत्त्वो को उजागर किया जो प्रत्येक मानव के लिए आकाशदीप की भॉति दिशाबोधक बन गये।

आचार्यश्री के अन्तरग मे मानवता का सागर लहरा रहा था। उन्होने मानवोचित जीवनयापन का सम्यक धरातल प्रस्तुत कर कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करने का सम्यक प्रयास अपने प्रेरणादायी उदबोधनो के माध्यम से किया।

आगम के अनमोल रहस्यो को सरल भाषा में आबद्ध कर जन–जन तक जिनेश्वर देवो की वाणी को पहुचाने का भगीरथ प्रयत्न किया। साथ ही प्रेरणादायी दिव्य महापुरुषो एव महासतियों के जीवन–वृत्तान्तो को सुबोध भाषा मे प्रस्तुत किया। इस प्रकार व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से सजाने–सवारने का काम पूज्यश्रीजी ने किया है। अस्तु! आज भी समग्र मानवजाति उनके उदबोधन से लाभान्वित हो रही है। इसी क्रम मे श्री भगवती सूत्र व्याख्यान भाग–1 2 किरणावली का यह अक पाठको के लिए प्रस्तुत है। सुज्ञ पाठक इससे सम्यक लाभ प्राप्त करेगे।

युगद्रष्टा युगप्रवर्तक ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा का महाप्रयाण भीनासर मे हुआ। आपकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने और आपके कालजयी प्रवचन–साहित्य को युग–युग मे जन–जन को सुलभ कराने हेतु समाजभूषण कर्मनिष्ठ आदर्श समाजसेवी स्व सेठ चम्पालालजी बाठिया का चिरस्मरणीय श्लाघनीय योगदान रहा। आपके अथक प्रयासो और समाज के उदार सहयोग से

इसम मेरा क्या बिगडता है? मैं द्वेष भाव धारण कर क अपना अमगल आप ही क्या करू?

तलवार से कटते समय भी अगर प्रतिशत्रुता का भाव उदित होता है तो नवीन कर्म बधे बिना नही रहते। यद्यपि पूर्वबद्ध कर्म चुकते हैं तथापि नये कर्म बधते भी हैं। अगर तलवार से कटते समय यह विचार आया कि मारने वाला ओर मरने वाला मैं नही हू और उस समय निर्विकार अवस्था रही तो नूतन कर्म का बध नही होता।

कल्पना कीजिए एक व्यापारी ने किसी साहूकार के यहा अपना खाता डाला। वह एक हजार रुपया ऋण ले गया। थोडे दिनो के पश्चात् वह एक हजार रुपया दे गया ओर दो हजार नये ले गया। ऐसा करने से उसका खाता चलता ही रहेगा। इसके विरुद्ध गर वह जमा कराता रहे और नया कर्ज न ले ता उसका खाता चुक जायेगा। इसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म समभाव से भोगे अच्छे या बुर विचार न लावे तो किसी समय कर्म शत्रु का नाश हो जायगा।

आस्रव सवर ओर निर्जरा के भेद से कर्मो का स्वरूप प्रकारान्तर से भी कहा जाता हे मगर विस्तारभय से ओर समय की कमी के कारण यहा उसे छाड दिया जाता हे।

आचार्य कहते हैं—इस प्रकार के कर्म—शत्रुओ का नाश करने वाले अरिहत भगवान् का मैं नमस्कार करता हू।

यहा एक बात विशेष महत्वपूर्ण हे। नमस्कार करते समय किसी व्यक्ति—विशेष का नाम नही लिया गया हे अपितु अमुक प्रकार के गुणा से युक्त भगवान् को नमस्कार किया गया है। यह विशाल दृष्टिकोण एव मध्यस्थभाव का ज्वलत प्रमाण हे। यह निष्पक्ष भावना कितनी प्रशसनीय हे? चाहे जो हो जिस ने कर्म शत्रु को अत्यन्त विनाश कर दिया हे वही अरिहत हे ओर वही वन्दनीय हे वही पूजनीय हे।

कोई भी वस्तु अगर नमूने के अनुसार हा ता उसम झगडे की गुजाइश नही है। नमूने क अनुसार न होने पर ही झगडा उत्पन्न हाता हे। इसी कारण आचार्य न कर्मशत्रुआ का नाश करने वाल का अरिहत ओर वद्य कहा हे। जिसमे विकार विद्यमान हे वह माननीय या वन्दनीय नही ओर जा विकारा क वेग से विमुक्त हो चुका हे वह कोई भी क्या न हा वन्दनीय हे।

अगर अरिहत न अपन कर्मो का अत्यन्त अन्त कर दिया हे ओर अपनी आत्मा को एकान्त निर्मल बना लिया है ता उन्हाने अपना ही कल्याण साधन नही किया है। उन्हाने कर्मो का नाश किया हे यह दख कर हम उन्ह क्या नमस्कार करे?

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	थादला मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	वि स 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	श्री जीवराजजी कवाड
माता	श्रीमती नाथीबाई
दीक्षा स्थान	लिमडी (म प्र)
दीक्षा तिथि	वि स 1948 माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	रतलाम (म प्र)
युवाचार्य पद तिथि	वि स 1976 चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	वि स 1976, आषाढ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	भीनासर (राज)
स्वर्गवास तिथि	वि स 2000 आषाढ शुक्ला अष्टमी

सागरोपम का होता है। इस समय अवसर्पिणी काल का पाचवा आरा है। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। भगवान महावीर स्वामी इस आरे के आरम्भ होने से पहले ही अर्थात् चौथे आरे मे विचरते थे। उसी समय का यहा वर्णन हे। अतएव उस काल का अर्थ है वर्त्तमान अवसर्पिणी काल का चौथा आरा।

अवसर्पिणी काल का चौथा आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक क्रोडा क्रोडी सागरोपम का होता है। इतने लम्बे काल मे से कब का यह वर्णन समझा जाये? अतएव उस काल मे विशेषता बतलाने के लिए यहा दो बातो का उल्लेख कर दिया है–भगवान् महावीर का और राजा श्रेणिक का। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वर्तमान अवसर्पिणी काल मे और उसके चौथे आरे मे भी जब भगवान् महावीर विचरते थे और श्रेणिक नामक राजा था उस समय मे यह सूत्र बना है। अतएव समय का अर्थ हुआ–भगवान् महावीर और श्रेणिक राजा का विद्यमानता का समय।

समय बतलाने के पश्चात् क्षेत्र बतलाना चाहिये। अतएव यहा कहा गया है कि मगध देश मे राजगृह नामक विशाल नगर था। उस नगर मे प्रस्तुत प्रश्नोत्तर हुए जिससे शास्त्र की रचना हुई।

राजगृह नगर किस प्रकार का था? इस सबध मे सुधर्मास्वामी ने कहा हे कि उववाई सूत्र मे चम्पा नगरी का जो वर्णन किया गया है, वही वर्णन यहा भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् चम्पा नगरी के समान ही राजगृह नगर था।

पहले क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर था। राजा जितशत्रु ने उसे क्षीणवास्तुक समझकर दूसरी जगह नगर बसाने का इरादा किया। उसने फल–फूल से समृद्ध एक चनक क्षेत्र देखकर उस स्थान पर 'चनकपुर नगर बसाया। कालक्रम से उसे भी क्षीण मानकर वन मे एक अजेय वृषभ (बेल) देखकर उस स्थान पर 'ऋषभपुर' की स्थापना की। समय पाकर वह भी क्षीण हो गया। तब कुश (दूब) का गुल्म देखकर कुशाग्रपुर नामक नगर बसाया। जब कुशाग्रपुर कई बार आग से जल गया तब प्रसेनजित राजा ने राजगृह नामक नगर बसाया।

राजगृह नगर को जेन साहित्य एव बोद्ध साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हे। भगवान् महावीर और बुद्ध ने राजगृह मे अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। पन्नवणा सूत्र क अनुसार राजगृह नगर मगध देश की राजधानी था। महाभारत क सभा पर्व म भी राजगृह को जरासध के समय म मगध की राजधानी प्रकट किया गया हे। राजगृह का दूसरा नाम गिरिव्रज भी

आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

विपत्तियो के तमिस्र गुफाओ के पार जिसने सयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।

ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरतर अभिवर्द्धित किया।

सयमीय साधना के साथ वैचारिक क्राति का शखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।

उत्सूत्र सिद्धातो का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धातो की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थो मे विजयश्री प्राप्त की।

परतत्र भारत को स्वतत्र बनाने के लिए जिसने गाव–गाव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनो द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।

शुद्ध खादी के परिवेश मे खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस मे खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।

अल्पारभ–महारभ जैसी अनेको पेचीदी समस्याओ का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।

स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर सम्मेलन मे गहरे चितन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।

महात्मा गाधी विनोबा भावे लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल प श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओ ने जिनके सचोट प्रवचनो का समय–समय पर लाभ उठाया।

जैन व जैनेत्तर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।

सत्य सिद्धातो की सुरक्षा के लिये जो निडरता एव निर्भीकता के साथ भू–मडल पर विचरण करते थे।

क्रोध न आवे ओर जब अर्जुन मुझ पर मुगदर का प्रहार करे तब भी आपका ध्यान अखण्ड बना रहे। अर्जुन मुझे मित्र प्रतीत हो शत्रुता का भाव हृदय मे उत्पन्न न हो।

जो लोग सुदर्शन की भाति परमात्मा से निर्वैर एव निर्विकार बुद्धि की ही याचना करते हैं उन्हीं का मनोरथ पूर्ण होता हे। इस बात पर दृढ प्रतीति होते ही विरुद्ध वातावरण अनुकूल हो जाता है।

ओरो के उपदेश मे भाषा लालित्य और शाब्दिक सौन्दर्य भले ही अधिक मिले लेकिन भगवान् महावीर के उपदेश मे जो विचित्रता है वह अन्यत्र कही नही मिल सकती। लोग आज उनकी शक्ति पर विचार नही करत इसी से दु ख पा रहे हैं। सुदर्शन ने भगवान् की शक्ति पहचानी थी।

निर्विकार ओर निर्वैर रहने की भावना पर नास्तिक को चाहे विश्वास न हो नास्तिक भले ही शास्त्र पर और हिसा पर विश्वास रखे लेकिन सच्चा आस्तिक तो निर्विकार एव निर्वैर भावना पर ही विश्वास करता है। यद्यपि हिसा म भी शक्ति हे हिसा की शक्ति पर श्रावको ने भी सग्राम किये हैं भरत बाहुबली भी लड हें लकिन अन्तिम विजय अहिसा की ही हुई है। जेनो को भगवान् महावीर क अहिसा सिद्धान्त पर ही पूर्ण विश्वास है। इसलिए बमबाज बमो स लट्ठबाज लट्ठो स चाह मानत रह लकिन जेन फिर भी अहिसा का ही उपयोग करगा। वह अपनी उच्च भूमिका से नीचे नही उतर सकता।

श्रोतागण! आप वीरो के शिष्य हें। घर म घुस कर छिप बेठन म वीरता या क्षमा नही है। जिन्ह दु ख म दखकर दखने वाल भी दु खी हो जाव पर दु ख पान वाल उस दु ख न समझ बलिक दखकर दु खी हान वालो को सान्त्वना द–हिसा द वही सच्च वीर हें। ससार म इसस बढकर दूसरी वीरता नही हो सकती। दु ख को भी सुख रूप म परिणत कर लना अपनी सम्यग्दर्शन–शक्ति क प्रभाव स दु ख को सुख रूप म पलट लना ही भगवान महावीर की वीरता का आदर्श है।

दरवाजा बन्द करक घर म बेठ रहना वीरता नही हे मगर मरन क स्थान पर जाकर भी धेर्य त्यागन म वीरता हे महावीर का सच्चा अनुयायी अपने द्वार बन्द करक घर म नही छिप रहता वरन खुल मेदान म खडा हो जाता ह और दृढ स्वर म कहता ह–मरा प्रभु पुरुषवरगन्धहस्ती ह। मरा कोई क्या बिगाड सकता ह?

अर्थ–सहयोगी परिचय

श्रेष्ठीवर्य समतासाधक, शासननिष्ठ समाजसेवी, स्व सेठ धूलचन्दजी पन्नालालजी सा. कटारिया, रतलाम

रतलाम नगर मे पौष बदी 10 सवत् 1977 मे जन्मे सेठ स्व श्री पन्नालालजी कटारिया शुरू से ही सरल सेवाभावी, मेधावी, मृदुभाषी एव धर्म मे आस्था रखने वाले व्यक्ति थे।

आपने रतलाम मे सोने–चादी का व्यवसाय प्रारम्भ किया, जिसमे आपने अच्छी प्रामाणिकता एव उत्तमता मे ख्याति प्राप्त की। यह व्यवसाय आज भी निरन्तर उन्नति करते हुए लोगो के विश्वास का प्रतीक बना हुआ है जो रतलाम मे 'कटारिया ज्वैलर्स एव 'डी पी ज्वैलर्स' के नाम से विख्यात है। जहॉ आपने सोने–चॉदी के व्यवसाय मे सफलता प्राप्त की है उद्योग जगत् मे भी आपने कटारिया वायर्स प्राइवेट लिमिटेड रतलाम वायर्स प्राईवेट लिमिटेड तथा डी पी वायर्स प्राईवेट लिमिटेड के नाम से ख्याति प्राप्त की। इनमे स्टील वायर्स गेल्वेनाइज्ड वायर पी सी वायर्स एव प्लास्टिक फिल्म का उत्पादन होता है जिसमे सैकडो व्यक्तियो को रोजगार मिल रहा है।

स्व श्री पन्नालालजी सा कटारिया अपने व्यावसायिक कार्य के अलावा सामाजिक एव धार्मिक कार्यो मे भी हमेशा आगे रहते थे। इसका मुख्य उदाहरण रतलाम मे वृद्धाश्रम का सचालन है, जो कि अन्न क्षेत्र के नाम से भी जाना जाता है जिसमे अनेक निराश्रित व्यक्तियो के रहने की व्यवस्था है। इसकी देखभाल आप स्वय प्रतिदिन जाकर करते थे। आपके पदचिह्नो पर चलते हुए आपके परिवार के सदस्य भी इस सेवाकार्य मे निरन्तर आश्रितो की देखभाल कर रहे हैं। साथ ही शिक्षा के क्षेत्र मे आपका योगदान भी विशेष रहा है। जैन समाज के सभी स्कूलो मे आप सहभागी बने थे। और उदात्त भाव से अग्रणी दानदाता के रूप मे विख्यात थे।

प्रश्न–जो केवलज्ञान से देखा जाये वह लोक है ऐसा अर्थ मानने पर अलोक भी लोक कहलाएगा क्योंकि केवल–ज्ञान द्वारा अलोक भी देखा जाता है?

उत्तर–यद्यपि केवलज्ञानी लोक और अलोक–दोनो को ही देखते हैं फिर भी सिर्फ देखने मात्र से ही अलोक लोक नहीं हो सकता। केवली भगवान ओर जिस आकाश–विभाग को पचास्तिकायमय देखते हैं उस प्रदेश की सज्ञा लोक है जिस आकाश–विभाग को पचास्तिकाय से शून्य शुद्ध आकाश रूप मे देखते हैं उसकी सज्ञा अलोक है। इस प्रकार लोक और अलोक का विभाग होने से किसी प्रकार की गडबडी नही होती।

अलोक का अर्थ 'न देखा जाना' है। मगर यह 'न देखा जाना' ज्ञान की न्यूनता का परिचायक नहीं है। जब कोई वस्तु विद्यमान हो मगर देखी न जाय तो दृष्टि की न्यूनता समझी जायेगी। जहा वस्तु न हो वहा अगर वह नही दिखाई देती तो उसमे दृष्टि सम्बन्धी कोई दोष नही माना जा सकता। मान लीजिए एक जगह जल है और दूसरी जगह स्थल है। स्थल की जगह अगर कोई जल के विषय मे पूछे तो यही कहा जायेगा कि यहा जल नही है। वास्तव मे वहा जल है ही नही तो दिखाई कैसे देगा? इस प्रकार भगवान् के केवलज्ञान मे किसी प्रकार की न्यूनता नही है लेकिन जहा उन्होने पाच अस्तिकाय–लोक दिखाई दिया उसे अलोक कहा। वास्तव मे वहा एक ही अस्तिकाय है शेष चार अस्तिकाय हैं ही नही तो दीखते कहा से?

प्रश्न–अलोक लोक मे क्या नही मिल जाता? समुद्र मे मर्यादा है इसलिए वह स्थल से नहीं मिलता। लेकिन लोक–अलोक के बीच मे क्या कोई दीवार है जो अलोक को लोक के साथ नही मिलने देती? जीव नरक से निकल कर सिद्धशिला तक चोदह राजू लोक तक जाता है फिर क्या कारण है कि लोक के जीव अलोक मे नही जाते?

उत्तर–हम जब किसी वस्तु के बीच का अग देखते हैं तो यह समझ लेते हैं कि इसका आदि और अन्त भी कही अवश्य होगा। इसी प्रकार स्थूल लोक हम मध्य मे देखते हैं तो उसकी आदि और अत भी कहीं होगा ही। जब आदि और अत हैं तो सीमा हो ही गई। इसके अतिरिक्त पदार्थ जहां के तहा बने रहेंगे तभी लोक ओर अलोक का नाम रहेगा। अगर लोक के पदार्थ अलोक मे गये तो लोक और अलोक नाम रहेगा ही क्या ? ऐसी स्थिति मे तो लोक–अलोक के पृथक्–पृथक नाम ही मिट जायेंगे।

प्रश्न–लोक के पदार्थों को अलोक मे न जाने देने वाली शक्ति क्या है? पदार्थों को अलोक मे जाने देने से कौन रोकता है ?

।। णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स।।

श्रीमद् भगवतीसूत्रम्

(पचमागम)

शास्त्र प्रस्तावना

श्रमण भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट समस्त श्रुत द्वादशागी कहलाता है अर्थात वह बारह अगो मे विभक्त है। श्री भगवतीसूत्र जिसका दूसरा नाम विआहपण्णति (विवाहप्रज्ञप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञप्ति) भी है द्वादशागी मे पाचवा अग है। अन्यान्य अगो की भाति यह अग भी श्री सुधर्मा स्वामी द्वारा प्रणीत है। यह अग अत्यन्त गम्भीर है और शब्द एव अर्थ की अपेक्षा विस्तृत भी है। अतएव इस अग के प्रारभ मे अनेक विध मगलाचरण किये गये हैं। मगलाचरण के आदि सूत्र इस प्रकार है –

(1) णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण णमो आयरियाण,
णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूण।
(2) णमो बमीए लिवीए।
(3) णमो सुअस्स।

इन तीन सूत्रो द्वारा मगलाचरण करके शास्त्र प्रारभ किया गया है। प्रथम सूत्र मे पच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। द्वितीय सूत्र मे लिपि को नमस्कार किया गया है और तृतीय सूत्र मे श्रुत देवता को नमस्कार किया गया है। इस प्रकार इन तीन सूत्रो द्वारा नमस्कार करके शास्त्र आरम्भ किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र के टीकाकारो ने भी टीका करने से पहल मगलाचरण किया है। अभयदेव सूरि द्वारा किया हुआ मगलाचरण इस प्रकार है –

सर्वज्ञमीश्वरमन तमसगमग्र्य
सार्वीयमस्मरमनीशमनीहमिद्धम्।

मगर उसे ठीक तरह रखकर पका लिया जाय तो मीठा हो जाता है। आम मे यह मिठास ही बाहर से नही आती यह आम का भिद्यमान होना है। इसी आम को ज्यादा देर तक दबा रक्खा जाय तो वह सड जाता है। जैसे आम मे नाना अवस्थाएँ उत्पन्न होती है उसी प्रकार कर्म मे भी अनेक अवस्थाएँ उत्पन्न और विनिष्ट होती रहती है। मान लीजिए किसी जीव ने शुभ कर्मो का बध किया लेकिन बाद मे ऐसा कुछ हो गया कि वे शुभ कर्म अशुभ हो गये। इसी प्रकार अशुभ कर्म उपकरण द्वारा शुभ हो गये। ऐसा होना कर्म का भिद्यमान होना कहलाता है। तात्पर्य यह है कि बुरे का अच्छा हो जाना और अच्छे का बुरा हो जाना भेदन करना कहलाता है।

बंधे हुए कर्मो मे तीन प्रकार से भेदन होता है रसघात स्थिति घात और प्रदेशघात। तीव्र रस को मद रस मद रस को तीव्र रस रूप परिणत करना अल्पकालीन स्थिति को दीर्घकालीन करना और दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करना बहुत प्रदेशो को अल्प प्रदेश रूप और अल्प प्रदेशो को बहुत प्रदेश रूप मे परिणत करना यह सब कर्मो का भिद्यमान होना है। यह भेदन रस प्रदेश और स्थिति तीनो मे होता है।

कर्म मे यह परिवर्तन कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे राजा प्रदेशी का हुआ था और जैसे कुण्डरीक तथा पुण्डरीक का हुआ था। प्रदेशी का वृत्तात बतलाया जा चुका है। कुण्डरीक ने हजार वर्ष तक तपस्या करके शुभ कर्म उत्पन्न किये थे। लेकिन तीन दिन के पाप से वे शुभ कर्म भिद्यमान होकर अशुभ हो गये। मगर उसी के भाई पुण्डरीक ने हजार वर्ष तक राज्य करके जो अशुभ कर्म बांधे थे वे तीन दिन की तपस्या से शुभ कर्म के रूप मे परिणत हो गये। करण की विशेषता कर्मो मे इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देती है। यह शुभ या अशुभ विशेषता उत्पन्न होना कर्म का भिद्यमान होना कहा जाता है। कर्म भेदन की इस क्रिया मे असख्यात समय लगते है मगर प्रथम समय मे जो भिद्यमान हो रहा है उसे भेदा गया कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का सातवा प्रश्न है –

डज्झमाणे दड्ढे?

वीतराग है स्वाधीन है। किसी भी प्रकार की उपाधिया उसे स्पर्श तक नही करती है। ऐसी अवस्था मे ईश्वर पुन जन्म ग्रहण करके अवतीर्ण नहीं हो सकता। इस प्रकार 'असग अर्थात् निर्विकार होने के कारण ईश्वर अनन्त है–उसकी ईश्वरता का कभी अत नही होता।

ईश्वर अग्र्य अर्थात् सब मे श्रेष्ठ है। ससार के सभी प्राणी, क्या मनुष्य और क्या स्वर्ग के देवता, सभी अज्ञान से ग्रसित हैं, सभी जन्म–मरण आदि की व्याधियो से पीडित हैं सभी को इष्ट–वियोग और अनिष्ट–सयोग के द्वारा उत्पन्न होने वाले दु ख लगे हुए हैं। इन सब प्रकार के दुखो से मुक्त केवल ईश्वर ही है। अतएव ईश्वर अग्र्य है–सर्वश्रेष्ठ है।

भगवान् सार्वीय है। सब का हित–कल्याण करने वाला सार्वीय कहलाता है। भगवान् वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करके पहले सर्वश्रेष्ठ–अग्र्य बने, फिर जगत् के कल्याण के लिए बिना किसी प्रकार के भेद भाव के जगत् के जीवो को कल्याण का मार्ग प्रदर्शित किया है। अतएव वह सार्वीय है।

भगवान सर्वश्रेष्ठ क्यो है? इस प्रकार का उत्तर सार्वीय विशेषण मे निहित है। भगवान् सब का कल्याण करते हैं, इस कारण वह सर्वश्रेष्ठ–अग्र्य है। जो सब का हित करता है वही सर्वश्रेष्ठ कहलाता है।

भगवान् अस्मर अर्थात् कामविकार से रहित हैं। जो काम–विकार से रहित होता है वही सब का हित कर सकता है।

भगवान् अनीश' हैं। जिनके ऊपर कोई ईश्वर न हो वह अनीश कहलाते है। जो स्वय बुद्ध है, जिन्होने अपने–आपसे बोध प्राप्त किया है, किसी दूसरे से नही, उनके ऊपर दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। कई लोग मुक्तात्माओ से भी ऊपर अनादि ईश्वर की सत्ता मानते हैं। यह मान्यता समीचीन नही है। वस्तुत मुक्तात्मा और ईश्वर मे भेद नही है। जो मुक्तात्मा है वही ईश्वर है और मुक्तात्मा से उच्च कोई सत्ता नही है, यह सूचित करने के लिए भगवान् को अनीश' विशेषण लगाया गया है।

भगवान् अनीह अर्थात् निष्काम है। अनीह होने के कारण वे अनीश है जो निष्काम होगा उसी पर कोई ईश्वर–स्वामी नही हो सकता। जिसमे कामना है उसी पर स्वामी–मालिक हो सकता है। निष्काम पुरुष का स्वामी नही हो सकता। क्या बादशाह साधुओ पर आज्ञा चला सकता है?

नही।

क्योकि साधुओ को धन आदि की कामना नही है। जब साधुओ पर भी किसी का हुक्म नही चल सकता तो ईश्वर पर कौन हुक्म चला सकता है? अतएव अनीश वही हो सकता है जो अनीह–कामना रहित हो।

प्रदेशी राजा अपने अशुभ कर्मों का शुभ रूप म पलट कर सूर्याभ देव हुआ था। तात्पर्य यह हैं कि आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता और हर्त्ता है। उसमे असीम शक्ति है। वह शुभ को अशुभ रूप मे ओर अशुभ को शुभ रूप म परिवर्तित भी कर सकता है। यह परिवर्तन ही सक्रमण कहलाता है।

अगला प्रश्न है—नारकियो के कितने प्रकार के पुद्गल निधत्त हुए ?

भिन्न-भिन्न पुद्गलो को इकट्ठा करके धारण करना निधत्त करना कहलाता है। अर्थात कर्म—पुद्गलो एक—दूसरे पर रख देना, जैसे एक थाली मे बिखरी हुई सुइयो को एक के ऊपर दूसरी आदि के क्रम से जमा देना निधत्त करना कहलाता हैं। निधत्त शब्द यहा रूढ है।

निधत्त कर्म की अवस्था विशेष है। इस अवस्था को प्राप्त हुए कर्मों मे उद्वर्त्तना या अपवर्तना करण ही परिवर्तन कर सकते हैं अन्य कारण नही। तात्पर्य यह है कि निधत्त अवस्था से पहले तो ओर भी करण लग सकते थे मगर निधत्त अवस्था मे उक्त दो करणो के अतिरिक्त कोई तीसरा करण नही लग सकता। जब कर्म पूर्वोक्त उद्वर्त्तना और अपवर्तना करण के सिवाय और किसी करण का विषय न हो इस अवस्था का नाम निधत्त है।

अब प्रश्न यह कि नारकी कितने प्रकार के कर्मो को निकाचित करते हैं?

जिन कर्मो को निधत्त किया गया था उन्हे ऐसा मजबूत कर देना कि जिससे वे एक दूसरे से अलग न हो सके और जिनमे कोई भी करण कुछ भी फेरफार न कर सके इसे निकाचित करना कहते हैं। उदाहरणार्थ—सुइया को एक—दूसरे के पास इकट्ठा कर देना निधत्त करना कहलाता है और उसके पश्चात उन्हे अग्नि में तपाकर हथोडे से ठोक दिया ओर आपस मे इस प्रकार मिला दिया जिससे वे एक—दूसरे से अलग न हो सके। सुइया के समान कर्मों का इस प्रकार मजबूत हो जाना कि फिर उसम परिवर्तन न हा निकाचित हो जाना कहलाता हे।

तात्पर्य यह है कि निकाचित कर्म वह कहलात हें जिनम किसी प्रकार का सक्रमण न हा सके, जिस रूप मे बाधे हें उसी रूप म भोगन पड जिनमे अपवर्तना उद्ववर्तना करण भी कुछ न कर सक। एक राग साध्य हाता है और एक असाध्य। असाध्य रोग मे ओषध का प्रभाव नही पडता। इसी प्रकार निधत्त अवस्था तक तो उपाय हा सकता है परन्तु निकाचित अवस्था मे कोई उपाय कारगर नही हाता। निकाचित कर्म ता जिस रूप म बाध हें उसी रूप मे भोगने पडेगें।

सूर्य–प्रकाश द्वारा वस्तुओ को देखते हैं। इसी प्रकार भगवान् इन्द्रिया होने पर भी इन्द्रियो से नही जानते–देखते हैं। उनकी इन्द्रियो का होना और न होना समान है। इस अपेक्षा से भगवान् को करणव्यपेत कहा है। यद्यपि अरिहत भगवान् सशरीर हैं तथापि वह शरीरासक्ति से सर्वथा रहित हैं। उनमे तनिक भी देह की ममता नही है। अतएव शरीर के प्रति मोह रहित होने से उन्हे करणव्यपेत कहा गया है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषण से विशिष्ट श्री अरिहत भगवान् को तथा सिद्ध भगवान् को जिन्होने कर्म रूपी रिपुओ को जीत लिया है, मैं प्रणाम करता हू।

यह सामान्य रूप से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति की गई है। अब टीकाकार आचार्य सन्निकट उपकारक और वर्तमान मे जिनका शासन चल रहा है उनका नाम लेकर नमस्कार करते है।

नात्वा श्री वर्द्धमानाय श्रीमते च सुधर्मणे।'

अर्थात्–श्री वर्द्धमान भगवान को मैं नमस्कार करता हू। यद्यपि इस सूत्र के मूल कर्त्ता श्री सुधर्मा स्वामी हैं लेकिन सुधर्मा स्वामी ने इसकी रचना भगवान महावीर से सुनकर की है। अतएव सुधर्मा स्वामी के श्री गुरु लोक कल्याणकारी भगवान् श्री वर्द्धमान को मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करता हू।

भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि का आश्रय लेकर श्री सुधर्मा स्वामी यदि इस सूत्र की रचना न करते तो आज हम लोगो को भगवान की वाणी का लाभ कैसे मिलता? अतएव श्री सुधर्मा स्वामी भी हमारे उपकारक हैं। इस कारण उन्हे भी नमस्कार करता हू।

हीरा और मोती होता है खान और समुद्र मे मगर यदि होशियार शिल्पकार मोती और हीरे को आभूषण रूप मे प्रस्तुत न करे तो क्या मोती या हीरा शरीर पर ठहर सकता है? नही।

अगर शिल्पकार असली हीरे या मोती को आभूषण मे न लगाकर नकली लगावे तो क्या कोई शिष्ट पुरुष उस आभूषण की कद्र करेगा? नही।

अगर सच्चे मोती कुशलता के साथ आभूषण मे लगाये गये हो तो उन्हे शरीर पर धारण करने मे सुविधा होती है और पीछे वालो को भी इस आभूषण के धारण करने मे आनन्द होता है इसी प्रकार भगवान की अनन्त ज्ञान की खान से यह श्रुत–रत्न उत्पन्न हुआ है तथापि सुधर्मा स्वामी जैसे कुशल शिल्पकार इसे आभूषण के समान सूत्र रूप मे न रचते तो ज्ञान रत्न का यह आभूषण हमे प्राप्त न होता। अगर इसमे सुधर्मास्वामी ने अपनी ओर से कुछ

है जहा व्याघात हो वहा तीन चार या पाच दिशा स आहार लेत हैं। तात्पर्य यह हे कि लोक के अन्त मे कोने के ऊपर रहा हुआ पृथ्वीकाय का जीव तीन चार या पाच दिशाओ से आहार ग्रहण करता हे। तब तीन दिशाए अलोक मे दब जाती हैं– तीन तरफ अलोक आ जाता है तब तीन दिशा से आहार लते हैं। जब दो दिशाए अलोक म दब जाती हैं तब चार दिशा का और जब एक दिशा अलोक मे दब जाती है तब पाच दिशाआ से आहार लते हैं। मतलब यह है कि जो दिशा अलोक मे दब जाती है उसका आहार नही लेते।

पृथ्वीकाय जीवा के एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय ही हाती है। उन्ह रसन्द्रिय नही है। जिसके रसन्द्रिय नही है वह उसके द्वारा आहार ग्रहण करके स्वाद लेता है मगर यह बात इनमे नही पाई जाती। इसलिए यह जीव स्पर्शनन्द्रिय से ही आहार ग्रहण करके उसका आस्वादन करते हैं। इनका यह स्पर्श भी एक प्रकार का आस्वादन हे।

पाच स्थावरो की स्थिति म अप्काय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की हे ओर उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की हे। अग्निकाय क जीवो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन दिन की है वायुकाल की उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्ष की वनस्पति काय की दस हजार वर्ष की ओर पृथ्वीकाय की बाईस हजार वर्ष की स्थिति हे। इस प्रकार इन सबकी स्थिति हे।

दो–इन्द्रिय की स्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की ओर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की हे। दो इन्द्रिय वाले जीवो को अभोगआहार की इच्छा असख्यात समय बाद होती हे। असख्यात समय कितना लेना चाहिए यह बताने के लिए अन्तर्मुहूर्त्त का असख्यात समय ग्रहण किया गया हे। द्वीन्द्रिय जीवा के आहार का कोई निश्चित समय नही हे, अतएव वह विमात्र स कहा गया हे।

इन जीवा का आभोग आहार रोम द्वारा भी होता हे जब वर्षा होती हे तव रोमो द्वारा शीत आप ही आ जाता हे। वह रोमाहार कहलाता हे।

द्वीन्द्रिय जीवो क आभाग–आहार के विषय म यह भी स्पष्ट कर दिया गया हे कि व राम द्वारा गृहीत आहार का पूर्ण रूप स खा जात हे ओर प्रक्षेपाहार का बहुत सा भाग नष्ट हा जाता हे ओर असख्यातवा भाग शरीर रूप मे परिणत हा जाता हे। इस कथन क आधार पर यह प्रश्न किया गया

यह टीका किंचित् विशेषत' अर्थात् कुछ विस्तार से लिखी है। इस प्रकार यद्यपि वह प्राचीन टीका आज देखने मे नही आती फिर भी आचार्य के कथन से उसका होना स्पष्ट रूप से सिद्ध है। आचार्य ने यहा भगवतीसूत्र की टीका का ही निर्देश नही किया है अपितु चूर्णी का भी निर्देश किया है। 'एतट्टीका–चूर्णी' इस पद मे एतत्' सर्वनाम भगवती सूत्र के लिए ही आया है, यह निसन्देह है। यह एक समस्त पद है और इससे भगवती सूत्र की टीका का तथा चूर्णी का अभिप्राय प्रकट होता है। अत जान पड़ता है कि भगवती सूत्र की यह टीका बनने से पहले टीका और चूर्णी दोनो थी। इन मे से चूर्णी तो आज भी उपलब्ध है पर टीका अभी तक उपलब्ध नही है।

टीका रचने की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् आचार्य ने इस सूत्र की प्रस्तावना लिखी है। प्रस्तावना मे वह सूत्र को कितने बहुमान से देखते हैं यह जानने योग्य है। प्रस्तावना के सक्षिप्त शब्दो मे ही उन्होने सूत्र का सार भर दिया है। प्रस्तावना वास्तव मे अत्यन्त भावपूर्ण और मनोहारिणी है।

प्रस्तावना मे उन्होने प्रस्तुत सूत्र के नाम की चर्चा की है। इस सूत्र का नाम विवाहपण्णति' या 'भगवती सूत्र' है। यह नाम क्यो है, इसकी चर्चा आगे की जायेगी।

टीकाकार ने इस पचम अग को उन्नत और विजय मे समर्थ जयकुजर हाथी के समान निरूपण किया है। जयकुजर हाथी मे ओर भगवती सूत्र मे किस धर्म की समानता है जिसे आधार बनाकर भगवती सूत्र को कुजर की उपमा दी गई है? यह स्पष्ट करते हुए आचार्य ने सुन्दर श्लेषात्मक भाषा का प्रयोग किया है। उसका ठीक–ठाक सौन्दर्य सस्कृतज्ञ ही समझ सकते हैं पर सर्वसाधारण की साधारण जानकारी के लिए उसका भाव यहा प्रकट किया जाता है।

जयकुजर अपनी ललित पदपद्धति से प्रबुद्धजनो का मनोरजन करता है अर्थात् जयकुजर हाथी की चाल सुन्दर होती है। वह इस प्रकार धीरे से पैर रखता है कि देखने मे अतीव मनोहर प्रतीत होता है। इसी प्रकार भगवती सूत्र भी अपनी ललित पद्पद्धति से अर्थात सुन्दर पदविन्यास से विज्ञजनो का मनोरजन करने वाला है। इस सूत्र की पदरचना ऐसी ललित ओर मनोहर है कि समझने वाले का चित्त उसे देखकर आनदित हो जाता है। मगर प्रबुद्धजन ही उस आनद का अनुभव कर सकते है। अज्ञ नासमझ लोगो का अगर आनद न आवे तो इसकी पद रचना मे किसी प्रकार का दोष नही है जेस अधा आदमी हाथी न देख सके तो इसमे हाथी का दोष नही हे।

जैसे सिचामन ऐरावत आदि के रक्षक देव होते हैं उसी प्रकार इस सूत्र के रक्षक अनेक देव हैं।

जैसे जयकुजर का उद्देश्य अर्थात् मस्तक सुवर्ण (सोने) मे मडित होता है इसी प्रकार सूत्र के उद्देशक सुवर्णो से अर्थात् सुन्दर अक्षरो से मडित हैं।

जयकुजर नाना प्रकार के अद्भुत चरितो वाला होता है अर्थात् अनेक चालो से शत्रु पर आक्रमण करता है अतएव वह नानाविध–अद्भुत चरितो से युक्त है इसी पकार प्रस्तुत भगवती सुत्र मे नाना प्रकार के अद्भुत चरित हैं, अर्थात् अनेकानेक चरितो का वर्णन है।

हाथी विशाल–काय होता है, इसी प्रकार यह शास्त्र भी विशालकाय है अर्थात् अन्य सभी अगो की अपेक्षा विस्तृत है। छत्तीस हजार प्रश्न और उनके उत्तर इसमे विद्यमान है। अत स्थूलता की दृष्टि से भी यह हस्ती के समान है।

हाथी चार चरण (पैर) वाला होता है तो यह सूत्र भी चार चरण (अनुयोग) वाला है। जब अन्य शास्त्रो मे प्राय एक ही अनुयोग होता है तब इसमे चारो अनुयोग अर्थात् द्रव्यानुयोग, गतितानुयोग चरणानुयोग और अर्मन्धकथानुयोग है।

हाथी के दो नेत्र होते है उसी प्रकार प्रकृत शास्त्र रूपी जयकुजर के भी ज्ञान और चरित्र रूप दो नेत्र हैं। कोई–कोई लोग सिर्फ ज्ञान को सिद्धिदाता मानते हे कोई केवल चरित्र को। मगर इस सूत्र मे दोनो को ही सिद्धिदाता माना गया है। दोनो मे से किसी भी एक के अभाव मे मुक्ति प्राप्त नही हो सकती।

हाथी के मूसल के समान दो दात होते है जिनसे वह सग्राम मे विजय लाभ करता है। इसी प्रकार इस सूत्र मे द्रव्यास्तिकनय और पर्यायास्तिकनय रूपी दो सुदृढ दत है जिनके द्वारा प्रतिपक्षियो के समक्ष वह विजयशील है। द्रव्यास्तिकनय और पर्यायास्तिकनय अनेकान्तवाद के मूलाधार हैं और अनेकान्तवाद अजेय है।

जैसे हाथी के दो कुभस्थल होते हैं वैसे ही इस सूत्र के निश्चयनय और व्यवहारनय रूपी दो कुभस्थल है। हाथी के दो कान होते हैं इसी प्रकार सूत्र रूपी कुजर के योग और क्षेम रूपी दो कान हैं। (अप्राप्त वस्तु को प्राप्त होना योग कहलाता है और प्राप्त वस्तु की रक्षा होना क्षेम हैं)।

भगवती सूत्र की प्रस्तावना की वचनरचना जयकुजर की सूड के समान है और समाप्ति–वचन पूछ के समान हे। काल आत्मरूप सबध

चय और परिमिणमन के काल मे बहुत अन्तर है। पहले परिणमन होता है उसके बाद चय होता है। इसलिए चय और परिणमन दोनो पृथक–पृथक हैं।

ज्ञानी महापुरुषो ने भूतकाल का वर्णन किया है इससे उनकी त्रिकालज्ञता सिद्ध होती है। साथ ही नरक–लोक के प्राणियो के आहार के विषय मे हमे जानकारी होती है। वर्तमान काल मे जो जीव नरक मे हैं और आगे नरक मे जाएगे, उनको कैसा आहार करना पडता है या करना पडेगा यह भी हमे विदित हो जाता है।

तीसरे भग से यह भी प्रकट हो जाता है कि भूतकाल मे तो यह आहार नही किया मगर भविष्य मे करेगे। उस समय होगे वे भी करेगे और नरक मे जाएगे वे भी करेगे। इस कथन से नरक का शाश्वतपन सिद्ध किया गया है।

न भूत मे आहार किया है, न भविष्य मे आहार करेगे, यह कथन अव्यवहारराशि को सूचित करता है, क्योंकि अव्यवहारराशि के जीव उस राशि से न कभी निकले हैं न निकलेगे।

चय के पश्चात् उपचय का कथन है। जो चय किया गया है उसमे और–ओर पुद्गल इकट्ठे कर देना उपचय कहलाता है। जैसे ईंट पर ईंट चुनी गई यह सामान्य चुनाई कहलाई और फिर उस पर मिट्टी या चूना आदि का लेप किया गया, यह विशेष चुनाई हुई। इसी प्रकार सामान्य रूप से शरीर का पुष्ट होना चय कहलाता है और विशेष रूप से पुष्ट होना उपचय कहलाता है।

कर्म–पुद्गलों का स्वाभाविक रूप से उदय मे न आकर करण विशेष के द्वारा उदय मे आना उदीरणा कहलाता हे। प्रयोग के द्वारा कर्म का उदय मे आना उदीरणा है, इस प्रकार की 'कर्म–प्रकृति' की साक्षी भी यहा दी गई हे।

कर्म के फल को भोगना वेदना हे। जिस समय से कर्म–फल का भोग आरम्भ होता है और जिस समय तक भोगना जारी रहता हे वह सब काल वेदना का काल कहलाता है।

एक देश मे कर्मो का क्षय होना निर्जरा हे। जिस कर्म का फल भोग लिया जाता हे वह कर्म क्षीण हो जाता है। उसका क्षीण हो जाना निर्जरा हे।

चय उपचय उदीरणा वेदना ओर निर्जरा इन सब के विषय मे परिणमन के समान ही वक्तव्यता हे। वेसे ही प्रश्न वेसे ही उत्तर वैसे ही भग समझने चाहिए। सिर्फ परिणत के स्थान पर चित उपचित उदीरत आदि शब्दा का प्रयाग करना चाहिए।

नायक–सघ का आचार्य इसे सुशोभित करता है और मुनि रूपी योद्धा उसके पीछे–पीछे चलते हैं। जो कायर हैं ससार के प्रपच मे पड़े हैं, वे इसकी रक्षा नही कर सकते। मुनि रूपी योद्धा उसके स्वरूप को भली–भाति जान सके, इस उद्देश्य से पूर्वाचार्यो ने अनेक प्रकार की व्याख्याए रची हैं। प्रश्न होता है कि जब पूवाचार्यो द्वारा विरचित व्याख्याए विद्यमान हैं तो आपको नवीन व्याख्या करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि वे अनेक श्रेष्ठ गुणो से युक्त हैं फिर भी बहुत बुद्धिशाली पुरुष ही उन्हे समझ सकते हैं क्योकि वे सक्षिप्त हैं। उनसे अल्प बुद्धि वाले जिज्ञासुओं को विशिष्ट लाभ पहुचना सभव नही है अत मैं प्राचीन टीका और चूर्णी रूपी नाडिका का सार लेकर एक नयी नाडिका तैयार करता हू। जैसे कमजोर नेत्रो वाला पुरुष ऐनक का आश्रय लेकर देखता है, उसी प्रकार मैं प्राचीन टीका चूर्णी और जीवाभिगम आदि से विवरणो का सार लेकर नवीन विस्तृत और इसीलिए मद–बुद्धि शिष्यो के लिए उपकारक यह यत्र–घटिका निर्माण करता हू।

तात्पर्य यह है कि–इस सूत्र की व्याख्याए प्राचीनकाल के महान आचार्यो ने की है वे सक्षिप्त और गभीर होने के कारण विशेष बुद्धिसम्पन्न पुरुषो का उपकार करने मे समर्थ हैं। थोड़ी बुद्धि वाले उन्हें नहीं समझ सकते अतएव मै जयकुजर नायक भगवान महावीर की आज्ञा लेकर, गुरुजनो की आज्ञा पाकर इस टीका का आरभ करता हू। मैं अपने गुरुजनो से अधिक कुशल नही हू, न उनसे अधिक कौशल प्रदर्शित कर सकता हू लेकिन शिल्पी के कुल मे शिल्पी ही जन्म लेता है। जैसे शिल्पकार पिता का कार्य देखते–देखते पुत्र भी शिल्पकार बन जाता है, इसी प्रकार मेरे पूर्वाचार्य गुरु सूत्र–रचना मे कुशल कारीगर हुए हैं। उन्ही के कुल मे मैने जन्म–धारण किया है अत मै टीका प्रारभ करना चाहता हू। प्रकृत रचना उनके लिए नही है जो मुझसे अधिक बुद्धि और ज्ञान के धनी है बल्कि उनके लिए है जो मुझसे न्यून मति वाले है।

उन्हे 'व्याख्या' कहते हैं और उनका जहा निरूपण किया गया है वह 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र कहलाता है।

अथवा–अर्थ का प्रतिपादन 'व्याख्या' कही जाती है। उस व्याख्या का अर्थात् पदार्थ के प्ररूपण का जिसमे प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) ज्ञान दिया गया है वह व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र है।

तात्पर्य यह है कि व्याख्या का अर्थ है–पदार्थ का कथन और प्रज्ञप्ति का अर्थ है–बोध। अर्थात् जहा पदार्थ के कथन का बोध कराया गया है, वह व्याख्या प्रज्ञप्ति है।

अथवा जिस शास्त्र का विधिपूर्वक अध्ययन करने से नाना प्रकार की व्याख्या फैल जावे या व्याख्यान करने की शक्ति आ जाये, वह शास्त्र व्याख्या प्रज्ञप्ति कहलाता है।

अथवा व्याख्या करने मे अत्यन्त प्राज्ञ–कुशल भगवान् महावीर से जिसकी प्रज्ञप्ति हुई है–बोध हुआ है वह सूत्र विआहपण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) कहलाता है।

अथवा–विवाह अर्थात् विविध प्रकार या विशिष्ट प्रकार अर्थो का प्रवाह नयो का प्रवाह जिस शास्त्र मे प्ररूपण किया गया है वह 'विवाहपण्णत्ति' सूत्र है। तात्पर्य यह है कि भगवती सूत्र मे कही अर्थो का प्रवाह चलता हे कही नयो का प्रवाह चलता है। नयो की थोडी व्याख्या मे ही 700 न हो जाते है और आचार्यो ने अनन्त नयो का अस्तित्व माना है। इस नयप्रवाह की व्याख्या जिस सूत्र मे हो उसका नाम विवाहपन्नति है।

अथवा– विवाह शब्द का अर्थ होता है विस्तारमय अथवा बाधारहित–विवाध। इस प्रकार की प्रज्ञा की जिस शास्त्र से प्राप्ति होती है वह विवाहपण्णत्ति है। अर्थात् भगवतीसूत्र का अध्ययन चिन्तन मनन करने से विस्तृत बोध प्राप्त होता है और विवाध–निर्दोष बोध की प्राप्ति होती है उसे भी विवाहपण्णत्ति (विवाहप्रज्ञप्ति) कहते है।

अथवा–विवाध या विवाह अर्थात् बाधा रहित जो प्रज्ञप्ति है वह विवाह प्रज्ञप्ति या विवाध प्रज्ञप्ति है। तात्पर्य यह है कि जिस शास्त्र मे की गई अर्थ–प्ररूपणा मे किसी प्रकार की बाधा न आ सके वह शास्त्र विवाहप्रज्ञप्ति या विवाधप्रज्ञप्ति कहलाता है।

टीकाकार ने थोडा–थोडा रूपान्तर करके 'विआहपण्णति' सूत्र के दस नाम गिनाये है। अन्त मे कहा है कि इसका जगत प्रसिद्ध नाम 'भगवतीसूत्र' है। यह नाम इस सूत्र की महत्ता–पूज्यता–का द्योतक है। या सामान्य रूप

से सभी शास्त्र पूज्य हैं लेकिन प्रकृतशास्त्र मे विशेषता है, अतएव यह आदरणीय है और इसी कारण इस शास्त्र को 'भगवतीसूत्र' कहते हैं।

आज यह शास्त्र 'भगवती' नाम से जितना प्रसिद्ध है उतना और किसी नाम से नही। इस सूत्र को यह नाम आचार्यो ने दिया हे।

मगल

टीकाकार ने सूत्र के नामो का निर्देश और उनकी सामान्य व्याख्या करने के पश्चात शास्त्र की आदि मे वर्णन किये जाने वाले फल योग मगल और समुदायार्थ आदि–आदि द्वारो का उल्लेख किया है। प्रत्येक शास्त्रकार शास्त्र के आरम म उसका फल बतलाते हैं योग अर्थात सवध प्रकट करते हैं, मगलाचरण करते हैं और समुदायार्थ को अर्थात उस शास्त्र मे निरूपण किये जाने वाले विषय का सामान्य रूप से उल्लेख करते हैं। फल, योग, मगल और समुदायार्थ का विवेचन विशेषावश्यक भाष्य मे किया गया है वहा से इन सब का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

शास्त्रकार विघ्नों को दूर करने के लिए शिष्यो की प्रवृत्ति के लिए और शिष्ट जनो की परम्परा का पालन करने के लिए मगलाचरण अभिधेय प्रयोजन और सवध का निर्देश यहा करते हैं।

शास्त्र रचना और शास्त्र पठन–पाठन मे अनेक विघ्न आ जाते हैं। उन विघ्नों का उपशमन करने के लिए शास्त्र की आदि मे मगलाचरण किया जाता है। इस कथन में प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस शास्त्र की आदि मे मगलाचरण करते हें तो क्या यह शास्त्र स्वय ही मगल रूप नहीं है? प्रकृत शास्त्र यदि मगलमय है तो अलग मगल करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि शास्त्र यद्यपि मगल रूप ही हे तथापि शिष्यो के मन मे यह भावना उत्पन्न हो जाये कि हमने मगलाचरण कर लिया है तो क्षयोपशम अच्छा होता है। इसके अतिरिक्त गणधरो ने भी सूत्र रचना के आरम मे मगल किया है। जब गणधर जैसे विशिष्ट ज्ञान वाले महात्मा भी मगल करते हैं तो उनकी परम्परा का पालन करने के लिए हमे भी मगल करना चाहिए क्योंकि–

महाजनो येन गत स पन्था ।

अर्थात–महापुरुषो ने जो कार्य किये हैं वे सोच–विचार कर ही किये हैं। उनके कार्यो के विषय मे तर्क–वितर्क न करके उनका अनुकरण करना ही श्रयस्कर है।

मगल क पश्चात अभिधेय कहना चाहिए। शास्त्र मे जिस विषय का प्रतिपादन किया गया हा उसका उल्लेख करना चाहिए। यहा अभिदेय

कार्य मगल रूप हैं भी परन्तु शास्त्र की दृष्टि मे वे कार्य एकान्त रूप से मगल नही हैं क्योकि इन कार्यो से एक पक्ष को अगर लाम पहुचता है तो दूसरे पक्ष को हानि भी पहुचती है।

एक भाई ने सोचा—मैं किसी महात्मा की शरण लेकर लखपति बन जाऊ। ऐसा सोच कर वह महात्मा के शरण मे गया। महात्मा ने मगल देकर कहा—जा इससे एक लाख रुपया कमा लेना। देखना चाहिए यह कैसा मगल हुआ? वास्तव मे महात्मा पुरुष किसी को लखपति बनाने के लिए मगल नहीं देते। क्योकि एक लाख रुपया कमाकर जब एक पुरुष लखपति बनेगा तो दूसरे के पास से उतना रुपया कम हो जायेगा। एक का कमाना दूसरे का गवाना हे। ऐसी स्थिति में कमाने वाले का मगल हुआ तो गवाने वाले का अमगल हुआ। प्रत्येक का मगल चाहने वाला महात्मा ऐसा नहीं कर सकता। वह ता एकान्त मगल कारक ही होता है।

कहा जा सकता है कि अगर कोई व्यक्ति सग्राम के लिए या व्यापार के लिए जाता हो तो उसे मगलपाठ (मागलिक) सुनाना चाहिए या नही ? इसका उत्तर यह हे कि जब कभी भी कोई आराधक मागलिक सुनने के लिए साधु की सेवा मे उपस्थित हो तो उसे मागलिक अवश्य सुनाना चाहिए। फिर भी पूर्वोक्त कथन मे ओर इस कथन मे विरोध नहीं हे।

व्यापार के निमित्त जाने वाले को साधु मागलिक सुनाते हैं सो इसलिए कि व्यापार के लिए जाने वाला द्रव्य—धन के प्रलोभन मे भावधन को न भूल जावे। ससार मे अनुरक्त गृहस्थ सासारिक भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थो के उपार्जन ओर सरक्षण मे कभी—कभी इतना व्यस्त हो जाता है कि वह आत्म—कल्याण के सच्चे साधनो को भूल जाता हे। उसे भोगोपभोग के साधन ही मगलकारक, शरणभूत ओर उत्तम प्रतीत होते हें। ऐसे लोगा पर अनुग्रह करक उन्ह वास्तविकता का भान कराना साधुओ का कर्तव्य हे। अतएव साधु मागलिक श्रवण कराकर उसे सावधान करते हें कि हे भद्र पुरुप! तू इतना याद रखना कि ससार मे चार महामगल हें—अरिहत सिद्ध साधु ओर सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म। ससार म चार सर्व श्रेष्ठ पद हें— अरिहत सिद्ध साधु ओर दयामय धर्म। अतएव तू अपने मन मे सकल्प कर कि में अरिहत की शरण ग्रहण करता हू, मैं सिद्ध की शरण ग्रहण करता हू, में सन्त पुरुपा की शरण ग्रहण करता हू, में सर्वज्ञ के धर्म की शरण ग्रहण करता हू।

उपर्युक्त महामगल पाठ प्रत्येक अवस्था मे सुनाने योग्य हे। अगर कोई पुरुष किसी शुभ कार्य क लिए जाते समय मगल श्रवण करना चाहे तब ता

कोई बात नही, अगर कोई अशुभ कार्य के लिए जाते समय भी मगल पाठ श्रवण करना चाहे तो उसे भी साधु यह पाठ सुनाने से इकार नही करेगे। मगल–पाठ एक ऐसी लोकोत्तर भाव–औषध है जो निरोग को भी लाभ पहुचाती है और रोगी को भी विशेष लाभ पहुचाती है। अतएव प्रत्येक पुरुष उसका पात्र है बल्कि रोगी और अधिक उपयुक्त पात्र है। भला, देव, गुरु और धर्म का स्मरण करना अनुचित कैसे कहा जा सकता है?

जिसका जो अधिकार है वह उतना ही कर सकता है। साधुगण द्रव्य से उन्मुक्त हो चुके हैं। वे भाव के आराधक हैं। इस दशा मे वे भाव मगल ही कर सकते है। अतएव व्यापार के निमित्त जाने वाले को मागलिक सुनाकर वे कहते है कि द्रव्य मगल के सामने भाव मगल को मत विसर जाना इसी प्रकार सग्राम मे जूझने के लिए जाने वाले को सावधान करते हैं कि देखना सग्राम मे भी धर्म को मत भूलना।

यह भाव मगल नौका के समान है। जिसकी इच्छा हो नौका पर आरूढ हो जो आरूढ होगा उसे वह पार लगा देगी। भाव मगल के विधान मे भी यह बात है। इसे सुनकर न्यायोचित व्यापार करने वाला अपने धर्म पर स्थिर रहेगा और अन्याय करेगा तो अधर्म की सरिता मे डूबेगा।

साधु विवाह के अवसर पर भी मागलिक सुनाते है। वह इसलिए कि सुनने वालो को यह ज्ञान हो जाये कि विवाह बधन के लिए नही है। विवाह गृहस्थी मे रहने वालो को पारस्परिक धर्म–सबधी सहायता आदान–प्रदान करने के लिए होता है धर्म का ध्वस करने के लिए नही बधनो की परम्परा बढाने के लिए भी नही। इस प्रकार साधु भाव मगल सुनाते हैं जो सब के लिए सदा काल सब प्रकार से सम्पूर्ण कल्याण का कारण है जिसमे अकल्याण का कण मात्र भी नही होता।

विवाह के पश्चात् स्त्री और पुरुष के मिल कर चार पैर और चार हाथ हो जाते है। चार पैर वाला चौपाया होता है और चार हाथ वाला देवता होता है। साधु विवाह के अवसर पर मागलिक सुना कर यह शिक्षा देता है कि विवाह करके चौपाया पशु मत बनना मगर चतुर्भुज देवता बनना।

साराश यह है कि साधु भाव मगल सुनाते है द्रव्य मगल नही। जिस मगल से एक को लाभ या सुख हो और दूसरे को हानि या दुख हो वह द्रव्य मगल है। द्रव्य मगल के द्वारा होने वाला एक का लाभ या सुख भी निखालिस नही होता। उसमे हानि एव दुख का सम्मिश्रण होता है। इसके अतिरिक्त द्रव्यमगल अल्पकालीन होता है और उसकी मागलिकता की मात्रा भी अधिक

कार्य मगल रूप हैं भी, परन्तु शास्त्र की दृष्टि में वे कार्य एकान्त रूप से मगल नहीं हैं क्योकि इन कार्यो से एक पक्ष को अगर लाभ पहुचता है तो दूसरे पक्ष को हानि भी पहुचती है।

एक भाई ने सोचा—मैं किसी महात्मा की शरण लेकर लखपति बन जाऊ। ऐसा सोच कर वह महात्मा के शरण मे गया। महात्मा ने मगल देकर कहा—जा, इससे एक लाख रुपया कमा लेना। देखना चाहिए यह कैसा मगल हुआ? वास्तव मे महात्मा पुरुष किसी को लखपति बनाने के लिए मगल नहीं देते। क्योकि एक लाख रुपया कमाकर जब एक पुरुष लखपति बनेगा तो दूसरे के पास से उतना रुपया कम हो जायेगा। एक का कमाना दूसरे का गवाना है। ऐसी स्थिति में कमाने वाले का मगल हुआ तो गवाने वाले का अमगल हुआ। प्रत्येक का मगल चाहने वाला महात्मा ऐसा नही कर सकता। वह तो एकान्त मगल कारक ही होता है।

कहा जा सकता है कि अगर कोई व्यक्ति सग्राम के लिए या व्यापार के लिए जाता हो तो उसे मगलपाठ (मागलिक) सुनाना चाहिए या नही ? इसका उत्तर यह है कि जब कभी भी कोई आराधक मागलिक सुनने के लिए साधु की सेवा मे उपस्थित हो तो उसे मागलिक अवश्य सुनाना चाहिए। फिर भी पूर्वोक्त कथन मे ओर इस कथन मे विरोध नहीं है।

व्यापार के निमित्त जाने वाले को साधु मागलिक सुनाते हें सो इसलिए कि व्यापार के लिए जाने वाला द्रव्य—धन के प्रलोभन मे भावधन को न भूल जावे। ससार म अनुरक्त गृहस्थ सासारिक भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थो के उपार्जन ओर सरक्षण मे कभी—कभी इतना व्यस्त हो जाता है कि वह आत्म—कल्याण के सच्चे साधनो को भूल जाता है। उसे भोगोपभोग के साधन ही मगलकारक, शरणभूत ओर उत्तम प्रतीत होते हें। ऐसे लोगा पर अनुग्रह करके उन्ह वास्तविकता का भान कराना साधुओ का कर्त्तव्य हे। अतएव साधु मागलिक श्रवण कराकर उसे सावधान करते हें कि हे भद्र पुरुष! तू इतना याद रखना कि ससार म चार महामगल हें—अरिहत सिद्ध साधु ओर सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म। ससार मे चार सर्व श्रेष्ठ पद हें— अरिहत सिद्ध साधु और दयामय धर्म। अतएव तू अपने मन मे सकल्प कर कि में अरिहत की शरण ग्रहण करता हू, मैं सिद्ध की शरण ग्रहण करता हू, में सन्त पुरुषा की शरण ग्रहण करता हू, में सर्वज्ञ के धर्म की शरण ग्रहण करता हू।

उपर्युक्त महामगल पाठ प्रत्येक अवस्था मे सुनाने योग्य हे। अगर कोई पुरुष किसी शुभ कार्य क लिए जाते समय मगल श्रवण करना चाह तव तो

कोई बात नही अगर कोई अशुभ कार्य के लिए जाते समय भी मगल पाठ श्रवण करना चाहे तो उसे भी साधु यह पाठ सुनाने से इकार नही करेगे। मगल–पाठ एक ऐसी लोकोत्तर भाव–औषध है जो निरोग को भी लाभ पहुचाती है और रोगी को भी विशेष लाभ पहुचाती है। अतएव प्रत्येक पुरुष उसका पात्र है बल्कि रोगी और अधिक उपयुक्त पात्र है। भला, देव, गुरु और धर्म का स्मरण करना अनुचित कैसे कहा जा सकता है?

जिसका जो अधिकार है वह उतना ही कर सकता है। साधुगण द्रव्य से उन्मुक्त हो चुके हैं। वे भाव के आराधक हैं। इस दशा मे वे भाव मगल ही कर सकते है। अतएव व्यापार के निमित्त जाने वाले को मागलिक सुनाकर वे कहते है कि द्रव्य मगल के सामने भाव मगल को मत विसर जाना इसी प्रकार सग्राम मे जूझने के लिए जाने वाले को सावधान करते हैं कि देखना, सग्राम मे भी धर्म को मत भूलना।

यह भाव मगल नौका के समान है। जिसकी इच्छा हो नौका पर आरूढ हो जो आरूढ होगा उसे वह पार लगा देगी। भाव मगल के विधान मे भी यह बात है। इसे सुनकर न्यायोचित व्यापार करने वाला अपने धर्म पर स्थिर रहेगा और अन्याय करेगा तो अधर्म की सरिता मे डूबेगा।

साधु विवाह के अवसर पर भी मागलिक सुनाते हैं। वह इसलिए कि सुनने वालो को यह ज्ञान हो जाये कि विवाह बधन के लिए नही है। विवाह गृहस्थी मे रहने वालो को पारस्परिक धर्म–सबधी सहायता आदान–प्रदान करने के लिए होता है धर्म का ध्वस करने के लिए नही बधनो की परम्परा बढाने के लिए भी नही। इस प्रकार साधु भाव मगल सुनाते हैं जो सब के लिए सदा काल सब प्रकार से सम्पूर्ण कल्याण का कारण है जिसमे अकल्याण का कण मात्र भी नही होता।

विवाह के पश्चात स्त्री और पुरुष के मिल कर चार पैर और चार हाथ हो जाते हैं। चार पैर वाला चौपाया होता है और चार हाथ वाला देवता होता है। साधु विवाह के अवसर पर मागलिक सुना कर यह शिक्षा देता है कि विवाह करके चौपाया पशु मत बनना मगर चतुर्भुज देवता बनना।

साराश यह है कि साधु भाव मगल सुनाते हैं द्रव्य मगल नही। जिस मगल से एक को लाभ या सुख हो और दूसरे को हानि या दुख हो वह द्रव्य मगल है। द्रव्य मगल के द्वारा होने वाला एक का लाभ या सुख भी निखालिस नही होता। उसमे हानि एव दुख का सम्मिश्रण होता है। इसके अतिरिक्त द्रव्यमगल अल्पकालीन होता है और उसकी मागलिकता की मात्रा भी अधिक

नही होती। सच्चा मगल वह हे जिसमे अमगल को लेशमात्र भी अवकाश न हो ओर जिस मगल के पश्चात् अमगल प्रकट न होता हो और साथ ही जिससे सब का समान रूप से कल्याण–साधन हो सकता हो जिसके निमित्त से किसी को हानि या दु ख न पहुचे। ऐसा सच्चा मगल भाव मगल ही है। अतएव यहा शास्त्र की आदि मे भावमगल ही उपादेय है।

भावमगल के स्तुति मगल, नमस्कार मगल आदि अनेक प्रकार हैं। ज्ञान मगल दर्शन मगल चरित्र मगल और तम मगल भी भाव मगल के ही भेद हैं। इन अनेक विध भाव मगलो मे से यहा शास्त्र के आरम मे पच परमेष्ठी भगवान् को नमस्कार रूप भावमगल किया गया है। क्योकि भाव मगल के अन्तर्गत आये हुए दूसरे मगलो की अपेक्षा पच परमेष्ठी–नमस्कार मगल में दो विशेषताए हैं–प्रथम यह है कि यह नमस्कार मगल लोक में उत्तम है और दूसरी यह कि देवराज इन्द्र भी इसका शरण लेता है।

एसो पच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि, पढम हवइ मगलं।।

यह शास्त्र वाक्य है। अरिहत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु व पच परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार समस्त पापो का नाश करने वाला है। पाप ही विघ्न या विघ्न के कारण हैं। पाप का नाश होने पर विघ्न नही रहते। यह नमस्कार मगल अन्य सब मगलो से प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ है।

समस्त शास्त्रों को नमस्कार मत्र जप कर पढा जाये तो विघ्नो का नाश हो जाता है। इसी कारण शास्त्र के आरम मे नमस्कार मत्र द्वारा मगलाचरण किया गया हे।

नमस्कार मत्र (णमोकार मत्र) का वर्णन किस शास्त्र मे आया है? यह मत्र मूलत कहा से आया हे? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि णमोकार मत्र सभी शास्त्रो में ओत प्रोत है। सभी शास्त्रो मे किसी न किसी रूप मे इस मत्र का अस्तित्व विद्यमान है। यह चौदह पूर्वो का सार माना जाता हे। भले अक्षरश यह मत्र किसी शास्त्र मे न पाया जाये, मगर प्रत्येक शास्त्र के पठन मे सर्वप्रथम यह मत्र पढा जाता है। तदनुसार यहा भी शास्त्र की आदि मे पचपरमष्ठी नमस्कार मत्र का उल्लेख किया गया हे। वह इस प्रकार है–

णमो अरिहताण णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण।
णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूण।।

अर्थात्–अरिहत भगवान् को नमस्कार हा सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो आचार्य महाराज को नमस्कार हो उपाध्याय महाराज का नमस्कार हो लोक के सब साधुआ को नमस्कार हो।

मगलाचरण का विवरण

णमो अरिहताण का विवेचन

इस शास्त्र के प्रथम मगलाचरण के रूप मे जो नमस्कार मत्र दिया गया है उस पर कुछ विस्तार से विवेचन करना उपयोगी प्रतीत होता है। यह मत्र सर्वसाधारण जैन जनता मे अत्यन्त प्रसिद्ध है। शायद ही कोई जैन ऐसा होगा जो दिन–रात मे एक बार भी इस मत्र का जाप न करता हो। जैन ध र्म के अनुयायी सभी सम्प्रदाय समान भाव से इस पवित्र मत्र का श्रद्धा–भक्ति के साथ स्मरण करते हैं। अतएव स्पष्टतापूर्वक इस मत्र का भाव समझाना आवश्यक है।

'णमो अरिहताण' यह एक वाक्य है। इस वाक्य मे दो पद हैं

(1) 'णमो' और (2) अरिहताण'।

शास्त्रकारो ने पाच प्रकार के शब्द बतलाये हैं–

(1) नाम शब्द (2) निपात शब्द (3) आख्यात शब्द (4) उपसर्ग शब्द (5) मिश्र शब्द। इन पाचो प्रकार के शब्दो के उदाहरण इस प्रकार हैं–

(1) नाम शब्द–यथा–घोडा हाथी आदि।

(2) निपात शब्द–खलु, मिल आदि।

(3) आख्यात शब्द–भवति घावति आदि क्रिया शब्द।

(4) उपसर्ग शब्द–प्र परा अभि आदि ।

(5) मिश्र शब्द–सम्राट, सयत आदि।

इन पाच प्रकार के शब्दो मे से 'नम (णमो) निपात शब्द है। अर्थात् इस शब्द मे न कोई विभक्ति लगी है न प्रत्यय ही यह किसी धातु से निष्पन्न नही हुआ है। यह स्वत सिद्ध रूप है।

नम पद का अर्थ है–द्रव्य एव भाव से सकोच करना। यहा नम का यही अर्थ –द्रव्य–भाव से सकोच करना लिया गया है। अर्थात द्रव्य से हाथ पैर और मस्तक रूप पाचो अगो को सकोच कर नमस्कार करता हू ओर भाव से आत्मा को अप्रशस्त परिणति से पृथक करके अरिहत भगवान् के गुणो मे लीन करता हू।

यह नम शब्द का अर्थ हुआ। अब अरिहताण पद का अर्थ क्या है यह देखना चाहिए। भिन्न–भिन्न अर्थ प्रकट करने वाले अरिहत शब्द के अनेक रूपान्तर होते है। यथा–अर्हन्त अरहोन्तर अरथान्त अरहन्त अरहयत अरिहन्त अरुहन्त आदि। इन रूपान्तरो मे अर्थ का जो भेद है वह आगे यथास्थान प्रकट किया जायगा।

अर्हन्त शब्द अर्ह—पूजाया धातु से बना है। अतएव अर्हन्त शब्द का अर्थ है—पूजनीय पूज्य या पूजा करने योग्य। इस प्रकार णमो अरहताण—नमोऽर्हद्भ्य का अर्थ हुआ जो पूजनीय है उन्हे नमस्कार करता हू।

यहा यह आशका की जा सकती है कि लोक मे पूज्य मानने के विषय मे कोई निश्चित्त नियम नही है। पुत्र के लिए पिता पूज्य माना जाता है माता पूज्य मानी जाती है अन्य गुरुजन पूज्य माने जाते हैं। अगर पूज्य को ही अर्हन्त कहा जाये तो क्या माता—पिता आदि भी अर्हन्त हैं? इसका उत्तर यह दिया गया है कि यहा इस प्रकार की साधारण लोक—रूढ पूज्यता नहीं समझनी चाहिए। लोक रूढी का कोई नियम नही है। लोक के अनेक पुरुष कुत्ते को भी पूज्य मान लेते हैं। अर्हन्त वह पूज्य पुरुष है जो लोक मे पूज्य माने जाने वाले इन्द्र के द्वारा भी पूजनीय है। अष्ट महाप्रातिहार्यो की रचना होने पर देवो का प्रधान इन्द्र भी जिनकी पूजा करता है। ऐसी दिव्य महापूजा के योग्य महाभाग अर्हन्त ही है। अन्य नही।

शास्त्र कहते हैं कि जो वन्दना—नमस्कार के योग्य हो उसे अर्हन्त कहते हें। जिसके समस्त स्वाभाविक—गुण प्रकट हो गये हो, जो देवो द्वारा भी पूज्य हो, लोकोत्तर गति मे जाने के योग्य हो वह अर्हन्त हैं।

अथवा—'रह' का अर्थ है गुप्त वस्तु—छिपी हुई बाते। जिनसे कोई बात छिपी नही है। सर्वज्ञ होने के कारण जो समस्त पदार्थो को हथेली की भाति स्पष्ट रूप जानते—देखते हैं, वह अरहोन्तर कहलाते हैं। उन्हे मैं द्रव्य—भाव से नमस्कार करता हू।

अथवा—अरहत' पद का सस्कृत भाषा मे अरथान्त ऐसा रूप बनता है। रथ लोक मे प्रसिद्ध है। यहा 'रथ' शब्द समस्त प्रकार के परिग्रह का उपलक्षण है। अर्थात् रथ शब्द से परिग्रह मात्र का अर्थ समझना चाहिए। अन्त शब्द विनाश वाचक है। इस प्रकार अरथान्त का अर्थ हुआ समस्त प्रकार के परिग्रह से और विनाश से जो अतीत हो चुके हैं। अत अरहताण' अर्थात् अरथान्तेभ्य' परिग्रह और मृत्यु से रहित भगवान् को नम नमस्कार हो।

अथवा—अरहन्त' का एक रूपान्तर अरहयत् भी होता हे। इसका अर्थ इस प्रकार है—तीव्र राग के कारण भूत मनोहर विषया का ससर्ग होने पर—अष्ट महाप्रातिहार्य आदि सम्पदा के विद्यमान होने पर भी जो परम वीतराग होने के कारण किचित् मात्र भी राग को प्राप्त नही होते उन्हे नमस्कार हो।

अरहन्त पद का एक रूपान्तर अरिहन्त है। अरि का अर्थ है। उनका जिन्होने नाश कर दिया हो वह अरिहन्त कहलाते है। आत्मा के असली शत्रु आत्मिक महापुरुष विशिष्ट साधन के द्वारा उन कर्मो का नाश कर डालते हैं उन्हे अरिहन्त कहते है। उन्हे मेरा नमस्कार हो। कहा भी है–

अट्ठविह पिय कम्म, अरिभूअ होइ सव्वाजीवाण।
त कम्ममरि हता, अरिहता तेण वुच्चति।।

अर्थात् आठ प्रकार के कर्म ससार के समस्त जीवो के अरि (शत्रु) हैं। जो उन कर्म–शत्रुओ का नाश कर देता है वही अरिहन्त कहलाता है।

जो जिसकी स्वतत्रता का अपहरण करके उसे अपने अधीन बना लेता है और उसको इच्छा के अनुसार काम नही करने देता वरन् विवश करके जो अपनी इच्छाए उस पर लादता है वह उसका शत्रु कहलाता है। शत्रु अपनी शक्ति से काम कराता है। जिसे काम करना है उसकी अपनी शक्ति लुप्त–हो जाती है। व्यवहार मे देखा जाता है कि शत्रु इच्छानुसार कार्य नही करने देता और अनिच्छनीय कार्यो के लिए विवश करता है।

बाह्य वैरियो के समान आन्तरिक वैरी कर्म है। आत्मा की उस ज्ञान शक्ति को जिसके द्वारा ससार के समस्त पदार्थ जाने जाते हैं जो कर्म हरण करता है उसे ज्ञानावरण कर्म कहते है। ज्ञानावरण कर्म ने आत्मा की उस ज्ञान शक्ति को दबा दिया है। जिस प्रकार बादलो के कारण सूर्य का स्वाभाविक प्रकाश रुक जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म ने आत्मा की सब कुछ जान सकने वाली ज्ञान शक्ति को रोक रखा है। तात्पर्य यह है कि आत्मा–स्वभाव से अनन्त ज्ञानशाली है। जगत् का कोई भी पदार्थ ऐसा नही है जो आत्मा की ज्ञान शक्ति द्वारा जानने योग्य न हो मगर–ज्ञानावरण कर्म ने उस शक्ति को दबा कर क्षुद्र और सीमित कर दिया है उसके स्वाभाविक परिणमन को विकृत कर दिया है।

इसी प्रकार दर्शन की शक्ति को–देखने के सामर्थ्य को रोकने वाला सीमित कर देने वाला कर्म दर्शनावरण कहलाता है।

आत्मा स्वाभावत परमानन्दमय है। अनन्त सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है लेकिन आत्मा के इस परम सुखमय स्वभाव को वेदनीय कर्म ने दबा रक्खा है। इस कर्म के कारण आत्मा दुःख रूप वैषयिक सुख मे ही सच्चे सुख की कल्पना करता है। इसी कर्म के निमित्त से आत्मा नाना प्रकार के कष्टो का अनुभव करती है।

हम अविनाशी हैं और अनेक अनुपम गुणो के आगर हैं, इस तथ्य की प्रतीति मोहनीय कर्म ने रोक दी है। मोहनीय कर्म के प्रभाव से हम दैहिक सुख को आत्मिक सुख और दैहिक दु ख को आत्मिक दु ख मान रहे है। इस पकार मोहनीय कर्म उल्टी प्रतीति कराता है, जिससे आत्मा वास्तविक बात को भूलकर अवास्तविक बात को मान रहा है।

आत्मा अजर, अमर अविनाशी है। जन्म–मरण उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते। मगर आयुकर्म के प्रभाव से उसे जन्म–मरण करने पडते हैं। जैसे कोई पुरुष अपने किराये के मकान को छोडना नही चाहता, फिर भी किराये का पैसा पास में न होने से मकान छोडना पडता है, इसी प्रकार आत्मा जन्म–मरण के स्वभाव वाला न होने पर भी आयु कर्म की प्रेरणा से विवश होकर जन्म–मरण करता है।

आत्मा का चैतन्य नाम–रूप है। इसका नाम अनन्त भी है किन्तु नाम कर्म आत्मा के इस नाम को छुडाकर नीच नाम–जैसे झाड पशु आदि को प्राप्त करवाता है। आत्मा चैतन्य नामवाला एव निर्विकार है। इसके झाड कीडा आदि नाम नामकर्म के प्रभाव से उसी प्रकार हुए हैं जैसे एक ही रग के कई चित्र बनाने पर किसी का नाम घोडा किसी का नाम राजा और किसी का नाम हाथी आदि हो जाता हैं।

जिसके प्रभाव से आत्मा ऊच–नीच गोत्र मे पडती है वह गोत्र कर्म कहलाता है। उदाहरणार्थ–एक ही प्रकार के सोने से एक मस्तक का आभूषण उत्तम माना जाता हे पैर का उत्तम नहीं माना जाता। इसी प्रकार यह निर्विकार आत्मा गोत्र कर्म के प्रभाव से ऐसे गोत्रो मे जन्म लेती हैं जो लोक मे उच्च या नीच कहलाते हैं। इस प्रकार आत्मा की ऊच–नीच अवस्था कर्म के ही प्रभाव से है। आत्मा स्वभाव से इन समस्त विकल्पों से अतीत और अनिर्वचनीय हैं।

अन्तराय का अर्थ हे विघ्न या बाधा। अन्तराय दो प्रकार का है–(1) द्रव्य रूप मे विघ्नबाधा होना और (2) भाग रूप से–अतरग आनन्द मे बाधा पडना। जो कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्ति को प्राप्त करने मे बाधक होता है वह अन्तराय कर्म कहलाता है।

इन आठ कर्मो ने अनादि काल से आत्मा को प्रभावित कर रक्खा है। इनके कारण आत्मा अपने स्वरूप से च्युत होकर नाना प्रकार की विभाव परिणति क अधीन हो रहा है। यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा को क्या करना चाहिए? कर्मो स आत्मा की आत्यन्तिक मुक्ति का उपाय क्या है ?

अगर पहले बधे हुए कर्म ही भोगे जाते हो तब तो किसी समय सहज ही उनका अन्त आ सकता है परन्तु ऐसा नही होता। आत्मा पूर्वबद्ध कर्मो को भोगते–भोगते उसी समय नये कर्म बाध लेती है और जब उन्हे भोगने का अवसर आता है तब फिर नवीन कर्म बध जाते हैं। इस प्रकार बन्ध का प्रवाह निरन्तर जारी रहता है। ऐसी स्थिति मे कर्मो का आत्यन्तिक विनाश किस प्रकार हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर अरिहत भगवान् को किये जाने वाले नमस्कार के मर्म मे निहित है। अरिहत भगवान् ने कर्मो का समूल क्षय करने के लिए जिस विधि का अवलम्बन किया है उसी विधि का अवलम्बन करने से भव्य जीव निष्कर्म बन सकता है।

पूर्वबद्ध कर्म यदि अच्छे (शुभ) भाव से भोगे जाते है तो नवीन अच्छे कर्मो का बध होता है बुरे भाव से भोगे जाते हैं तो बुरे कर्म बधते हैं और यदि राग द्वेष रहित भाव से भोगे होते है तो फिर कर्म बधते ही नही हे। इस प्रकार पूर्वोपार्जित कर्मो को वीतराग भाव से भोगना नवीन कर्मबध से बचने का उपाय है।

ज्ञानी पुरुषो की विचारणा निराली होती है। जब उन पर किसी प्रकार का कष्ट आकर पडता है अनुकूल परिस्थिति मे सुख की प्राप्ति होती हे अथवा जब उनके देखने–सुनने मे बाधा उपस्थिति होती है तब वे विचार करते है–'यह तो पकृति की क्रीडा है। इन सब बातो से मेरा कुछ भी सबध नही है। मे इन सब भावो से निराला हू। मेरा स्वरूप सब से विलक्षण है। मुझे इनसे क्या सरोकार? और मै इन सब के विषय मे रागद्वेष का भाव क्यो धारण करूं?

ज्ञानियो की इस विचारणा का अनुसरण करके जो कर्मभोगने के समय अच्छा या बुरा भाव अपने हृदय मे अकुरित नही होने देता, वरन् वीतराग बना रहता है वह कर्मो का सर्वथा–नाश करने मे समर्थ होता है। यही कर्म–क्षय का राजमार्ग है।

इस प्रकार जिसका अन्तकरण वीतराग भाव से विभूषित है उस महापुरुष को मारने के लिए यदि कोई शत्रु तलवार लेकर आवेगा तो भी यही विचारेगा कि मै मरने वाला नही हू। जो मरता है मर सकता हे वह म नही हू। मै वह हू तो मरता नही और मर सकता भी नही। सच्चिदानन्द–आमूर्तिक और अदृश्य मेरा स्वरूप है। मुझ मारने का सामर्थ्य साधारण पुरुष की तो बात ही क्या इन्द्र मे भी नही है। इसी प्रकार मारने वाला भी मै नही हू। मरने वाला शरीर है मारने वाली तलवार है। दोनो ही जड है। जड जड को काटता है।

इसमे मेरा क्या बिगडता है? मैं द्वेष भाव धारण कर के अपना अमगल आप ही क्या करू?

तलवार से कटते समय भी अगर प्रतिशत्रुता का भाव उदित होता है तो नवीन कर्म बधे बिना नही रहते। यद्यपि पूर्वबद्ध कर्म चुकते हैं तथापि नये कर्म बधते भी हैं। अगर तलवार से कटते समय यह विचार आया कि मारने वाला ओर मरने वाला मैं नही हू और उस समय निर्विकार अवस्था रही तो नूतन कर्म का बध नही होता।

कल्पना कीजिए एक व्यापारी ने किसी साहूकार के यहा अपना खाता डाला। वह एक हजार रुपया ऋण ले गया। थोडे दिनो के पश्चात् वह एक हजार रुपया दे गया ओर दो हजार नये ले गया। ऐसा करने से उसका खाता चलता ही रहेगा। इसके विरुद्ध गर वह जमा कराता रहे और नया कर्ज न ले ता उसका खाता चुक जायेगा। इसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म समभाव से भोगे अच्छे या बुर विचार न लावे तो किसी समय कर्म शत्रु का नाश हो जायगा।

आस्रव सवर ओर निर्जरा के भेद से कर्मो का स्वरूप प्रकारान्तर से भी कहा जाता हे मगर विस्तारभय से ओर समय की कमी के कारण यहा उसे छाड दिया जाता हे।

आचार्य कहते हैं–इस प्रकार के कर्म–शत्रुओ का नाश करने वाले अरिहत भगवान् का मैं नमस्कार करता हू।

यहा एक बात विशेष महत्वपूर्ण हे। नमस्कार करते समय किसी व्यक्ति–विशेष का नाम नही लिया गया हे अपितु अमुक प्रकार के गुणा से युक्त भगवान् को नमस्कार किया गया है। यह विशाल दृष्टिकोण एव मध्यस्थभाव का ज्वलत प्रमाण हे। यह निष्पक्ष भावना कितनी प्रशसनीय हे? चाहे जो हो जिस ने कर्म शत्रु को अत्यन्त विनाश कर दिया हे वही अरिहत हे ओर वही वन्दनीय हे वही पूजनीय हे।

कोई भी वस्तु अगर नमूने के अनुसार हा ता उसम झगडे की गुजाइश नही है। नमूने क अनुसार न होने पर ही झगडा उत्पन्न हाता हे। इसी कारण आचार्य न कर्मशत्रुआ का नाश करने वाल का अरिहत ओर वद्य कहा हे। जिसमे विकार विद्यमान हे वह माननीय या वन्दनीय नही ओर जा विकारा क वेग से विमुक्त हो चुका हे वह कोई भी क्या न हा वन्दनीय हे।

अगर अरिहत न अपन कर्मो का अत्यन्त अन्त कर दिया हे ओर अपनी आत्मा को एकान्त निर्मल बना लिया है ता उन्हाने अपना ही कल्याण साधन नही किया है। उन्हाने कर्मो का नाश किया हे यह दख कर हम उन्ह क्या नमस्कार करे?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भक्त भगवान पर अहसान करके उन्हे नमस्कार नही करता। भगवान् को नमस्कार करने मे भक्त का महान मगल है। उस मगल की उपलब्धि के लिए ही भक्त भक्तिभाव से प्रेरित होकर भगवान के चरणो मे अपने आपको अर्पित कर देता है।

ससार नाना पकार की पीडा से पीडित है। उसे कोई शान्तिदाता नही मिला है। कर्म हमे बुरी तरह नचा रहे हैं, असह्य यातनाओ का पात्र बना रहे हे और अरिहत भगवान ने उन कर्मो का विनाश कर दिया है। कर्मो की इस व्याधि से छुटकारा दिलाने वाले महावैद्य वही हो सकते हैं जिन्होने स्वय इस व्याधि से मुक्ति पाई है और अनन्त आरोग्य प्राप्त कर लिया है। अरिहत भगवान ही ऐसे है। हम कर्म की व्याधि से किस प्रकार छूट सकते हैं–कर्मो का अन्त किस पकार होना सभव है यह बात अरिहत भगवान ही हमे बता सकते हैं। उन्होने सर्वज्ञता–लाभ करके वह मार्ग प्रकाशित भी किया है। इसी कारण अरिहन्त भगवान हमारे नमस्कार के पात्र हैं वही शान्तिदाता हैं।

पहले अरहताण का एक रूपान्तर अरुहदम्य बतलाया जा चुका है। अरुहदम्य का अर्थ है रुह का नाश करने वाले। रुह धातु का सस्कृत भाषा मे अर्थ है –सन्तान अर्थात परम्परा। जैसे बीज और अकुर की परम्परा होती है। बीज से अकुर उत्पन्न होता है और अकुर से बीज उत्पन्न होता है और इस प्रकार बीज और अकुर की परम्परा चलती रहती है। अगर बीज को जला दिया जाये तो फिर अकुर उत्पन्न नही होता। इसी प्रकार जिन्होने कर्म रूपी बीज को भस्म कर दिया है–नष्ट कर दिया है और इस कारण जिसका फिर कभी जन्म नही होता अर्थात कर्म–बीज का आत्यन्तिक विनाश कर देने वाले (अरहत) को म नमस्कार करता हू।

किसी ने ठीक ही कहा है–

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त, प्रादुर्भवति नाकुर ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवाकुर ।

जिस बीज को आत्यन्तिक रूप से जला दिया जाता है उसे चाहे उसी कमाई हुई भूमि मे बोया जाये उस से अकुर नही उग सकता। इसी प्रकार कर्म–बीज को एक बार पूर्ण रूपेण भस्म कर देने पर पुनर्जन्म रूपी अकुर नही उग सकता।

कई लोगो का कहना है कि जिस कर्म का सबध आत्मा का अनादिकाल से रहा है वह कर्म नष्ट कैसे हो सकते है? मगर बीज और अकुर का सबध भी अनादिकाल का है। फिर भी बीज को जला देने से उनकी परम्परा का [illegible]

भी अन्त हो जाता है। इसी प्रकार कर्म की परम्परा का भी अन्त हो सकता है। जिस प्रकार प्रत्येक अकुर और प्रत्येक बीज आदि ही हैं फिर भी दोनो के कार्य–कारण का प्रवाह अनादि है, इसी प्रकार प्रत्येक कर्म आदि हैं तथापि उसका कर्म के साथ कार्य–कारण का सबध अनादि है।

यह शका भी उचित नहीं है कि जैसे अकुर के जला देने पर बीज का अभाव हो जाता है उसी प्रकार कर्म का नाश होने पर आत्मा का भी नाश क्यो नही हो जायेगा? बीज और अकुर तथा आत्मा और कर्म के सबध मे पर्याप्त अन्तर है। बीज और अकुर मे उपादान–उपादेयभाव सबध हैं जब कि आत्मा और कर्म मे मात्र सयोग सबध है। जैसे बीज और अकुर का स्वरूप मूलत एक है वैसे आत्मा और कर्म का स्वरूप एक नही है। दोनों का स्वरूप भिन्न–भिन्न है। जीव चैतन्य रूप है कर्म जड है। जीव और कर्म को प्राय सभी चैतन्य और जड रूप मानते हैं। जलाने पर जड ही जल सकता है। चेतन नहीं जल सकता है। दोनों भिन्न–भिन्न स्वभाव वाले हैं। गीता में कहा है–नैन दहति पावक अर्थात् आत्मा को अग्नि जला नही सकती।

इस सबध मे एक बात और भी कही जा सकती है। वह यह कि जैसे बीज और अकुर एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं वैसे आत्मा और कर्म एक दूसरे से उत्पन्न नही होते। बीज अकुर की परम्परा के समान कर्मो की–द्रव्य कर्म और भाव कर्म की ही परम्परा यहा अनादिकालीन बताई गई है। अत द्रव्य कर्मो और भाव कर्मो के क्षय होने पर द्रव्य कर्मो का क्षय हो जाता है। आत्मा अविनाशी होने के कारण विद्यमान रहती है बल्कि स्वरूप मे आ जाती है। कर्म का नाश होने से आत्मा की अशुद्धता का ही नाश होता है।

नमस्कार के विषय मे कहा जा सकता हे कि अरिहन्त को नमस्कार करन से क्या लाभ है? अरिहन्त भगवान् वीतराग हैं। वह न तुष्ट होते हें न रुष्ट होत हैं। हमे उनकी छाया भी कभी मिलती नही है। फिर नमस्कार करना वृथा क्या नहीं है?

भगवान् का नमस्कार करने से क्या लाभ है? इस विषय मे आचार्य कहत हैं–आत्मा ससार रूपी वन मे भटकते भयभीत हो गयी हे। एसी आत्मा को मार्ग बताने वाला कौन हे जिससे वह भव–वन से बाहर निकल सके। जिसने उस वन को पार नहीं किया है जो स्वयमव उसी वन म भटक रही हैं अर्थात जिसन कर्म शत्रु को नही जीता है वह उस मार्ग के विषय म क्या जानगी? उद्धार की आशा उसस केसे की जा सकती हे ? जिसने स्वय उस वन को पार किया हो शुद्ध आत्मपद की प्राप्ति कर ली हा वही उस वन से

निकालने के लिए तथा मोक्ष रूपी नगरी का मार्ग बताने के लिए सुयोग्य पथ–पदर्शक हो सकता है। अरिहन्त भगवान् मे ऐसी विशेषता है। उन्होने भव–कान्तार को पार किया है अतएव वही नमस्कार करने योग्य हैं।

कर्म कर्त्ता के किये हुए होते हैं। कर्त्ता द्वारा जो किया जाये वही कर्म कहलाता है। मतलब यह है कि कर्म तुम्हारे बनाए हुए हैं कर्मो के बनाये तुम नही हो। जो बनता है वह गुलाम है और जो बनाता है वह मालिक है। अरिहत भगवान् ने हमे बतलाया है–कि तुम इतने कायर क्यो हो रहे हो कि अपने बनाये हुए कर्मो से आप ही भयभीत होते हों? कर्म तुम्हारे खेल खिलौने हैं। तुम कर्मो के खिलोने नही हो। इस प्रकार कर्मो के अन्त का मार्ग बतलाने के कारण अरिहत भगवान नमस्कार करने योग्य हैं।

नमस्कार दो प्रकार का है–एक तो अपना सासारिक स्वार्थ साधने के लिए किया गया नमस्कार दूसरे वीर क्षत्रिय की भाति नमस्कार करना अर्थात या तो नमस्कार करे नही अगर कर ले तो फिर कोई भी वस्तु उससे अधिक समझे नही।

कहा जाता है कि राणा प्रताप के लिए अकबर बादशाह ने अपने राज्य का छठा भाग देना स्वीकार किया था अगर राणा एक बार बादशाह के सामने जाकर उसे नमस्कार कर ले। इस प्रलोभन के उत्तर मे राणा ने कहा था 'जहा मुझे दोनो पैर जमा कर खडे रहने की जगह मिलेगी वही मेरा राज्य हे। नमस्कार करने का अर्थ अपना सर्वस्व समर्पण कर देना है। अगर मैने बादशाह को नमस्कार किया तो मै स्वय बादशाह बन जाऊगा फिर उसके राज्य का छठा भाग या चौथाई भाग भी लेकर क्या करूगा? राज्य के लोभ के सामने राणा का मस्तक नही झुक सकता।

महाराणा प्रताप ने अपनी टेक रखने के लिए अनगिनत कष्ट सहन किये पर हृदय मे दीनता नही आने दी। बादशाह के सामने उनका मस्तक तो क्या शरीर का एक रोम भी नही झुका। यो तो राणा अपने अभीष्ट देवता और अपने गुरु को नमस्कार करते ही होगे लेकिन लोभ के आगे उनका मस्तक नही झुका।

श्रोतागण! क्या आप अर्हन्त भगवान् को नमस्कार करते हैं? जी हा।

लेकिन यदि नमस्कार करके भी दुर्भाव बना रहा तो क्या कहा जायेगा? जिसे नमस्कार किया है वह बडा है। उस बडे को अगर सच्चे हृदय से नमस्कार किया है तो उसके लिए उसके आदर्श के लिए सिर दे देना भी कोई मुश्किल बात नहीं होनी चाहिए।

अगर कोई आपका सिर काटने के लिए आवे तो अरिहत से आपका भाव तो नही पलटेगा ? अगर कष्ट आने पर आपने अरिहत भगवान् की ओर से अपना भाव पलट लिया तो समझ लीजिए अभी आपके नमस्कार मे कमी है।

मान लीजिए एक आदमी आपकी दुकान पर आया। आपने उस आदमी को नमस्कार करके बिठाया। उस आदमी ने आपकी पेटी मे एक रत्न देखा और उसे लेना चाहा। अब आप यदि यह कहते हैं कि मैंने देने के लिए आपको नमस्कार नहीं किया है। मेरे नमस्कार करने का उद्देश्य यह है कि आप मेरी दुकान पर आये हैं तो मुझे कुछ दे जावे। अगर आप यह कहते हैं तो मानना चाहिए कि आपका नमस्कार करना दिखावटी था–सिर्फ लोक–व्यवहार था सच्चे हृदय से उत्पन्न होने वाली समर्पण की भावना का प्रतीक नही था। जिसे नमस्कार किया है, उसके लिए अपना सिर भी दे देने के लिए तैयार हो जाना सच्चा नमस्कार है।

देव कामदेव के विरुद्ध तलवार लेकर आया था। उसने कामदेव को निर्ग्रन्थ–धर्म को त्याग देने का आदेश दिया था। ऐसा न करने पर उसने घोर से घोर कष्ट पहुचाने की धमकी दी थी। मगर कामदेव श्रावक उस देव से भयभीत हुआ था? उसने यही कहा कि यह तन तुच्छ है ओर प्रभु का धर्म महान् है। यह तुच्छ शरीर भी टिकाऊ नही है। एक दिन नष्ट हो जायेगा सो यदि यह शरीर धर्म के लिए नष्ट होता है तो इससे अधिक सद्भाग्य की बात और क्या होगी?

अरणक श्रावक का कोई अपराध नही था। फिर भी देव उसे यह कहता था कि तू अर्हन्त की भक्ति छोड दे अन्यथा तेरा जहाज डुबा दूगा। मगर प्रणवीर अरणक ने कहा–जहाज चाहे डूबे मगर धर्म नही छोड सकता।

कई लोग अपनी जिद को ही धर्म मान लेते हैं। इस विषय मे यह बात नही है। मगर अर्हन्त के जो गुण पहले बतलाये गये हैं उन गुणो से युक्त भगवान् ने जिस धर्म का निरूपण किया हे जो धर्म शुद्ध हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा के अनुकूल हैं और साथ ही युक्ति एव तर्क से बाधित नही होता तथा

जिससे व्यक्ति और समष्टि का एकान्त मगल–साधन होता है उस धर्म को न त्यागने मे ही कल्याण है।

णमो सिद्धाण का विवेचन

प्रकृत शास्त्र के प्रथम मगलाचरण के प्रथम पद का विवेचन किया जा चुका है। उसके पश्चात् द्वितीय पद – णमो सिद्धाण है। णमो सिद्धाण का अर्थ है –सिद्धो को नमस्कार हो।

नम शब्द का अर्थ पहले बतलाया जा चुका है। केवल सिद्ध पद की व्याख्या करना शेष है।

अष्ट कर्म रूपी ईधन को जिन्होने शुक्ल ध्यान रूपी जाज्वल्यमान अग्नि मे भस्म कर दिया है उन्हे सिद्ध कहते हैं। सिद्ध पद की यह व्याख्या निरुक्ति इस प्रकार है–

सि–सित–बधे हुए कर्म रूपी ईधन को।

द्ध–ध्मात–भस्म कर दिया है।

अथवा–सिद्ध षिधु धातु से बना है। षिधु का अर्थ गति करना हे। अर्थात जो गमन कर चुके है ऐसे स्थान को जहा से फिर कभी लोटकर नही आते उन्हे सिद्ध कहते है।

अथवा षिधु धातु का अर्थ –सिद्ध हो जाना। जिन का कोई भी कार्य शेष नही रहा है–सभी कार्य जिनके सिद्ध हो चुके है उन्हे सिद्ध कहते हे।

अथवा– षिधञ धातु से सिद्ध शब्द बना है षिधुञ का अर्थ हे–शास्त्र या मगल। जो ससार को भली भाति उपदेश देकर ससार के लिए मगलरूप हो चुके है उन्हे सिद्ध कहते है। ऐसे सिद्ध भगवान को नमस्कार हो।

सिद्ध का अर्थ नित्य भी होता है। नित्य का अर्थ यहा यह हे कि जहा गये है वहा से लौटकर न आने वाले। ऐसे सिद्ध भगवान को नमस्कार हो।

ख्यातिप्राप्त अर्थात् प्रसिद्ध को भी सिद्ध कहते है। जिनक गुण समूह ख्याति प्राप्त कर चुके है उन सिद्ध भगवान् के गुण समूह भव्य जीवा का प्राप्त होते है। इस प्रकार जिनके गुण समूह भव जीवो मे प्रसिद्ध हे आर जा भव्य जीवो को ही प्राप्त होते है उन सिद्ध भगवान को नमस्कार हो।

आचार्य ने सिद्ध भगवान् की व्याख्या इस श्लोक द्वारा ओर भी स्पष्ट कर दी है–

ध्मात सित येन पुराणकर्म्म यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो य सोऽस्तुसिद्ध कृतमगलोमे।।

अर्थात–जिन्होने पुराने काल से बाधे हुए कर्म को भस्म कर दिया हे जा मुक्ति रूपी महल मे जा चुके हें जो विख्यात हो चुके हैं जिनके गुणा का भव्य प्राणी भली भाति जानते हें जिन्होने धर्म का अनुशासन किया हे जिनके समस्त कार्य सिद्ध हो चुके हैं वे सिद्ध भगवान हमारा मगल करने वाले हा–हमारा कल्याण करे। ऐसे सिद्ध भगवान को नमस्कार हो।

प्रश्न–सिद्ध भगवान् अगर मुक्ति प्राप्त कर चुके हें अगर कृतकृत्य हा चुक हे तो हम उनसे क्या प्रयोजन हैं? उन्हे नमस्कार करने से क्या लाभ हे?

इस प्रश्न का समाधान यहा किया गया है। सिद्ध भगवान को नमस्कार इस लिए करते हैं कि उनके ज्ञान दर्शन चरित्र सुख आदि गुण सदा शाश्वत हें। उनका वीर्य अनन्त और अक्षय हे। वे इन समस्त आत्मिक गुणो स अलकृत हैं। अतएव वह हमारे विषय मे भी हर्ष उत्पन्न करते हैं। सिद्धो के इन गुणा का देखकर हम भी यह जानने लगे हैं कि जो गुण सिद्धो मे प्रकट हा चुक हैं वही सब गुण हमारी आत्मा में भी सत्ता रूप से विद्यमान हैं। अन्तर कवल यही है कि सिद्धो के गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो चुके हैं और हमारे गुण कर्मो क कारण प्रकट नही हुए हें–दबे हुए हें क्योकि आत्म–आत्म द्रव्य की अपक्षा निश्चयनय की दृष्टि से सिद्धो की हमारी आत्मा समान हें। ऐसी स्थिति म जिनक गुण प्रकट हा चुक हैं उन्हे नमस्कार करने से हमे अपने गुणा का स्मरण हा आता हे ओर हम उन गुणा को प्रकट करने की चेष्टा करत हें। इस प्रकार सिद्धा का नमस्कार करने स आत्मशोधन की प्रेरणा प्राप्त होती है अतएव उन्ह नमस्कार करना चाहिए।

जिस मनुष्य क अन्त करण मे थोड से भी सुसस्कार विद्यमान हें वह गुणीजन का देखकर प्रमुदित होता हे। मानव स्वभाव की यह आन्तरिक वृत्ति ह जिस नैसर्गिक कहा जा सकता हे। अगर कोई विशिष्ट विज्ञानवेत्ता हा ता साधारण जना का उस देखकर हर्ष होता हे कि उसन हमारा पथ प्रशस्त कर दिया हे। इसकी बदोलत हमार अभ्युदय की कल्पना मूर्तिमती हो गई हे। इस आदर्श मानकर हम भी इस पथ पर अग्रसर हो सकगे ओर सफलता प्राप्त कर सकग। इसी प्रकार सिद्धा म ओर हम म जब मोलिक समानता हे ता जिन गुणा का सिद्ध प्रकट कर चुक हें उन्ही गुणा का हम क्या न प्रकट कर सकगे।

किसी क किसी गुण का अनुकरण करने क लिए उसक प्रति आदर भाव हाना आवश्यक हे। इस नियम स सिद्धा क गुणा का अनुकरण करन क लिए उनक प्रति आदर एव भक्ति की भावना अपक्षित हे। इसी उद्दश्य स सिद्ध भगवान का नमस्कार किया जाता है।

कहा जा सकता है कि अगर हमारी आत्मा मे सिद्धो के समान ही गुण विद्यमान है तो हम मे और सिद्धो मे कुछ भी अन्तर नही है। तब हम उन्हे नमस्कार क्यो करें? इस विषय मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रत्येक आत्मा मे समान गुण होने पर भी ससारी जीव अपने गुणो को भूल रहा है। उदाहरणार्थ ससारी आत्मा मे ज्ञान गुण मौजूद है। मगर वह कर्मो के कारण विकृत हो रही है और अत्यन्त सीमित हो रही है। अनादिकालीन कर्मो के प्रभाव से आत्मा इतनी दुर्बल हो गयी है कि इन्द्रियो का सहारा लेकर उसे ज्ञान करना पडता है। कान के द्वारा न जाने कितने शब्द अब तक सुने हैं और यदि कान बने रहे तो न मालूम कितने शब्द सुने जा सकते हैं, सुनने की यह शक्ति कान की नही है किन्तु कान के द्वारा आत्मा ही सुनती है। यही बात घ्राण रस स्पर्श और रूप आदि के विषय मे समझनी चाहिए। लेकिन इन्हे जानने के लिए इन्द्रियो की सहायता की अपेक्षा होना आत्मा की कमजोरी है। आत्मा स्वय देखे, सुने उसे इन्द्रिय आदि किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा न रहे यह आत्मा का असली स्वाभाविक स्वरूप है। यह गुण कैसे मालूम हो इस बात को इन्द्रियद्वार से देखना चाहिए।

शास्त्रकारो ने दस प्राण बतलाये हैं। पाच इन्द्रिया तीन बल–मनोबल, वचन बल कायबल श्वासोच्छ्वास और आयु यह दस प्राण है। इन्हे द्रव्य प्राण कहा जाता है।

सिद्धो मे चार भाव प्राण होते हैं–ज्ञान प्राण दर्शन प्राण वीर्य प्राण और सुख प्राण। यह चार आत्मा के असली प्राण है और ससारी जीवन के दस प्राण विकारी है। इन दस प्राणो से हम आत्मा के असली प्राणो का पता लगा सकते है। जैसे –ज्ञान और दर्शन प्राण इन्द्रिय प्राण मे समाये हुए है तीनो बलो मे वीर्य प्राण समाया हुआ और आयु एव श्वासोच्छ्वास प्राणो मे सुख प्राण समाया हुआ हैं।

सुख प्राण को श्वासोच्छ्वास भी कहा जा सकता है। शान्तिपूर्वक श्वास आने के समान ससार मे और कोई सुख नही है। दूसरे सुख ऊपरी हैं। श्वास शान्ति के साथ आवे यह सुख प्राण है। मगर विकार दशा म इस सुख प्राण के द्वारा सुख भी होता है और दुख भी होता है। यह सुख–दुख मिट कर आत्मा को उसका स्वकीय सुख प्राप्त हो यही वास्तविक सुख प्राण है।

उक्त दस प्राणो मे एक आयु प्राण बतलाया गया है। आत्मा जब तक शरीर मे है तभी तक आयु के साथ उसका सबध है। आत्मा जब शरीर से अतीत हो जाती है तब आयु के साथ उसका सबध नही रहता। आत्मा का

असली गुण स्थिति है। परन्तु यह स्थिति गुण आयु के साथ रहने से नष्ट हो गया है। यह स्थिति गुण भी सुख प्राण रूप है।

इसी प्रकार हम आत्मा के अन्यान्य गुणो का भी पता लगा सकते हैं। सिद्ध भगवान् का स्वरूप जानकर हमे यह प्रतीति होती है कि इन्द्रियो के इशारे के सिद्धो ने अपने स्वाभाविक गुणो को प्रकट किया है। सिद्धो के इस कार्य से हमे भी अपना आत्मबल प्रकट करने का मार्ग नजर आ गया है। इस कारण हम सिद्धो को नमस्कार करते हैं।

'णमो आयरियाण' का विवेचन

नमस्कार मत्र के दो पदो का विवेचन किया जा चुका। तीसरा पद है–णमो आयरियाण–आचार्यों को नमस्कार हो।

आचार्य किसे कहते हैं इस सबध मे टीकाकार कहते हैं कि आ अक्षर का अर्थ है–मर्यादापूर्वक या मर्यादा के साथ और चार्य का अर्थ है–सेवनीय अर्थात् सवा करने योग्य। तात्पर्य यह है कि मर्यादा के साथ जिनकी सेवा की जाती हे बिना मर्यादा के जिनकी सेवा नही होती अर्थात् भव्य प्राणिया द्वारा मर्यादापूर्वक सेवित हैं उन्हे आचार्य कहते हैं।

भव्य प्राणी आचार्य की सेवा क्यो करते हैं ? इस सबध मे टीकाकार कहते हैं कि सूत्र के मर्म का अर्थ करने का अधिकार जिन साधुओ को है 'वे आचार्य कहलाते हैं । शास्त्र मे कहा है–

सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थ बाएइ आयरिओ।।

इस गाथा मे सूत्र के परमार्थ को जानने वाले और शरीर के सब लक्षणो से युक्त मुनि को आचार्य कहा गया हे।

आचाराग सूत्र मे शरीर के लक्षणो के सबध मे विशद् व्याख्यान किया गया है। वहा बतलाया गया हे कि जिसकी आकृति अच्छी होती है उसम गुण भी प्राय अच्छे होते हें। जिसकी आकृति विकृति हाती हे उसक गुण भी प्राय वैसे ही हाते हें।

शास्त्र की इस गाथा मे कहा गया है कि जो लक्षणो से सपन्न हो ओर गच्छ का मढीभूत हा उसे आचार्य कहते हे।

खलिहाना म एक लट्ठा (माटी लकडी) गाड कर उसके सहारे भूसा ओर अनाज अलग करने के लिए बेल घुमाय जाते हें। उस लकडी का मढी कहत हे। तात्पर्य यह हे कि जा चतुर्विध सघ का मढी भूत हो चतुर्विध सघ

जिसके सहारे टिका रहे और जो गच्छ की चिन्ता से मुक्त हो –जिसने गच्छ का उत्तरदायित्व दूसरे साधु को सौप दिया हो ऐसे सूत्रार्थ का प्रतिपादन करने वाले को आचार्य कहते हैं।

आचार्य शब्द का अर्थ दूसरे प्रकार से भी है। आ का अर्थ है मर्यादा के साथ चार का अर्थ है विहार या आचार। तात्पर्य यह है कि ज्ञानाचार दर्शनाचार चरित्राचार तपाचार और वीर्याचार नामक पाच आचारो मे जो मर्यादा पूर्वक विहार करते हैं अर्थात पाचो आचारो का पालन करने मे जो दक्ष है आप स्वय पालते है और दूसरो को पालने के लिए उपदेश देते हैं–दृष्टान्त और युक्ति से बोध कराते है उन्हे आचार्य कहते है। तात्पर्य यह कि उक्त पाच आचारो का जो स्वय दक्षता पूर्वक पालन करते हैं और दूसरो को पालन करने का उपदेश देते हैं वह आचार्य कहलाते है। जो स्वय जिस आचार का पालन नही करता और केवल दूसरो को उपदेश ही देता है वह आचार्य नही है।

वास्तविक उपदेश वही है और वही प्रभावजनक हो सकता है जिसका पालन कर दिखाया जावे। जीवन व्यवहार द्वारा प्रदर्शित उपदेश अधिक प्रभावशाली तेजस्वी स्पष्ट और प्रतीतिजनक होता है। अतएव जो स्वय व्यवहार मे पालन कर दिखाता है–अपने कर्त्तव्य द्वारा उपदेश प्रदर्शित करता है तथा कोई भव्य प्राणी यदि उस आचार के मर्म को जानना चाहता है तो उसे दृष्टान्त हेतु एव युक्ति से समझाता है वही सच्चा आचार्य है।

आचार्य का स्वरूप समझने के लिए एक लौकिक दृष्टान्त उपयोगी होगा। मान लीजिए एक आदमी कहता है कि मै डॉक्टर हू–सर्जन हू। मै पुस्तकीय बात समझ सकता हू, समझा सकता हूँ, भाषण कर सकता हू, परन्तु मै क्रियात्मक चिकित्सा नही कर सकता। क्या कोई ऐसे आदमी को डॉक्टर कहेगा? नही।

अगर कोई कृषि का आचार्य कहलाता है पर हल चलाना नही जानता और बीज बोना भी नही जानता तो वह आचार्य कैसा !

जैसे लौकिक विषयो मे स्वय कर दिखाने वाले और फिर उपदेश देने वाले उस विषय के आचार्य कहलाते है उसी प्रकार लोकोत्तर विषय–धर्म के सबध मे भी वही साधु आचार्य की पदवी प्राप्त कर सकते है जो स्वय आचार का पालन कर दिखाते है। ऐसे आचारनिष्ठ उपदेशक ही आचार्य कहे जा सकते है।

कुछ–कुछ दूत के समान। तात्पर्य यह है कि जेसे दूत अन्वषण कार्य मे या खोज करने म कुशल होते हें उसी प्रकार जो शिष्य उचित ओर अनुचित की खोज मे हेय ओर उपादेय के अन्वेषण मे तत्पर हैं उन शिष्यो को उपदेश देने मे जो कुशल हें उन्हे आचार्य कहते हैं।

आचार्य शब्द की पूर्वोक्त व्याख्याओ मे आचार्य के जिन गुणा का समावेश किया गया है उन गुणो से सुशोभित आचार्य महाराज का नमस्कार हो।

साधु और आचार्य मे क्या अन्तर है यह प्रश्न यहा सहज ही उद्भूत हो सकता हे। साधु और आचार्य दोनो ही पाच महाव्रतो का पालन करते हें दाना ही आहार के बयालीस दोष टालकर भिक्षा ग्रहण करते हैं दोना ही सकल सयम के धारक हैं तो सामान्य साधु म और आचार्य मे क्या अन्तर है? इस भेद का कारण क्या है? परमेष्टी मे एक का स्थान तीसरा और दूसरे का पाचवा क्या हैं?

साधु और आचार्य का अन्तर सुगमता से समझने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है। मान लीजिए एक मकान बन रहा हे। उसमे सैकडो कारीगर काम करते हैं। सव के हाथो मे कारगरी के औजार हैं। लेकिन सब कारीगरा क ऊपर एक इन्जिनियर है। इस इजिनियर पर जैसा चाहिए वैसा मकान वनवाने की तथा हानि–लाभ की जिम्मेदारी है। काम तो सब कारीगर करते हैं परन्तु वुद्धि इजिनियर बतलाता हे। सब कारीगर उसी के आदेशानुसार कार्य करते हें। इसी कारण मकान मे एकरूपता रहती है ओर इच्छानुसार मकान बन जाता हे। अगर सभी कारीगर स्वछन्द हा और अपनी मर्जी के मुताबिक मकान बनाने के लिए उद्यत हो जाए तो मकान की एक रूपता नष्ट हो जायेगी इच्छित मकान नही बन सकेगा।

यही बात यहा समझनी चाहिए। सघ को एक मकान समझ लीजिए। सघ मे यद्यपि अनेक साधु होते हें ओर ये सव समान भी हें तथापि इजिनियर के समान आचार्य की आवश्यकता रहती हे। जेस इजिनियर क आदशानुसार मकान बनाने स मकान मे अच्छाई ओर एकरूपता आती हे उसी प्रकार आचार्य के आदेशानुसार कार्य करने से सघ म अच्छाई आती है ओर एकरूपता रहती हे।

किस साधु न ज्ञान का विशप अभ्यास किया हे कोन दर्शन म उत्कृष्ट हे किसम कोनसी और कितनी शक्ति है ओर किस कहा नियुक्त करना चाहिए यह सव बात अगर आचार्य क निरीक्षण म न हा तो सघ रूपी मकान म भद्दापन

आ जायेगा और अनेक साधु रूपी कारीगरो की शक्ति समुचित रूप से उपयोग मे नही आ सकेगी। सघ को भी अपना कार्य आचार्य की देख रेख मे होने देना चाहिए और आचार्य पर पूर्ण श्रद्धा भाव रखना चाहिए। ऐसा करने से सघ रूप भवन मे भव्यता आती है।

कहा जा सकता है कि साधु समूह मे से ही एक को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। मगर यदि अन्य साधुओ मे भी आचार्योचित गुण विद्यमान हो तो उन्हे भी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित क्यो न किया जाये ? इसका समाधान यह है कि एक को प्रधान माने बिना कार्य सुचारु रूप से नही होता। कहा भी है–

अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायका

अर्थात जिस समूह का कोई नायक नेता नही होता उसकी दुर्दशा होती है और जिस समूह के बहुतेरे नायक होते हैं उसकी भी वही दुर्दशा होती है।

जैसे सैकडो हजारो सदस्यो मे से किसी एक बुद्धिमान पुरुष को सभापति निर्वाचित कर लिया जाता है और निर्वाचन से कार्य व्यवस्थापूर्वक एव शान्ति के साथ सम्पन्न होता है उसी प्रकार सघ का कार्य समीचीन रूप से चलाने के लिए आचार्य का निर्वाचन किया जाता है। सभा मे उपस्थित सदस्यो मे अनेक बुद्धिमान पुरुष होते है मगर उन सब को सभापति नही बनाया जाता। ऐसा करने से सभापति पद की उपयोगिता विनष्ट हो जाती है। इसी प्रकार सघ मे आचार्योचित गुणो से युक्त अनेक साधुओ की विद्यमानता मे भी आचार्य एक ही बनाया जा सकता है। जैसे सब सदस्य सभापति के आदेशानुसार बर्ताव करते है उसी प्रकारसघ आचार्य के आदेशानुसार चलता है। जैसे सभापति की बात न मानकर मनमानी करने से सभा छिन्न–भिन्न एव अनियन्त्रित हो जाती है उसी प्रकार आचार्य की बात न मानकर स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति करने से सघ भी छिन्न–भिन्न हो जाता है।

आचार्य सघ की केन्द्रीभूत शक्ति है। जिस प्रकार राज्य सचालन मे केन्द्रीभूत शक्ति प्रधान मानी जाती है उसी प्रकार सघ मे आचार्य प्रधान माना जाता है।

करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार आचार्य हमे ज्ञान दर्शन आदि मे स्थिर रखते हे। इसी महान् उपकार से उपकृत होकर हम उन्हे नगस्कार करते हैं।

'णमो उवज्झायाण' का विवेचन

आचार्य को नमस्कार करने के पश्चात् चौथे पद मे कहा गया है–णमो उवज्झायाण–उपाध्याय को नमस्कार हो।

उपाध्याय शब्द का अर्थ बतलाते हुए आचार्य कहते हैं– उपाध्याय उप ओर अध्याय इन दो शब्दों के मेल से बना है। उप का अर्थ है समीप म ओर अध्याय का अर्थ है स्वाध्याय करना। अर्थात जिनके पास सूत्र का पाठ लने के लिए विशेष रूप से जाना पडता है, जिनके पास सूत्र का पठन–पाठन हाता हे ओर जिनके पास जाने से सूत्रार्थ का स्मरण होता है अर्थात् जो सूत्रार्थ का स्मरण कराते हैं, उन विद्वान् महात्मा को उपाध्याय कहते हैं।

शास्त्र मे कहा है–

वारसगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे।
त उवइसति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चति।।

अर्थात–जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट बारह अग रूप स्वाध्याय बुद्धिमान् गणधरा ने बतलाया है। उसका जो उपदेश करते हैं वे उपाध्याय कहलात हें।

प्रश्न हा सकता हे कि आचार्य ओर उपाध्याय मे क्या अन्तर है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उपाध्याय शिष्यो को मूल सूत्र पढाकर तेयार कर देते हें ओर आचार्य सूत्रो की व्याख्या करके समझाते हैं। सूत्रो की व्याख्या करके समझाना आचार्य का काम हे। मकान बनाने से पहले नीव तेयार की जाती हे ओर तत्पश्चात् मकान बनाया जाता है। इसी प्रकार पहले सूत्र की भूमिका रूपी नीव डालन का कार्य उपाध्याय करत हें ओर उस पर व्याख्या रूपी भवन का निर्माण आचार्य करते हें।

उपाध्याय शब्द के ओर अर्थ भी हें। जेसे–जिनके पास जाने स उपाधि प्राप्त हो–जा शिष्या को उपाधि देने वाले हा जो पढाई के साक्षीदाता हा जिसकी पढाई की प्रतीति हो उसे उपाध्याय कहते हें। यहा उपाधि का अर्थ पदवी अधिकार या प्रमाण–पत्र (ब्तजपपिवजम) हे।

आज उपाध्याय का नाम मात्र रह गया हे। जिसका जव जी चाहता हे वही शास्त्र वाचन लगता है। उपाध्याय क समीप जाकर शास्त्राध्ययन करन की अव आवश्यकता नही रह गई हे। प्राचीन काल म एसी अव्यवस्था नही

थी। पहले उपाध्याय के पास विधिपूर्वक शास्त्र का अभ्यास करने के लिए शिष्य जन जाया करते थे। अध्ययन प्रणाली के विषय का प्राचीन इतिहास शास्त्र बतलाता है।

जिनकी समीपता से अनायास ही लाभ पहुचता है उन्हे भी शब्दार्थ के अनुसार उपाध्याय कहते है। जिनकी उपाधि अर्थात् समीपता से आय अर्थात् लाभ प्राप्त हो वह उपाध्याय है। आशय यह है कि जैसे गधी की दुकान पर जाने से अनायास ही सुगध की प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार उपाध्याय के पास जाने से भी अनायास ही लाभ हो जाता है। उपाध्याय के पास सूत्र का स्वाध्याय सदा चलता रहता है इसलिए उनके पास जाने वाले को सहज ही स्वाध्याय का लाभ मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि जिनकी समीपता से अनायास ही लाभ की प्राप्ति होती है उन्हे भी शब्दार्थ के अनुसार उपाध्याय कहते है।

अथवा – आय का अर्थ है–इष्ट फल। जो इष्ट फल देने के निमित्त है उन्हे उपाध्याय कहते है। जो आम का वृक्ष मधुर फलो से सम्पन्न हे उसके समीप जाने से फल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार जिनके निमित्त से मनोवाछित फल अनायास ही प्राप्त हो जाये उन्हे उपाध्याय कहत हे।

अथवा– आधि शब्द का अर्थ है–मानसिक पीडा। उसका लाभ आध्याय कहलाता है। तथा आधि' शब्द मे जो अ अक्षर है वह कुत्सित अर्थ मे प्रयोग किया गया है अतएव अधी' का अर्थ हुआ–कुत्सित बुद्धि–कुबुद्धि। अधी' की आय अर्थात् लाभ को अध्याय कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अध्याय का अर्थ दुर्ध्यान–अप्रशस्त ध्यान भी होता है। इस प्रकार आध्याय (मानसिक पीडा) और अध्याय (कुबुद्धि का लाभ तथा दुर्ध्यान) जिनके नष्ट हो जाते है वह उपाध्याय है। तात्पर्य यह है कि जो मानसिक पीडा से रहित है और अप्रशस्त ध्यान से भी रहित है उन्हे उपाध्याय कहते है।

उपाध्याय को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि उपाध्याय न होते तो भगवान महावीर से आया हुआ परम्परा का ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होता? उपाध्याय की कृपा से ही यह ज्ञान हमे प्राप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय महाराज शिष्यो को ज्ञान सिखाकर सूत्र द्वारा भव्य प्राणियो की रक्षा करते हैं। इस प्रकार उपाध्याय हमारे महान् उपकारक हैं। इसी कारण उन्हे नमस्कार किया जाता है।

उपाध्याय और आचार्य परम्परा अगर अविछिन्न रूप से चालू रहे तो अपूर्व लाभ होता है। व्यवस्था सभी जगह लाभदायक है। ससार के कार्य व्यवस्था के साथ किये जाते हैं तो सफल होते हैं। धर्म के विषय में भी व्यवस्था का मूल्य कम नही है। व्यवस्था चाहे लौकिक हो चाहे धार्मिक उसे बिगाड दने से सभी को हानि पहुचती है। शास्त्र मे अन्य पाप करने वाले को नवीन दीक्षा से अधिक प्रायश्चित् नही कहा है, परन्तु गण और सघ मे भेद करने वाले को दशवे प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

भगवान कहते हैं—मेरे सघ को छिन्न—भिन्न करने वाला पुरुष परम्परा स लाखा जीवो को हानि पहुचाता है। भगवान् के इस महत्त्वपूर्ण कथन पर विचार करके सघ की व्यवस्था करना उचित है। प्रत्येक पुरुष स्वच्छद हो तो उस सघ को हानि पहुचे विना नही रह सकती। सघ की वह हानि तात्कालिक ही नही होती उसकी परम्परा अगर चल पडती है तो दीर्घ काल तक उससे सघ को हानि पहुचती रहती हे।

'णमो सव्वसाहूण' का विवेचन

नमस्कार मत्र के चार पदो का सक्षेप मे विवेचन किया जा चुका है। पाचवा पद हे—

णमो सव्वसाहूण

अर्थात—सब साधुओ को नमस्कार हो।

णमा का अर्थ पहले बतलाया जा चुका हे। वही अर्थ यहा पर भी समझना चाहिए। साधु किसे कहत हें यह देखना चाहिए। इस सबध म आचार्य (टीकाकार) लिखते हें— साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधव अर्थात समस्त प्राणिया पर जिनका समताभाव हा जा किसी पर राग—द्वेष न रक्ख वन्दना करने वाल ओर निन्दा वाल पर समान भाव धारण कर जा प्राणीमात्र का आत्मा क समान समझ ~~मे साधु कहत हें। कहा भी हे—

निव्वाणसाहए जोए जम्हा साहेति साहुणो।
समो य सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो।।

अर्थात्–जो पुरुष निर्वाण के साधक ज्ञान दर्शन आदि योगो को साधता है और सब पाणियो पर समभाव रखता है वही भाव साधु कहलाता है।

अथवा– सहायक वा सयम कारिण धारयन्तीति साधव। अर्थात् जो सयम पालने वालो की सहायता करता है वह साधु कहलाता है।

जो पुरुष जैसी सहायता कर सकता है वह वैसी ही सहायता करता है। साधु अपनी पद–मर्यादा के अनुकूल अन्य भव्य प्राणियो की मोक्ष साधना मे सहायक बनते हैं इसलिए निर्युक्ति के अनुसार उन्हे साधु कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि यहा णमो साहूण न कह कर णमो सव्व साहूण' क्यो कहा गया है? 'सव्व' का अर्थ है–सर्व अर्थात् सब। साधु के लिए सव्व' विशेषण लगाने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि– साधुओ मे साधना के भेद अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैसे अरिहन्त सिद्ध मे सर्वथा समानता है वैसी समानता साधुओ मे नही है। यद्यपि साधुत्व की दृष्टि से सब साधु समान ही हैं तथापि उनमे कोई सामायिक चरित्र वाला कोई छेदोपस्थापनीय चरित्र वाला कोई परिहार विशुद्धि चरित्र वाला कोई सूक्ष्म सम्पराय चरित्र वाला और कोई–कोई यथाख्यात चरित्र वाला होता है। साधु के साथ सव्व (सर्व–सब) विशेषण लगा देने से इन सब की गणना हो जाती है। हमारे लिए सभी साधु वन्दनीय है यह प्रकट करने के लिए सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा कोई छट्ठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त 'सयत साधु होते हैं और कोई सातवे गुणस्थान से चौदहवे गुणस्थान के अप्रमत्तसयत साधु होते हैं। इन सब साधुओ मे से कोई भी साधु न छूटने पावे सबका ग्रहण हो जाये इस अभिप्राय से सव्व विशेषण लगाया गया है।

अथवा मुनि (निर्ग्रन्थ) छ प्रकार के होते है। कोई पुलाक कोई बकुश कोई कषाय–कुशील कोई प्रतिसेवना कुशील कोई निर्ग्रन्थ और कोई स्नातक होते हैं यह सभी मुनि वन्दनीय है इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा साधुओ मे कोई जिन कल्पी होते है जो उत्सर्ग मार्ग पर चलते हुए वन मे एकाकी विचरते है। कोई मुनि पडिमाधारी होते है। कोई यथालन्द कल्पी होते हैं जो स्वय ही लाकर आहार करते है। कोई कोई मुनि स्थविर

कल्पी होते हैं यह स्थविरकल्पी दस प्रकार के कल्प मे स्थिर रहते हैं। कोई मुनि कल्पानीत होते हैं जैसे तीर्थंकर और स्नातक नियठा वाले मुनि। इनके लिए कोई कल्प नहीं है। यह अपने ज्ञान मे देखकर जो उचित होता है वही करते हैं। इन सब प्रकार के मुनियों को नमस्कार करने के लिए 'सव्व' विशेषण का प्रयोग किया जाता है।

अथवा—कोई साधु प्रत्यक्ष बुद्ध होते हैं जिन्होने किसी वस्तु को देखकर बोध प्राप्त किया हो। कोई स्वयबुद्ध होते हैं जो परोपदेश आदि के बिना स्वय ही बोध प्राप्त करते हैं। कोई मुनि बुद्धबोधित होते हैं जो किसी ज्ञानी के उपदेश से बोध प्राप्त करते हैं। इन सब को नमस्कार करने के लिए सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा—केवल भरत क्षेत्र मे स्थित साधु ही वन्दनीय नही है किन्तु महाविदेह क्षेत्र जम्बूद्वीप घातकीखड द्वीप आदि जिस किसी भी क्षेत्र मे साधु विद्यमान हो, उन सब साधुमार्गी की साधना करने वालो को नमस्कार करने के उद्देश्य से 'सव्व'विशेषण प्रयोग किया गया है।

यह कहा जा सकता है कि चौथे आरे मे जैसे साधु होते थे, वैसे आज—कल नही होते। फिर सब को अभिन्न भाव से नमस्कार करना कहा तक उचित कहा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि चौथे आरे मे सहनन आदि की विशिष्टता से उग्र सयम के पालक जैसे साधु होते थे वैसे कालदोष से विशिष्ट सहनन आदि की शिथिलता के कारण आज भले ही न हो तथापि आज—कल के साधु भी जो साधु पद की मर्यादा के अन्तर्गत हैं उनमे भी साधुत्व का लक्षण पाया जाता है। अत साधुत्व की दृष्टि से सब समान हैं। इसके अतिरिक्त अगर चोथे आरे के समान साधु आज कल नहीं हे तो चौथे आरे के समान वन्दना करने वाले श्रावक भी तो नही हैं।

प्राचीन काल मे जो कार्य जिस प्रकार से होता था आज—कल वह उस प्रकार नही होता। केवल इसी कारण प्रत्येक कार्य को निन्दनीय नही ठहराया जा सकता। प्रत्येक कार्य पर समय का प्रभाव पडता हे। उदाहरणार्थ गाय पहले जितना दूध देती थी आज उतना दूध नही देती। फिर भी वह दूध तो देती ही है। उसका दूध उपयोग म आता ही हे। गधी के दूध का तो उसके स्थान पर उपयोग नही किया जा सकता। इस प्रकार ससार क पदार्थ पहले वाले नही हें फिर भी हें तो वेसे ही। प्रत्येक बात का विचार करत समय काल का भी विचार करना चाहिए। अतएव देश—काल के अनुसार जो उत्तम ज्ञान दर्शन ओर चरित्र धारण करते हें उन सव का नमस्कार करने क लिए 'सव्व' शब्द का उपयोग किया गया हे।

साधुओ के साथ प्रयुक्त किया गया 'सर्व' विशेषण अत्यन्त गभीर विचार का परिणाम है। गुणवान् मुनियो मे से कोई भी शेष न रह जाये यह सूचित करने के उद्देश्य से सव्व (सर्व) विशेषण लगाया गया है। कोई उत्तम रीति से ही साधुता पालन करता है कोई मध्यम रूप से। परन्तु जो साधु धर्म की आराधना मे तत्पर हैं वे सब साधु हैं। उन सब को यहा नमस्कार किया गया है।

शका—अगर समस्त साधुओ का ग्रहण करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है तो समस्त अरिहन्तो का ग्रहण करने के लिए सब सिद्धो का समावेश करने के लिए तथा समस्त आचार्यों और उपाध्यायों का ग्रहण करने के लिए पहले के चार पदो मे 'सव्व' शब्द का प्रयोग क्यो नहीं किया गया है? सब अर्हन्त न एक ही देश मे होते हैं, न एक ही काल मे होते हैं। उनमें भी अनेक भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार सिद्ध आदि में भी भेद हो सकते हैं। फिर एक पद के साथ ही 'सव्व' विशेषण क्यो प्रयोग किया गया है?

समाधान—अन्त के पद मे जो विशेषण लगाया गया है उसका सबध सभी पदो के साथ किया जा सकता है। अतएव 'सर्व' विशेषण की अर्हन्त आदि पदो के साथ योजना कर लेना अनुचित नही है। क्योकि न्याय सब के लिए समान है। ऐसी स्थिति मे सब अर्हन्तो को सब सिद्धो को इस प्रकार प्रत्येक पद के साथ सर्व का समन्वय किया जा सकता है। अरिहत चाहे तीसरे आरे के हो चाहे चौथे आरे के चाहे भरत क्षेत्र वर्त्ती हो चाहे विदेह क्षेत्र वर्त्ती हो किसी भी काल के और किसी भी देश के क्यो न हो बिना भेदभाव के सब नमस्कार करने योग्य है। इसी प्रकार सिद्ध चाहे स्वलिग से हुए हो चाहे अन्य लिग से चाहे तीर्थकर होकर सिद्ध हुआ हो चाहे तीर्थकर हुए बिना सिद्ध हुए हो सभी समान भाव से नमस्करणीय है।

अरिहन्त और सिद्ध की तरह आचार्य भी अनेक प्रकार के हो सकत हैं। अत जिस पद मे आचार्य को नमस्कार किया गया है उस पद मे भी 'सव्व' विशेषण लगा लेना चाहिए। इसी प्रकार देश काल के भेद से तथा श्रुत सम्बधी योग्यता एव क्षयोपशम के भेद से उपाध्यायो मे भी अनेक विकल्प किये जा सकते है। उन सब उपाध्यायो का सग्रह करने के लिए उपाध्याय के चौथे पद मे भी 'सव्व' विशेषण की योजना कर लेना असगत नही है।

यहा तक 'सव्व' का अर्थ सर्व—सब मानकर सगति दिखलाई गई है। मगर 'सव्व' शब्द के और भी अनेक रूपान्तर होते है और उन रूपान्तरो का अर्थ भी पृथक्-पृथक् होता है।

सव्व' का एक रूप होता है–सार्व। जो सब के लिए हितकारक हो वह सार्व' कहलाता है। यह सार्व' साधु का विशेषण है। तात्पर्य यह है कि समान भाव से सब का हित करने वाले साधुओं को नमस्कार हो। जैसे जल बिना किसी भेदभाव के सब की प्यास मिटाता है, सूर्य सबको प्रकाश देता है वह राजा रक का पक्षपात नहीं करता, इसी प्रकार सच्चा साधु सब का हितकारक होता है। सब का कल्याण करने वाला ही वास्तव मे साधु कहलाता है। साधु की हित–कामना किसी सम्प्रदाय या वर्ग विशेष की सीमा मे सीमित नहीं होनी चाहिए।

अथवा–'सव्वसाहूण पद मे षष्ठी तत्पुरुष समास है। यहा सार्व शब्द से अरिहन्त भगवान् का ग्रहण किया गया है। अतएव तात्पर्य यह हुआ कि सब का कल्याण करने वाले सार्व अर्थात् अरिहत भगवान् के साधुओं को नमस्कार हो। यो तो आचार्य और उपाध्याय आदि भी सब का कल्याण करने वाले हैं परन्तु वे छद्मस्थ होते हैं। अत उनसे प्रकृतिजन्य किसी दोष का होना समव है। अरिहत भगवान् सर्वज्ञ और वीतराग हो चुके हैं। वे सब प्रकार की भ्रमणाओ से अतीत हो चुके हैं। अतएव वे निर्दोष रूप से सब का एकान्त हित करने वाले हें। उन सर्वज्ञ ओर वीतराग भगवान् के अनुयायी साधुओ को ही नमस्कार किया गया है।

अथवा–'सव्वसाहूण' का अर्थ है–सर्व प्रकार के शुभ योगो की साधना करने वाले। अर्थात् समस्त अप्रशस्त कार्यो को त्यागकर जो प्रशस्त कार्यो की साधना करते हैं वे सर्व साधु कहलाते हैं।। इस व्याख्या से आचार्य ने यह सूचित कर दिया है कि अगर कभी किसी साधु मे अशुभ योग आ जाये तो वह वन्दना करने योग्य नहीं है।

अथवा–'सार्व' अर्थात् अरिहत भगवान् की साधना–आराधना करने वाले 'सार्वसाधु' कहलाते हैं। अथवा मिथ्या मतो का निराकरण करके सार्व अर्थात् अरिहत भगवान् की प्रतिष्ठा करने वाले भी 'सार्वसाधु' कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो एकान्तवादी मिथ्या मतो का खडन करके भगवान् के शासन की प्रतिष्ठा करते हैं–स्थापना करते हैं भगवान् के शासन को युक्ति तर्क एव प्रमाण के द्वारा सदृढ बनाते हें, वह सार्वसाधु कहलाते हैं। यहा पर भी 'सार्व' शब्द स अरिहत भगवान् का ही ग्रहण किया गया हे।

अथवा प्राकृत भाषा क 'सव्व' का सस्कृत रूप श्रव्य भी होता हे और 'सव्य भी होता है। श्रव्य का अर्थ हे श्रवण करने योग्य, और 'सव्य का अर्थ हैं अनुकूल या अनुकूल कार्य। साधु शब्द का अर्थ हे – कुशल। इस प्रकार

सव्वसाहूण' का अर्थ हुआ—सुनने योग्य वाक्यो को सुनने मे जो कुशल है जो न सुनने योग्य को नही सुनता है, वह 'श्रव्य—साधु कहलाता है।

सव्वसाहूण की सस्कृत छाया जब सव्यसाधुभ्य की जाती है तब उसका अर्थ होता है कि जो अनुकूल कार्य करने मे दक्ष हो ऐसे साधुओं को नमस्कार हो। यहा अनुकूल कार्य से ऐसे कार्य समझना चाहिए जो साधु सयम के पोषक हो —सयम से विपरीत न हो अथवा जिस उद्देश्य से उसने सयम धारण किया है उस उद्देश्य मोक्ष के अनुकूल हो। ऐसा करने वाले साधुओ को नमस्कार हो।

कही—कही नमो लोए सव्वसाहूण' और कही कही नमो सव्वसाहूण' पाठ पाया जाता है। इस सबध मे टीकाकार ने कहा है कि 'सव्व' शब्द कही कही एक देश की सम्पूर्णता के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। मान लीजिए भोज के अवसर पर किसी ने कहा—'सब मनुष्य आ गये हैं। यहा 'सब शब्द का अर्थ क्या लिया जा सकता है? सब मनुष्य दिल्ली के भारतवर्ष के या विश्वभर के समझे जाएं? अथवा भोज मे निमंत्रित सब व्यक्ति लिए जाए। निस्सदेह ऐसे अवसर पर सब का अर्थ 'सब' निमत्रित मनुष्य समझना होगा। यद्यपि निमत्रित मनुष्य थोडे से ही होते हैं फिर भी उनके लिए 'सब' शब्द एक देश की सम्पूर्णता को भी प्रकट करता है। ऐसी स्थिति मे 'सव्व साहू सिर्फ इतना कहने से यह स्पष्ट नही होता है कि किसी एक प्रकार के सब साधु, किसी एक देश के सब साधु अथवा किसी एक ही काल मे सब साधु यहा ग्रहण किये गये है या सभी प्रकारो के, सभी देशो के और सभी कालो के साब साधु यहा ग्रहण किये गये है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहा 'लोए शब्द का प्रयोग किया गया है। लोए अर्थात् लोक विद्यमान सभी साधुओ को नमस्कार हो।

लोए शब्द लगा देने पर भी आखिर प्रश्न खडा रहता है कि 'लोक' शब्द से यहा कौनसा लोक समझा जाये? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधु अढाई द्वीप रूप मनुष्य लोक मे ही हो सकते हैं अतएव लोक शब्द से मनुष्य लोक का ही अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार 'नमो लोए सव्वसाहूण' का अर्थ होता है—मनुष्य लोक मे विद्यमान सब साधुओ को नमस्कार हो।

लोक शब्द का प्रयोग करने से सारे मनुष्य लोक के साधुओ का समावेश हो गया। किसी गच्छ या सम्प्रदाय विशेष की सकुचितता क लिए अवकाश नही रहा। साधु किसी भी गच्छ का हो जिसने ऊपर बतलाये हुए गुण विद्यमान है वदनीय है। जिन्होने अज्ञान—अधकार को दूर करके ज्ञान

का लोकोत्तर आलोक प्रदान किया है जिन्होने कुपथ से निवृत्त करके सुपथ पर लगाया है जिन्होने जीवन के महान् साध्य को समीप बनाने मे अनुपम सहायता दी है जिनके परम अनुग्रह से आत्मा–अनात्मा का विवेक जागृत हुआ है उन साधुओ का उपकार अवश्यमेव स्वीकार करना चाहिए। सच्चे गुरु सकीर्णता एव कदाग्रह मिटाना सिखाते हैं, सकुचित वृत्ति रखना नहीं सिखाते। सच्चे धर्मगुरु वही है जो खोटी सकीर्णता से निकाल कर विशालता मे जाने का उपदेश देते हैं।

साधु को नमस्कार करने से क्या लाभ है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आचार्य ने कहा है–मानव का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्ष ही मनुष्य की परम साधन का ध्येय है। इस परम पुरुषार्थ की साधना मे सहायता देने वाला साधु के सिवाय ओर कौन है? अरिहत तीर्थकर चौबीस ही होते हैं, जो सब समयो मे नहीं होते–विशेष समय पर ही होते हैं ओर आचार्य उतने ही होत हैं जितने गच्छ होते हैं। अतएव अरिहत और आचार्य की सत्सगति का लाभ सब को सब समयो पर नही हो सकता। साधु के साथ सब का समागम हो सकता है और वे मोक्ष की साधना का उपदेश भी देते हैं।

बादशाह एक ही होता है ओर प्राय उसके राज्य के प्रान्तो की सख्या के अनुसार गवर्नरो की सख्या होती है। अतएव बादशाह और गवर्नर से सब की भेंट नहीं हो सकती। हा, उनके कर्मचारियो से सब की भेट हो सकती है। अरिहत को बादशाह, आचार्य को गवर्नर ओर साधुओ को कर्मचारी समझना चाहिए।

टीकाकार लिखते हैं कि साधु किस प्रकार मोक्ष मे सहायक होते हैं यह बात प्राचीन आचार्यो ने इस प्रकार बतलाई है–

असहाए सहायत्त, करेति मे सजमे करेतरस।
एएण कारणेणं, णमामि ह सव्वसाहूण।।

अर्थात्–सयम धारण करने वाला जो असहाय होता है उसके सहायक साधु ही होते हैं। साधु ही निराधार के आधार हैं और असहाय के सहायक हैं। इस कारण ऐसे महात्माओ को मैं नमस्कार करता हू।

प्रस्तुत शास्त्र के प्रथम मगलाचरण के पाच पदो का यह विवेचन यहा समाप्त होता है। अब इसी सबध की अन्यान्य बातो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला जा है।

कतिपय शका–समाधान

शका—प्रस्तुत मगलाचरण मे पाच पदो को जो नमस्कार किया गया है सो यह सक्षेप मे है यदि ऐसा कहा जाये तो पाच पदो की क्या आवश्यकता थी? सक्षेप मे दो पद ही पर्याप्त थे।

अर्थात्—

नमो सव्वसिद्धाण। नमो सव्वसाहूण।

इन दो पदो मे पाचो परमेष्ठी अन्तर्गत हो सकते थे क्योकि साधु मे अर्हन्त आचार्य और उपाध्याय सभी का समावेश हो जाता है। मत्र यथासभव थोडे ही अक्षरो मे होना चाहिए। फिर यहा पर तो उसे सक्षेप रूप ही स्वीकार किया गया है। थोडे अक्षर होने से प्रथम तो मत्र जल्दी याद हो जाता है दूसरे याद भी बना रहता है। कष्ट आने पर लम्बे—चौडे मत्र जाप करना कठिन हो जाता है। थोडे अक्षरो के मत्र का सरलता से ध्यान किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे पाच पद क्यो बनाये गये है?

अगर यह कहा जाये कि विस्तार से नमस्कार किया गया है तो फिर पाच ही पद क्यो बनाये गये है? अधिक क्यो नही बनाये गये। विस्तार की गुजाइश तो थी ही। जैसे अरिहन्त सिद्ध आदि को समुच्चय रूप मे पृथक—पृथक नमस्कार किया है, उसी तरह उनका पृथक—पृथक् नाम लेकर नमस्कार किया जा सकता था। णमो उसहस्स 'णमो अजिअस्स इस प्रकार विस्तार के साथ नमस्कार करने मे क्या हानि थी?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि यहा न तो एकान्त सक्षेप से नमस्कार किया गया है और न एकान्त विस्तार से ही। यहा मध्यम मार्ग स्वीकार किया गया है। जितने मे बाध भी हो जाये और नमस्कार करने वाले को अधिक भी न जान पडे ऐसी पद्धति का यहा अवलम्बन लिया गया है।

अगर शकाकार के कथनानुसार विस्तार से नमस्कार किया जाये तो सम्पूर्ण आयु समाप्त हो जाने पर भी नमस्कार की क्रिया समाप्त न हो पायेगी क्योकि सिद्ध अनन्तानन्त है वे सभी अरिहत भी हुए है। अतएव एकान्त विस्तार से नमस्कार करना सभव नही है।

अगर एकान्त सक्षेप पद्धति का आश्रय लिया जाता तो परमेष्ठियो का पृथक—पृथक स्वरूप समझने मे कठिनाई होती। फिर आचार्य उपाध्याय साधु और अरिहन्त के स्वरूप मे जो भिन्नता है वह स्पष्ट न होती। अतएव मध्यम मार्ग को अगीकार करना ही उचित है।

अगर यह कहा जाये कि इस प्रकार पृथक—पृथक नमस्कार करने से क्या बाध होता है ? तो इसका उत्तर यह कि अरिहत भगवान का नमस्कार

करन के फल के बराबर साधु को नमस्कार करने का फल नहीं होता हे। अरिहत को नमस्कार करने का उत्कृष्ट फल हाता है। जेसे मनुष्य मात्र म राजा भी सम्मिलित हे परन्तु सामान्य मनुष्य को नमस्कार करने से राजा का नमस्कार करने का फल नही मिलता। अरिहत भगवान राजा के समान हैं ओर साधु उनकी परिषद् के सदस्य हे। इस कारण 'नमो अरिहताण पद न रख कर यदि नमो सव्वसाहूण' पद ही रक्खा जाता तो अरिहत भगवान को नमस्कार करने के उत्कृष्ट फल की प्राप्ति न होती। अतएव अरिहतो को ओर साधुआ को अलग–अलग नमस्कार किया गया है।

शका–अरिहता की अपेक्षा सिद्धो की आत्मविशुद्धि अधिक है। अरिहत सिर्फ चार धाति–कर्मो का क्षय करते हें ओर सिद्ध आठ ही कर्मो का। अरिहत सशरीर होते हैं सिद्ध अशरीर। इस प्रकार अरिहत की अपेक्षा सिद्ध का पद उच्चतर हे। फिर यहा नमस्कार मत्र मे प्रथम अरिहता को और उसके पश्चात् सिद्धों का नमस्कार क्या किया गया है?

समाधान–यह सत्य हे कि अरिहतो की अपेक्षा सिद्धो की आत्मिक विशुद्धता उच्च श्रेणी की होती है अगर सिद्ध ससार से अतीत अशरीर इन्द्रिय–अगाचर हैं। उनके स्वरूप का ज्ञान हमे केसे हुआ? हम सिद्धा का अस्तित्व किसने वताया है? अरिहतो को पहचानने से ही हम सिद्धों को पहचान सकत हैं, तथा अरिहत भगवान् ही सिद्धों की सत्ता प्रकट करते हें। अतएव सिद्धा क स्वरूप का ज्ञान अरिहता के अधीन होने से अरिहत भगवान् प्रधान कहलाते हैं। वे आसन्न उपकारक होने के कारण भी प्रधान हैं।

इसके अतिरिक्त जव धर्म–तीर्थ का विच्छेद हो जाता है तव अरिहत तीर्थकर ही तीर्थ की स्थापना करत हैं। वही महापुरुष हमे सिद्ध वनने का मार्ग वतलाते हैं। इस प्रकार हमारे ऊपर अरिहतों का विशिष्ट उपकार होने के कारण पहले अरिहतो को ही नमस्कार किया जाता है।

शका–अगर उपकारी को प्रथम नमस्कार करना उचित है तो सवसे पहले आचार्य को नमस्कार करना चाहिए फिर अरिहत को। क्याकि अरिहत भगवान् की पहचान आचार्यो न ही हम कराई हे। यहा ऐसा क्यो नही किया गया?

समाधान–इस शका का समाधान यह है कि आचार्य स्वतत्रभाव से अर्थ का निरूपण नहीं कर सकते। अरिहत भगवान् द्वारा उपदिष्ट अर्थ का निरूपण करना ही आचार्य का कर्त्तव्य है। अपनी कल्पना से ही वस्तु का विवचन करन वाला आचार्य नहीं कहला सकता। आचार्य अरिहता के कथन का शिष्यो की याग्यता के अनुसार सक्षप या विस्तार करक प्ररूपणा करत हैं।

इसके विरुद्ध अरिहन्त भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण स्वतत्र भाव से उपदेश देते है। उनका उपदेश मौलिक होता है और आचार्य का उपदेश अनुवाद रूप होता है। इस कारण आचार्य को प्रथम नमस्कार न करके अरिहन्त को ही पहले नमस्कार किया गया है।

अथवा–आचार्य उपाध्याय और साधु अरिहत भगवान् की परिषद् को नमस्कार नही किया जाता है। अतएव पहले अरिहत भगवान् को नमस्कार किया गया है।

द्वितीय मगलाचरण का विवेचन

श्री भगवती सूत्र के प्रथम मगलाचरण नमस्कार मत्र का विवेचन किया जा चुका है। शास्त्रकार ने दूसरा मगलाचरण इस प्रकार किया है–

नमो बभीए लिवीए।

अर्थात – ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

टीकाकार ने बतलाया है कि यह मगलाचरण आधुनिक लोगो की दृष्टि से है प्राचीनकाल वालो के लिए नही। क्योकि इन आगे वाले दोनो मगला के सबध मे टीकाकार लिखते है कि जब साक्षात् केवली भगवान् नही होते तब श्रुत ही उपकारी होता है।

श्रुत के दो भेद है– द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत। अक्षर विन्यास रूप अर्थात लिपिबद्ध श्रुत द्रव्य श्रुत कहलाता है। इसीलिए यहा कहा गया है– नमो बभीए लिविए अर्थात् ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

लिपि का अर्थ क्या है? इस सबध मे आचार्य कहते है कि पुस्तक आदि मे लिखे जाने वाले अक्षरो का समूह लिपि कहलाता है।

लिपि कहने से कौन–सी लिपि समझनी चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि नाभितनय भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से जो लिपि सिखाई वह ब्राह्मी लिपि कहलाती है। यहा उसी लिपि का अर्थ समझना चाहिए। इस विषय मे प्रमाण उपस्थित करते हुए कहा गया है–

लेह लिवीविहाण जिणेण बभीए दाहिणकरेण।

अर्थात–जिनेन्द्र भगवान–ऋषभदेव ने लेख रूप लिपि का विधान दाहिने हाथ से ब्राह्मी को बतलाया सिखाया। इसी कारण यह लिपि ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस पद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लिपि स्थापना रूप हे। यहा अक्षर रूप स्थापना को गणधरो ने भी नमस्कार किया है फिर आप स्थापना को नमस्कार क्यो नहीं करते ? अगर स्थापना रूप अक्षरो को नमस्कार किया जाता है तो फिर मूर्त्ति को नमस्कार करने मे क्या आपत्ति है?

इस प्रश्न का समाधान करने से पहले एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह है कि टीकाकार आचार्य पहले कह चुके हैं कि द्रव्य मगल एकान्त एव आत्यन्तिक मगल नही है। अतएव द्रव्यमगल का परित्याग कर भावमगल को जो एकान्त मगल रूप है ग्रहण करते है। इस कथन के अनुसार भावमगल किया भी जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि जिन्होने द्रव्य का त्याग किया वह स्थापना पर कैसे आ गये? जब द्रव्यमगल ही एकान्तिक और आत्यन्तिक मगल नही है तो स्थापना एकान्त मगल रूप कैसे है।

जिस शास्त्र मे द्रव्य मगल को त्यागने की बात लिखी है उसी मे लिपि का नमस्कार करने की बात भी लिखी है। यह दोनो लेख परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। अगर शास्त्र मे परस्पर विरोधी विधान नही हो सकते तो विचारना चाहिए कि यहा आशय क्या है? इन लेखो मे क्या रहस्य छिपा है?

गणधरो ने लिपि को नमस्कार किया है। यह कथन समुचित प्रतीत नही हाता क्याकि गणधरो ने सूत्र को लिपिबद्ध नही किया है। जब उन्हाने सूत्रो को लिखा ही नही तब वह लिपि को नमस्कार क्यो करेगे? इस विषय मे टीकाकार भी मध्यस्थ भाव से स्पष्ट कहते हैं कि लिपि के लिए किया गया यह नमस्कार इस काल के जन्मे हुए लोगो के लिए है। इस कथन से यह सिद्ध होता हे कि गणधरों ने लिपि को नमस्कार नही किया हे। किन्तु सूत्र क लिखने वाले किसी परम्परा के अनुयायी ने लिपि को नमस्कार किया हे।

पहले समय मे सूत्र लिखे नही जाते थे। वरन कण्ठस्थ किये जाते थे। गुरु के मुख से सुनकर शिष्य सूत्रों को याद कर लेता था ओर वह शिष्य फिर अपने शिष्यो का कण्ठस्थ करा देता था। इसी कारण शास्त्र का श्रुत' नाम सार्थक होता है। प्राचीन काल म कठस्थ कर लेने की मेघा शक्ति प्रबल होती थी वे प्रमादी नही थे अथवा आरभ का विचार करके सूत्र लिखने की परम्परा नही चली थी। जब लोग प्रमादी होकर श्रुत को भूलने लगे तब आचार्य दवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने वीरनिर्वाण सवत 980 म सूत्रा को लिपिबद्ध करवाया।

इससे स्पष्ट है कि पहले जैन शास्त्र लिख नही जाते थे। जब शास्त्र लिख ही नही जात थ सूत्र लिपि रूप म आय ही नही थे तब लिपि को

नमस्कार करने की बात किस प्रकार सगत मानी जा सकती है? अतएव यह कथन भी सत्य नही है कि गणधरो ने लिपि को नमस्कार किया है।

यहा यह प्रश्न किया जा सकता है कि गणधरो ने सूत्र नही लिखे तो क्या हुआ? लिपि तो गणधरो के समय मे भी विद्यमान थी। जब लिपि उस समय प्रचलित थी तो उसे नमस्कार किया हो यह सभव क्यो नहीं है?

यह आशका ठीक नही है। जो लोग स्थापना को नमस्कार करते हैं वे भी उसी स्थापना को नमस्कार करते हैं जिसमे नमस्करणीय–पूज्य की स्थापना की गई है। मात्र स्थापना स्वत पूज्य है ऐसा कोई भी नही मानता। ऐसी स्थिति मे लिपि रूप स्थापना मे जब नमस्करणीय श्रुत लिखा नही गया था तब किसको उद्देश्य करके लिपि को नमस्कार किया गया होगा? तात्पर्य यह है कि जैसे मूर्तिपूजक भाई मूर्ति को नमस्कार करते है जो मूर्ति के ही उद्देश्य से नही वरन् वह मूर्ति जिसकी है उसे उद्देश्य करके नमस्कार करते हैं। अगर मूर्ति के ही उद्देश्य से नमस्कार करे तब तो ससार की समस्त मूर्तियो को फिर वह किसी की ही क्यो न हो नमस्कार करना होगा। इसी प्रकार लिपि स्थापना रूप है। स्थापना वादियो के लिए भी वह स्वय तो नमस्कार करने योग्य है नही श्रुत को उद्देश्य करके ही वे उसे नमस्कार कर सकते थे पर उस समय श्रुत लिपिबद्ध ही नहीं था। ऐसी स्थिति मे लिपि को नमस्कार करने का उद्देश्य क्या हो सकता है? अगर लिपि स्वयमेव नमस्कार करने योग्य मानी जाये तो प्रत्येक लिपि नमस्कार करने योग्य माननी होगी। लिपि अठारह प्रकार की है। उस मे लाट लिपि है तुर्की लिपि है यवन लिपि है और राक्षसी लिपि भी है। यदि गणधरो ने लिपि को ही नमस्कार किया है ऐसा माना जाये तो यह भी मानना पडेगा कि तुर्की एव यवन लिपि भी नमस्कार करने योग्य है। इन लिपियो को नमस्कार करने योग्य मान लिया जाये तो यवन आदि के देवो को भी नमस्कार करने योग्य मानना पडेगा।

तात्पर्य यह है कि गणधरो ने लिपि को नमस्कार नही किया है क्योकि लिपि को नमस्कार करने का निमित्त श्रुत उस समय लिपि रूप मे नही था। श्रुत के लिपिबद्ध हो जाने के पश्चात् अर्थात वीर निर्वाण स 980 वर्ष क अनन्तर आधुनिक लोगो की दृष्टि से ही किसी ने यहा लिपि का नमस्कार किया है। टीकाकार ने भी यह लिखा है कि आधुनिक मनुष्यो क लिए श्रुत उपकारी है इसलिए लिपि को नमस्कार किया है।

शब्द नय के विचार के अनुसार शब्द और उसका कर्ता एक हो जाता है। ब्राह्मी लिपि भगवान ऋषभदेव ने सिखाई है अत ब्राह्मी लिपि का

नमस्कार करना अभेदविवक्षा से भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करना है क्याकि वह उस लिपि के कर्ता हैं। जैसे शब्द नय के अनुसार पाहली बनाने वाले का जो उपयोग वही पाहली हे। इस प्रकार लिपि को नमस्कार द्वारा भगवान ऋषभदेव को नमस्कार किया गया है। अगर लिपि को नमस्कार करने का अर्थ अक्षरो को नमस्कार करना लिया जायेगा ता अतिव्याप्ति दोष होगा।

शास्त्र की मागलिकता

प्रकृत शास्त्र की आदि मे नमस्कार मत्र द्वारा और ब्राह्मी लिपि द्वारा जा मगल किया गया है, उसके सबध मे यह आशका हो सकती है कि शास्त्र क लिये जो मगल किया गया है उससे प्रकट है कि यह भगवती सूत्र स्वय मगल रूप नही है। क्योकि जो स्वय मगल रूप न हो उसी को मगल रूप बनाने के लिए मगल किया जाता है। जो स्वय ही मगल रूप हो उसके लिए मगल की क्या आवश्यकता है? ससार मे भी सफेद को सफेद और चिकने को चिकना करना व्यर्थ माना जाता है। किये को करने से लाभ ही क्या हे? अतएव यदि भगवती सूत्र मगलरूप हे तो इसके लिए मगल करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु यहा मगल किया गया हे अतएव यह साबित हाता है कि प्रस्तुत शास्त्र मगल रूप नही हे।

कदाचित शास्त्र को मगल रूप माना जाये ओर फिर भी उसके लिए पृथक मगल किया जाये–अर्थात् यह कहा जाये कि शास्त्र स्वय मगलमय है फिर भी शास्त्र के लिए मगल किया गया हे तो अनवस्था दोष आता हे।

अप्रमाणिक अनन्त पदार्थो की कल्पना करते–करते कहीं अन्त न आने को अनवस्था दाष कहते हैं। यहा यही दोष आता हे। शास्त्र स्वय मगल हे फिर भी उसे मगल ठहराने के लिए अलग दूसरा मगल किया गया हे तो वह दूसरा मगल स्वय मगल रूप हे फिर भी उसे मगल ठहराने के लिए तीसरा मगल करना चाहिए। तीसरे मगल का मगल रूप ठहराने के लिए चोथा ओर चौथ को मगल रूप ठहरान के लिए पाचवा करना पडगा। इस प्रकार अनन्त मगलो की कल्पना करत–करत कही अन्त न आवगा ओर प्रकृत शास्त्र के आरभ हान का अवसर भी न आ सकेगा।

कदाचित् मगल करन वाला एसा मानता हा कि शास्त्र क लिए जा मगल किया गया हे उस मगल का मगल रूप ठहरान क लिए फिर दूसरा मगल नही किया है इस कारण अनवस्था दाष नही आता। एसा मानने पर अन्य दाष आत हैं। जेस शास्त्र का मागलिक बनान क लिए अलग मगल

किया, किन्तु अनवस्था दोष के भय से मगल को मागलिक बनाने के लिए दूसरा मगल नहीं किया तो जैसे मगल रूप शास्त्र पृथक मगल के बिना अमगल रूप गिना जाता है उसी पकार शास्त्र के लिए किया हुआ मगल भी पृथक् मगल के अभाव मे अमगल रूप ठहरता है। तात्पर्य यह है कि अनवस्था दोष स्वीकार न करने पर भी न्याय की समानता को देखते हुए यह बात तो माननी ही होगी कि जैसे मगल रूप शास्त्र भी बिना मगल के मगल रूप नही बनता उसी पकार शास्त्र को मगल रूप बनाने के लिए किया हुआ मगल भी दूसरे मगल के अभाव मे मगल रूप नही हो सकेगा। जब मगल स्वय अमगल रूप होगा तो उससे शास्त्र मगल रूप कैसे बन सकता है?

कदाचित शास्त्र को मगल रूप माना जाये और शास्त्र के लिए किये हुए मगल को भी बिना अन्य मगल के–मगल माना जाये अर्थात् शास्त्र को और शास्त्र के लिए किये गये मगल को समान रूप से मगल रूप माना जाये तो फिर मगलाभाव दोष आता है। क्योकि आप यह स्वीकार करते कि शास्त्रमगल दूसरे मगल के बिना मगल रूप नही होता। जब शास्त्र मगल दूसरे मगल के बिना मगल रूप नही होता तो यह दूसरा मगल भी तीसरे मगल के बिना मगलरूप कैसे होगा? जब तीसरे मगल के अभाव मे दूसरा मगल अमगलरूप है तो शास्त्रमगल भी अमगलरूप ही सिद्ध होगा। इस प्रकार स्पष्ट रूप से अमगल दोष होता है।

इस तर्क का उत्तर देते हुए आचार्य कहते है कि शास्त्र स्वत मगल स्वरूप है फिर भी उसके लिए जो मगल किया गया है सो इसलिए कि शिष्यो की बुद्धि मे मगल का ग्रहण हो जाये। शिष्यगण शास्त्र को मगल रूप समझ सके इस उद्देश्य से यहा मगल किया गया है। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ पुरुषो के आचार की परिपाटी का पालन करने के लिए भी मगलाचरण किया जाता है। अतएव न तो यहा अनवस्था दोष के लिए अवकाश है न अमगल आदि अन्य किसी दोष के लिए।

इस शास्त्र का फल क्या है। इसके अध्ययन अध्यापन से क्या प्रयोजन सिद्ध होता हे? इस प्रश्न का समाधान शास्त्र के नाम से ही हो जाता है। जिसका नाम अमृत है उसका फल मृत्यु तो हो नही सकता। इसी प्रकार प्रस्तुत शास्त्र के नाम से ही फल का ज्ञान हो जाता है। नाम से फल का ज्ञान किस प्रकार होता है यह आगे बतलाया जाता है।

फल दो प्रकार का होता है (1) अनन्तर (साक्षात्) फल और (2) परम्परा फल। इस शास्त्र मे श्री गोतम स्वामी आदि के द्वारा पूछे हुए विविध अर्थो की व्याख्या की गई है। यह व्याख्या ही इस शास्त्र का अभिधेय है। अभिधेय सबधी अज्ञान दूर होकर उसका ज्ञान हो जाना ही इस शास्त्र का साक्षात्-फल हे। अर्थात् शास्त्र मे जिन-जिन बातो का वर्णन किया गया है उन बातो का ज्ञान हो जाना इस शास्त्र के अध्ययन का साक्षात् फल है। शास्त्र के अध्ययन स जो साक्षात् फल अर्थात ज्ञान प्राप्त होता है उस ज्ञान का फल परम्परा मे माक्ष हे। अतएव इस शास्त्र का परम्परा फल मोक्ष है।

जिस बीज का अकुर भी प्यारा लगता है वह बीज यदि अच्छी भूमि म बाया जायगा ता परम्परा से वह मधुर फल देगा। इसी प्रकार इस ज्ञान को निर्मल अन्त करण म बोने से परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस शास्त्र का परम्परा फल मोक्ष ही क्यो बतलाया गया है? धन आदि सासारिक वैभव परम्परा फल क्यो नही हैं? इसका उत्तर यह हे कि सूत्र आप्त क वचन हें। जा सर्वज्ञ ओर यथार्थ वक्ता होता हे वही आप्त कहलाता है। आप्त उसी समय हाता है जब मोक्ष के विषय म मोक्ष को लक्ष्य करके ही उपदश हाता हे। क्याकि मोक्ष ही सच्चा सुख है मोक्ष ही आत्मा का असली वेभव है। धन आदि अज्ञान क कारण सुख रूप प्रतीत होते हैं वस्तुत वे दु ख क कारण हें। जो सुख पर द्रव्याश्रित होता है वह सुख नही सुखाभास हे क्याकि पर द्रव्य का सयाग अनित्य हे। सच्चे आप्त जगत् के जन्म जरा मरण से आर्त्त प्राणिया को सच्चे सुख का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। अत उनके द्वारा प्ररूपित आगम का परम्परा फल सासारिक वेभव नही वरन् माक्ष ही हाता हे। सासारिक वभव मोक्ष की तुलना म इतना तुच्छ हे कि अगर उसकी प्राप्ति हो भी तब भी वह किसी गिनती म नहीं हे।

प्रश्न हो सकता हे कि शास्त्र म स्वर्ग-नरक का भी वर्णन हे। स्वर्ग-नरक क भद आदि का भी वर्णन हे। अगर आप माक्ष क अतिरिक्त स्वर्ग आदि का भी उपदश नही दत ता स्वर्ग आदि क वर्णन की क्या आवश्यकता थी?

इस पश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग–नरक आदि का वर्णन पुण्य और पाप का फल बतलाने के लिए किया गया है। पुण्य–पाप का फल बतलाकर अन्त मे दोनो से अतीत होने का ही उपदेश दिया है। इस प्रकार मोक्ष का विवेचन करने के लिए ही स्वर्ग आदि का वर्णन शास्त्र मे पाया जाता है।

कुछ लोगो को यह पेशोपेश होता है कि स्वर्ग और नरक हमे दिखाई नही देता तब उन पर विश्वास किस पकार किया जाये? यही बात अहमदनगर के एक वकील ने मुझसे इस पकार पूछी थी–'अगर हम स्वर्ग नरक को स्वीकार न करे तो क्या हानि है?

मैने कहा–अगर स्वर्ग–नरक स्वीकार कर ले तो क्या हानि है?

वकील बोले–'हमने देखे नही इसी से स्वीकार करने मे सकोच होता है?

मैने पूछा– स्वर्ग–नरक नही है यह तो आपने देख लिया है?

वकील– नही।

मै–फिर आपकी बात सही और उन सर्वज्ञ–ज्ञानियो की बात झूठी यह क्यो? ज्ञानियो को झूठा बनाने का दोष तुम्हे लगता है या नही?

तात्पर्य यह है कि ज्ञानियो के वचन पर प्रतीति करके कोई हानि नही उठा सकता। कदाचित् ज्ञानी स्वर्ग–नरक का स्वरूप बतलाकर किसी प्रकार का प्रलोभन देते तब तो उनके वचन पर अप्रतीति करने का कारण मिल सकता था मगर उन्होने ऐसा नही किया है। उन्होने पुण्य–पाप का फल बतलाते हुए स्वर्ग–नरक के स्वरूप का दिग्दर्शन करा दिया है और दोनो स परे हो जाने का उपदेश दिया है। मान लीजिए एक जौहरी ने धोखे मे आकर खोटा नग खरीद लिया तत्पश्चात उसे अपनी भूल मालूम हुई। वह जोहरी सरल भाव से दूसरे जौहरियो को वो खोटा नग बतलाकर कहता है कि

जब ज्ञानियो ने इस प्रकार कहकर हम सावचेत किया है तब उनके वचना पर अविश्वास करने का कोई भी कारण नही रहता।

यहा तरापथी भाई प्रश्न कर सकते हैं कि हम लोग पुण्य और पाप दोनो का ही त्याग करते हैं तो उसमे क्या हर्ज है? ऐसा कहने वाला को यह विचारना चाहिए कि पहले शुभ का त्याग करना उचित है या अशुभ का? जब शुभ ओर अशुभ दोनो का एक साथ त्याग होना सम्भव नही है तब पहले अशुभ को त्यागना ही उचित कहा जा सकता है। अशुभ पाप को न त्याग करके शुभ पुण्य का त्याग कर देना उचित नहीं है।

उदाहरण के लिए –एक मनुष्य अपनी भुजाओ के बल से नदी पार करना चाहता हे। पर भुजाओ के बल से वह नदी पार नही कर सकता। इस कारण उसने नाव का आश्रय लिया। किनारे पहुचकर उसे नाव त्यागनी ही पडेगी। नाव त्यागे बिना वह इच्छित स्थान पर नही पहुच सकता। लेकिन वह मनुष्य अगर यह सोचता है कि जब पहले पार पहुचकर नोका त्यागनी ही पडगी ता पहल से ही उसे क्यो ग्रहण करू? ऐसा सोचकर वह नदी के प्रबल प्रवाह म कूद पडता हे तो क्या वह विवेकशील कहलाएगा? इस अविवेक का फल आत्महनन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

रल पर आरूढ होकर लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं परन्तु इच्छित स्टेशन के आने पर रल को त्याग देते हैं या नहीं? अगर न त्याग तो कहीं क कहीं जा पहुचगे। इस प्रकार बहुत दूर के सफर के लिए रेल का सहारा लेना आवश्यक समझा जाता हे और फिर उसका त्यागना भी आवश्यक समझा जाता हे। बिना त्यागे अभीष्ट स्थान पर नही पहुच सकते।

इसी प्रकार पाप का नाश करने के लिए पहले पुण्य का आश्रय लिया जाता है ओर जब पाप का नाश हा जाता हे तब पुण्य भी त्याज्य हो जाता ह। दोना का सर्वथा क्षय हाने पर मोक्ष मिलता हे। पुण्य तभी उपादय माना गया है जब माक्ष की साक्षात साधना न हा सके मगर अन्तिम कक्षा तक पुण्य म ही पड रहन का उपदश नही दिया गया हे।

इस प्रकार भगवती सूत्र के सुनने क दो भद हैं। अज्ञान मिट जाना साक्षात फल है और मोक्ष प्राप्ति हाना परम्परा फल हे। इस प्रकार फल का विवचन हुआ।

अब शष रहा सम्बन्ध। सा 'इस शास्त्र का प्रयाजन यह हे' यही सम्बन्ध ह अथवा या समझना चाहिए कि प्रकृत शास्त्र म जिन अर्थो की

व्याख्या की गई है वह अर्थ वाच्य है और शास्त्र उनका वाचक है। इस प्रकार वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध भी यहा विद्यमान है।

सूत्र के आरम्भ मे आचार्य ने चार बाते बताने की प्रतिज्ञा की थी। वह चारो बाते बतला दी गई हैं। इसके अनन्तर आचार्य कहते हैं कि– इस शास्त्र मे सौ से भी अधिक अध्याय है। अध्याय कहिए या शतक कहिए एक ही बात है। अन्य शास्त्रो के विभाग अध्ययन या अध्याय कहलाते हैं इस शास्त्र के शतक कहलाते हैं। इस शास्त्र मे दस हजार उद्देशक हैं। इस मे छत्तीस हजार प्रश्न और दो लाख अट्ठासी हजार पद हैं।

यद्यपि शास्त्र का यह परिणाम शास्त्र मे ही उपलब्ध होता है फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि यह परिणाम उस समय का है जब भगवान ने उसका उपदेश दिया था। उस समय उस शास्त्र के उतने ही उद्देशक और पद थे। किन्तु जब यह लिपिबद्ध हुआ तब का परिणाम निराला हे।

प्रत्येक अध्याय–शतक को सरलता से समझने के लिए ओर सुख–पूर्वक धारण करने के लिए विभक्त करके उदेशको मे बाट दिया गया हे। इसके अतिरिक्त आचार्य जब शास्त्र पढाते थे तक उपधान अर्थात् तप कराते थे। यह प्रथा अब भग हो गई है। परन्तु प्राचीनकाल मे यह नियम था कि अमुक उद्देशक को पढते समय इतनी तपस्या की जाये। तात्पर्य यह है कि अध्याय के अवान्तर विभाग उद्देशक कहलाते है। आचार्य तप के विधान के साथ शिष्य को जो उपदेश आदेश दे कि इतना पढो उसी का नाम उद्देशक हे। जैस अन्यान्य ग्रन्थो मे पाठ या प्रकरण होते है वैसे ही इस शास्त्र मे उद्देशक हैं। इनके उद्देशको के होने से शास्त्र का अध्ययन करने मे सुभीता होता है।

शास्त्रारम्भ

प्रथम शतक की सग्रहणी गाथा

रायगिहचलणदुक्खे, कखपओसे य पगइपुढवीओ ।
जावते नेरइए, वाले गुरुए य चलणाओ ।।

इस गाथा म श्री भगवती सूत्र के प्रथम शतक के अन्तर्गत दस उद्देशकों का नाम निर्देश किया गया है। दस उद्देशक इस प्रकार हैं–

(1) चलन–राजगृह नगर मे श्री गोतम स्वामी ने भगवान् महावीर से 'चलन के विषय म प्रश्न किया हे और भगवान् ने उसका उत्तर दिया है। इस प्रश्न म 'चलन शव्द पहले आया है अतएव प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक का नाम चलन है।

(2) दु ख–दूसरे उदेशक का नाम दु ख है। इसमे यह प्रश्न किया गया हे कि–हे भगवान ! जीवन अपने किये दु ख को भोगता हे? इत्यादि।

(3) काक्षा प्रदोष–तीसरा उद्देशक काक्षा प्रदोष है क्योकि उसम काक्षा–मोहनीय के विषय म प्रश्नोत्तर हैं।

(4) प्रकृति–चौथा उद्देशक प्रकृति हे। इसमे कर्म प्रकृतिया के सवध म प्रश्नात्तर हें।

(5) पृथिवी–पाचवे उद्देशक म पृथ्वी सवधी वर्णन होन से उस उद्दशक का नाम पृथिवी है।

(6) यावत–छठ उद्दशक मे यावत–जितनी दूर से सूर्य डूवता–निकलता दिखाई दता है आदि प्रश्नात्तर होगे। अतएव इस उद्दशक का नाम यावत है।

(7) नरयिक–सातव उद्देशक क नारकिया क विषय म प्रश्नात्तर हान स उसका 'नैरयिक' नाम है।

(8) वाल – आठव उद्देशक में वाल जीव सवधी प्रश्न हें अत वह 'वाल नाम उद्देशक कहलाता है।

(9) गुरूक – नौवे उद्देशक मे गुरु कर्म सबधी प्रश्नोत्तर हैं। जैसे जीवन भारी हल्का कैसे होता है इत्यादि। इसीलिए इस उद्देशक का नाम 'गुरूक है।

(10) चलना – दसवे उद्देशक मे 'जो चल रहा है वह चला नहीं' इस सबध मे प्रश्नोत्तर होंगे। इस कारण उसका नाम चलना' है।

यह पथम शतक के उद्देशको के सग्रह–नाम हैं। इन सग्रह नामो को सुनकर शिष्य ने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा–कि सर्वप्रथम गौतम स्वामी ने चलन प्रश्न पूछा है। मगर वह प्रश्न और उसका उत्तर क्या है ? अनुग्रह करके विस्तारपूर्वक समझाइए। तब सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी को विस्तार से समझाने लगे।

प्रथम उद्देशक का मगल

यद्यपि प्रस्तुत शास्त्र की आदि मे मगल किया जा चुका है फिर भी प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक की आदि मे विशेष रूप से पुन मगल किया गया है। इस मगल को करने का कारण यह नही कि शास्त्र अमागलिक है अतएव मगल करके उसे मागलिक बनाया जाये। किन्तु शास्त्र मागलिक हे इसी कारण यहा मगल किया गया है। किसी की पूजा इस कारण नही की जाती है कि वह पूजा के अयोग्य है वरन जो पूजा योग्य होता है उसी की पूजा की जाती है। जिस प्रकार पूजा के योग्य होने से पूजा की जाती है उसी प्रकार मगल के योग्य होने से सूत्र के लिए मगल किया जाता हे। श्री सुधर्मास्वामी कहते हैं–

नमो सुअस्स

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि श्रुत भी इष्ट देव रूप ही है।

प्रश्न–श्रुत इष्ट देव किस प्रकार है?

उत्तर–इसलिए कि अर्हन्त भगवान् श्री श्रुत को नमस्कार करते है।

प्रश्न–क्या अर्हन्त की वाणी को अर्हन्त ही नमस्कार करते हैं ?

उत्तर–अर्हन्त जैसे सिद्धो को नमस्कार करते हैं उसी प्रकार प्रवचन अर्थात् सिद्धान्त को भी नमस्कार करते हैं। इसी हेतु श्रुत को भी इष्ट देव कहा गया है।

प्रश्न–अर्हन्त श्रुत को नमस्कार करते हैं इस कथन मे कोई प्रमाण है?

उत्तर–हा प्रमाण क्यो नही है? अर्हन्त भगवान् जब समवसरण मे विराजते हैं तब कहते हैं–

णमो तित्थाय–नमस्तीर्थाय।

अर्थात तीर्थ को नमस्कार हो।

इस कथन से प्रतीत होता है कि अर्हन्त श्रुत को भी नमस्कार करते है।

प्रश्न–तीर्थकर तीर्थ को नमस्कार करते हैं तो श्रुत को नमस्कार करना कैसे कहलाया?

उत्तर–असली तीर्थ श्रुत ही है। श्रुत मे सम्पूर्ण द्वादशागी का ज्ञान अन्तर्गत हो जाता है। जिससे तिर जावे वही तीर्थ कहलाता है। यहा ससार–सागर से तिर जाने का अभिप्राय हे। श्रुत का सहारा लेकर भव्य जीव भवसागर के पार पहुचते हें, अतएव श्रुत तीर्थ कहलाता हे। इसी कारण अर्हन्त इस नमस्कार करते हैं।

प्रश्न–साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध हें। आपने श्रुत को तीर्थ के अन्तर्गत केसे कर लिया?

उत्तर–साधु, साध्वी और श्रावक–श्राविका तीर्थ नही हें ऐसी बात नही है। अनेक तीर्थ होन का निषेध करना हमारे कथन का अभिप्राय नहीं हे। साधु–साध्वी आदि चतुर्विध सघ भी तीर्थ कहलाता हे ओर श्रुत भी तीर्थ कहलाता है। साधु, साध्वी श्रावक ओर श्राविका रूप चतुर्विध सघ रूपी तीर्थ को अर्हन्त नमस्कार नहीं करते हैं। यद्यपि चतुर्विध सघ भी तीर्थ कहलाता हे जैसे कि इसी भगवती सूत्र क बीसवें शतक में भगवान् ने साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका को भी तीर्थ कहा है लेकिन अर्हन्त भगवान् तीर्थ को नमस्कार करते हैं वह तीर्थ यह नहीं है।

तात्पर्य यह है कि पवचन को ही वास्तव मे तीर्थंकर नमस्कार करते है और प्रवचन ही असली तीर्थ है। मगर सघ को लक्ष्य करके ही प्रवचन की प्रवृत्ति होती है किसी वृक्ष आदि को लक्ष्य करके नही। इस कारण सघ भी तीर्थ कहलाता है।

प्रश्न—क्या चतुर्विध तीर्थ को भगवान् नमस्कार नही करते?

उत्तर—गुण और गुणी मे भिन्नता है। दोनो सर्वथा एक नही है। गुणी को कल्प के अनुसार ही नमस्कार किया जाता है पर गुण के सम्बन्ध मे यह मर्यादा नही है। गुण को सर्वत्र नमस्कार किया जा सकता है। सम्यग्ज्ञान सम्यक्—दर्शन और सम्यक्—चरित्र गुण हैं। ज्ञान को धारण करने वाला ज्ञानी दर्शन को धारण करने वाला दर्शनी और चरित्र को धारण करने वाला चारित्री कहलाता है। चरित्र आदि गुण हैं और चारित्र आदि धारण करने वाला गुणी है। चरित्र धारण करने वाला चारित्री अपने कल्प का विचार करके किसी को नमस्कार करेगा परन्तु गुण के सम्बन्ध मे यह बात नही है। गुणी को नमस्कार करने मे कल्प नही देखा जाता। इस प्रकार अर्हन्त भगवान् गुण को ही नमस्कार करते है न कि गुणी को अर्थात् साधु, साध्वी आदि को। गुण को नमस्कार करना भाव तीर्थ को नमस्कार करना ही कहलाता है।

प्रश्न—अर्हन्त अपने बनाये हुए श्रुत को नमस्कार क्यो नही करते हैं।

उत्तर— श्रुत अर्हन्त भगवान् के परम केवल ज्ञान से उत्पन्न हुआ है तथापि ससार मे स्थिर भव्य जीवन इसी के सहारे तिरते है। अतएव श्रुत को भी इष्ट देव रूप ही समझना चाहिए।

क्षत्रिय अपनी तलवार और वैश्य अपनी दुकान एव बही को क्यो नमस्कार करते है? इसीलिए कि उनकी दृष्टि मे वह मागलिक है। यद्यपि तलवार और दुकान—बही आदि क्षत्रिय एव वैश्य की ही बनाई या बनवाई हुई है तथापि वह उनका सम्मान बढाने वाली हैं। अपनी वस्तु का स्वय आदर किया जायेगा तो दूसरे भी उसका आदर करेगे। तभी वह वस्तु आदरणीय समझी जायेगी।

ने श्रुत रूपी तीर्थ को नमस्कार किया है। अर्हन्त भगवान् वैसा ही आचरण करके भव्य जीवो के सामने आदर्श उपस्थित करते हैं जिससे उनका कल्याण हो सके।

अर्हन्त सिद्धों को नमस्कार करते हैं सो इसलिए कि अन्य जीव सिद्धो को नमस्कार करके अपना हित साधन करे। अर्हन्त भगवान् तो अपने अन्तराय कर्म का पूर्ण रूप से क्षय कर चुके हैं। अन्तराय कर्म के अभाव मे उनके लिए कोई विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता। अतएव विघ्न का उपशम करने के लिए अर्हन्त को सिद्धो को नमस्कार करने की आवश्यकता नहीं है। सिद्धों को नमस्कार करने से होने वाले फल की भी अर्हन्तों को आवश्यकता नही है। फिर भी छद्मस्थ जीवा के सामने सिद्धो को नमस्कार करने का आदर्श उपस्थित करने के हेतु ही अर्हन्त सिद्ध भगवान् को नमस्कार करते हैं।

आशय यह है कि भगवती सूत्र के प्रथम शतक की आदि मे गणधर न नाम सुअस्स कह कर श्रुत की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए ही श्रुत को नमस्कार किया हे। इस प्रकार नमस्कार करने से श्रुत पर भव्य जीवो की श्रद्धा वढगी भव्य जन श्रुत का आदर करेगे और एक–एक वचन को आदर के साथ चुनग। इसी आशय से प्रेरित होकर श्रुत को नमस्कार किया गया है।

प्रकृत शास्त्र का आरम्भ किस प्रकार हुआ है, यह आगे बतलाया जायगा।

मूल–तेण कालेण, तेण समएण रायगिहे णाम णयरे होत्था। वण्णओ तस्स ण रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए णाम चेइए होत्था। सेणिए राया। चिल्लणा देवी।

संस्कृतच्छाया–**तस्मिन् काले, तस्मिन् समये (तेन कालेन तेन समयेन राजगृह नाम नगरमभवत्। वर्णक । तस्य राजगृहस्य नगरस्य बहिरुत्तर–पौरस्तये दिग्भागे गुणसिलक नाम चैत्यमभवत्। श्रेणिको राजा। चिल्लणा देवी।**

शब्दार्थ–उस काल ओर उस समय मे राजगृह नामक नगर था। वर्णक। उस राजगृह नगरक वाहर उत्तर पूर्व के दिग्भाग म अर्थात ईशान काण म गुणसिलक नामक चैत्य (व्यन्तरायतन) था। वहा श्रणिक राजा ओर चिल्लणा दवी रानी थी।

विवचन–यहा सर्वप्रथम यह प्रश्न हो सकता हे कि काल और समय दाना पर्यायवाची शव्द हैं। फिर यहा काल और समय का भिन्न–भिन्न उल्लख क्या किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहा लौकिक काल और

समय से अभिप्राय नही है। यहा लोकोत्तर काल और लोकोत्तर समय की विवक्षा की गई है। दोनो शब्दो के अर्थ मे भेद भी है। जैसे लोक व्यवहार मे सम्वत और मिति दोनो का प्रयोग किया जाता है—दोनो के बिना, सिर्फ सम्वत् या मिति मात्र लिखने से पत्र या बही—खाता प्रमाणिक नहीं माना जाता, उसी प्रकार लोकोत्तर पक्ष मे सम्वत् के स्थान पर काल और मिति के स्थान पर समय का प्रयोग किया गया है।

कहा जा सकता है कि लौकिक सम्वत और मिति तो जगत्—प्रसिद्ध है पर लोकोत्तर काल और समय क्या है? इस का उत्तर यह है कि जैन शास्त्रों मे तीन पकार के काल माने गये हैं हीयमान, वर्द्धमान और अवस्थित। जिस काल मे निरन्तर क्रमश जीवो की अवगाहना बलवीर्य आदि की हानि घटती होती जाती है वह हीयमान काल कहलाता है। जिस काल मे निरन्तर पूर्वोक्त बातो की वृद्धि होती जाती है वह वर्द्धमान काल कहलाता है और जिस काल मे न हानि होती है न वृद्धि होती है वह अवस्थित काल कहलाता है। हीयमान और पर्द्धमान काल की प्रवृत्ति भरत ईरवत क्षेत्र मे होती है और अवस्थित काल की महाविदेहादि मे। वहा सदा प्रारम्भिक चतुर्थ काल के भाव बर्तते हैं यहा भरत क्षेत्र होने से—अवसर्पिणी उत्सर्पिणी की प्रवृत्ति होती है।

श्री सुधर्मास्वामी ने यह काल कह कर हीयमान काल अर्थात् अवसर्पिणी काल को सूचित किया है। अवसर्पिणी काल दस क्रोडाक्रोडी सागरोपम का होता है। इसी तरह उत्सर्पिणी काल अर्थात् वर्द्धमान काल भी दस कोडाकोडी सागरोपम का कहा गया है। दोनो कालो की (मिलकर) कालचक्र सज्ञा है। एक कालचक्र बीस क्रोडा—क्रोडी सागरोपम का होता है। कालचक्र की यह कल्पना जैन शास्त्रो की ही नही है मगर अन्य शास्त्रो मे भी ऐसी ही कल्पना की गई है। ज्ञानियो ने काल के सबध मे बहुत सूक्ष्म विचार किया है। जैस लोक मे एक साल होता है उसी प्रकार लोकोत्तर मे चार कोडा काडी सागरोपम का तीन कोडा कोडी सागरोपम का दो कोडा कोडी सागरापम का अथवा इससे कम का एक काल होता है।

सागरोपम का होता है। इस समय अवसर्पिणी काल का पाचवा आरा है। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। भगवान् महावीर स्वामी इस आरे के आरम्भ होने से पहले ही अर्थात चोथे आरे मे विचरते थे। उसी समय का यहा वर्णन है। अतएव उस काल का अर्थ है वर्त्तमान अवसर्पिणी काल का चौथा आरा।

अवसर्पिणी काल का चौथा आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक क्राडा क्राडी सागरोपम का होता है। इतने लम्बे काल मे से कब का यह वर्णन समझा जाये? अतएव उस काल मे विशेषता बतलाने के लिए यहा दो बातो का उल्लेख कर दिया है–भगवान् महावीर का और राजा श्रेणिक का। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वर्तमान अवसर्पिणी काल में और उसके चौथे आरे मे भी जब भगवान् महावीर विचरते थे और श्रेणिक नामक राजा था उस समय मे यह सूत्र बना है। अतएव समय का अर्थ हुआ–भगवान् महावीर और श्रेणिक राजा का विद्यमानता का समय।

समय बतलाने के पश्चात् क्षेत्र बतलाना चाहिये। अतएव यहा कहा गया है कि मगध देश मे राजगृह नामक विशाल नगर था। उस नगर मे प्रस्तुत प्रश्नोत्तर हुए जिससे शास्त्र की रचना हुई।

राजगृह नगर किस प्रकार का था? इस सबध मे सुधर्मास्वामी ने कहा हे कि उववाई सूत्र मे चम्पा नगरी का जो वर्णन किया गया है वही वर्णन यहा भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् चम्पा नगरी के समान ही राजगृह नगर था।

पहले क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर था। राजा जितशत्रु ने उसे क्षीणवास्तुक समझकर दूसरी जगह नगर बसाने का इरादा किया। उसने फल–फूल से समृद्ध एक चनक क्षेत्र देखकर उस स्थान पर 'चनकपुर नगर बसाया। कालक्रम स उस भी क्षीण मानकर वन मे एक अजेय वृषभ (बेल) देखकर उस स्थान पर 'ऋषमपुर' की स्थापना की। समय पाकर वह भी क्षीण हो गया। तब कुश (दूब) का गुल्म देखकर कुशाग्रपुर नामक नगर बसाया। जब कुशाग्रपुर कई बार आग से जल गया तब प्रसेनजित राजा ने राजगृह नामक नगर बसाया।

राजगृह नगर को जेन साहित्य एव बौद्ध साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त ह। भगवान् महावीर ओर बुद्ध न राजगृह म अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। 'पन्नवणा' सूत्र क अनुसार राजगृह नगर मगध देश की राजधानी था। महाभारत क सभा पर्व म भी राजगृह को जरासध के समय म मगध की राजधानी प्रकट किया गया हे। राजगृह का दूसरा नाम गिरिव्रज' भी

सागरोपम का होता है। इस समय अवसर्पिणी काल का पाचवा आरा है। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। भगवान महावीर स्वामी इस आरे के आरम्भ होने से पहले ही अर्थात् चौथे आरे मे विचरते थे। उसी समय का यहा वर्णन हे। अतएव उस काल का अर्थ है वर्त्तमान अवसर्पिणी काल का चौथा आरा।

अवसर्पिणी काल का चौथा आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक क्रोडा क्रोडी सागरोपम का होता है। इतने लम्बे काल मे से कब का यह वर्णन समझा जाये? अतएव उस काल मे विशेषता बतलाने के लिए यहा दो बातो का उल्लेख कर दिया है–भगवान् महावीर का और राजा श्रेणिक का। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वर्तमान अवसर्पिणी काल मे और उसके चौथे आरे मे भी जब भगवान् महावीर विचरते थे और श्रेणिक नामक राजा था उस समय मे यह सूत्र बना हे। अतएव समय का अर्थ हुआ–भगवान् महावीर और श्रेणिक राजा का विद्यमानता का समय।

समय बतलाने के पश्चात् क्षेत्र बतलाना चाहिये। अतएव यहा कहा गया है कि मगध देश मे राजगृह नामक विशाल नगर था। उस नगर मे प्रस्तुत प्रश्नोत्तर हुए जिससे शास्त्र की रचना हुई।

राजगृह नगर किस प्रकार का था? इस सबध मे सुधर्मास्वामी ने कहा हे कि उववाई सूत्र मे चम्पा नगरी का जो वर्णन किया गया है, वही वर्णन यहा भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् चम्पा नगरी के समान ही राजगृह नगर था।

पहले क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर था। राजा जितशत्रु ने उसे क्षीणवास्तुक समझकर दूसरी जगह नगर बसाने का इरादा किया। उसने फल–फूल से समृद्ध एक चनक क्षेत्र देखकर उस स्थान पर 'चनकपुर नगर बसाया। कालक्रम से उसे भी क्षीण मानकर वन मे एक अजेय वृषभ (बेल) देखकर उस स्थान पर 'ऋषमपुर' की स्थापना की। समय पाकर वह भी क्षीण हो गया। तब कुश (दूब) का गुल्म देखकर कुशाग्रपुर नामक नगर बसाया। जब कुशाग्रपुर कई बार आग से जल गया तब प्रसेनजित राजा ने राजगृह नामक नगर बसाया।

राजगृह नगर को जेन साहित्य एव बोद्ध साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हे। भगवान् महावीर और बुद्ध ने राजगृह मे अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। पन्नवणा सूत्र क अनुसार राजगृह नगर मगध देश की राजधानी था। महाभारत क सभा पर्व म भी राजगृह को जरासध के समय म मगध की राजधानी प्रकट किया गया हे। राजगृह का दूसरा नाम गिरिव्रज भी

बतलाया गया है। वहा पाच पहाडो का उल्लेख भी पाया जाता है। जैन शास्त्रो मे पाच पहाडो के नाम इस प्रकार मिलते है—वैभार विपुल उदय सुवर्ण और रत्नागिरी। इन्ही से मिलते—जुलते कुछ—कुछ भिन्न नाम वैदिक पुराणो मे भी पाये जाते है।

राजगृह का वर्तमान नाम 'राजगिर है। वह बिहार से लगभग तेरह मील दूर दक्षिण दिशा मे मौजूद है। जैन सूत्रो मे राजगृह से बाहर उत्तर पूर्व मे नालदा नामक स्थान का उल्लेख आता है। प्रसिद्ध नालदा विद्यालय पीठ उसी जगह था।

इसी सूत्र मे (भगवती में) दूसरे शतक के पाचवे उद्देशक मे राजगृह के गर्म पानी के झरने का उल्लेख है। उसका नाम महा पोषतीरप्रभ बतलाया गया है। चीनी यात्री फाहियान ने और ह्युएत्सिग ने गर्म पानी के झरने को देखा था ऐसा उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थो मे इस झरने का नाम तपोद बतलाया गया है।

भगवती सूत्र मे राजगृह नगर का वर्णन चम्पा नगरी के समान बतलाया गया है। चम्पा नगरी का वर्णन उववसई सूत्र मे किया गया है। उस वर्णन से तत्कालीन नागरिक जीवन पर अच्छा प्रकाश पडता है अतएव उसका सार यहा उद्धृत किया जाता है —

राजगृह नगर मनुष्यो से व्याप्त था। राजगृह के मार्ग की सीमा सैकडो और हजारो हलो द्वारा दूर—दूर तक जोती जाती थी। वहा की भूमि बढिया और उपजाऊ थी। वहा बहुसख्यक मुर्गे और साड थे। वह गन्ना यव और शालि से भरपूर था। नगर मे बैलो भैसो और मेढा की बहुतायत थी। वहा सुन्दर आकार वाले चैत्यो और सुन्दर युवतियो के सन्निवेशो की बहुलता थी। वहा घूसखोरो का गठकटो का बलात्कार प्रवृत्ति करने वाले भटो का (गुण्डा का) चोरो का और फसाने वालो का नाम—निशान तक न था। नगर क्षेम निरुपद्रव रूप था। वहा भिक्षुओ को अच्छी भिक्षा मिलती थी। विश्वासीजनो के लिए शुभ आवास वाला अनेक कुटुम्बपालको से भरपूर सतुष्ट और सुखी था।

राजगृह नगर आराम उद्यान कूप, तालाब दीर्घिका (बावडी) और पानी की क्यारियो (नहरो) के सौन्दर्य से समन्वित था। वह नन्दन वन के समान प्रकाश वाला थ। नगर के चारो ओर विशाल, गभीर गहरी और ऊपर नीचे समान खोदी हुई खाई थी। वह नगर चक्र गदा मुसढि (शस्त्र विशेष) उरोह (छाती को हनन करने वाला शस्त्र) शतघ्नी (सौ को मारने वाली तोप) ओर एक साथ जुडे हुए तथा छिद्ररहित किवाडो के कारण दुष्प्रवेश था। वह नगर वक्र धनुष की अपेक्षा भी अधिक वक्र किले से व्याप्त था। वह बनाये हुए ओर विभिन्न आकार वाले गोल कगूरो से सुशोभित था। वह अट्टालिकाओ से किले और नगर के बीच की आठ हाथ चौडी सडको से किले और नगर के द्वारो से और तोरणो से उन्नत एव पृथक–पृथक् राज मार्ग वाला था। उस नगर का सुदृढ परिघ और इन्द्रकील चतुर शिल्पकारो द्वारा बनाया गया था। उसग बाजार और व्यापारियो के स्थान थे और शिल्पकारो से भरा हुआ निर्वृत ओर सुखरूप था। वह नगर त्रिकोण स्थानो से तथा त्रिक (जहा तीन गलिया गिल) चोक और चत्वर (जहा अनेक रास्ते मिले) किराने की दुकान और विविध प्रकार की वस्तुओ स मडित था। सुरम्य था। वहा का राजमार्ग राजाओ से आकीर्ण था। अनेक बढिया–बढिया घोडो से मत्त हाथियो से रथ के समूहो स शिविकाओ से ओर सुखपालो से वहा के राजमार्ग खचाखच भरे रहते थे याना स तथा युग्मा स दो हाथ की वेदिका वाले वाहनो से युक्त थे। निर्मल एव नवीन कमलिनिया से वहा का पानी सुशोभित था। वह नगर धवल और सुन्दर भवना स सुशोभित था। ऊची आखो से देखने योग्य था। मन को प्रसन्नता दने वाला दर्शनीय अभिरूप और प्रतिरूप था।

पूर्वकालीन नागरिक जीवन आज जेसा नहीं था। प्राचीन वर्णना से स्पष्ट प्रतीत हाता हे कि उस समय का नागरिक जीवन आज के नागरिक जीवन स कही अधिक उन्नत सम्पन्न शान्तिपूर्ण ओर व्यस्तता से रहित था।

पहल क नागरिक ऋद्धि से सम्पन्न होने पर भी निरुपद्रव थे। राजा चाह स्वचक्री हा या परचक्री परन्तु प्रजा के साथ उसका सम्बन्ध ममतामय हाता था। राजा की आर स प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नही पहुचने पाता था। इसका कारण कवल राजा की कृपालुता ही नही थी वरन् प्रजा का बल भी था। उस समय की प्रजा शक्तिशाली थी। शक्तिशाली होने पर भी अगर उसम गुडापन हाता ता वह आपस म ही लड मरती पर एसा नही था। प्रजा म खूब शाति थी। इसी कारण प्रजा का जीवन उपद्रवहीन था। वास्तव म निर्बल प्रजा उपद्रवहीन नही हा सकती। निरुपद्रवता शक्ति का फल है।

राजगृह नगर से बाहर ईशान कोण मे गुणशीलक या गुणशील नाम चैत्यालय था। राजगृह मे श्रेणिक राजा राज्य करता था और चेलना नामक उसकी रानी थी।

पहले कहा जा चुका है कि यह सूत्र सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी के लिए कहा था। इस सबध मे टीकाकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि सुधर्मास्वामी के अक्षर तो सूत्र मे देखे नही जाते फिर कैसे प्रतीत हो कि यह शास्त्र सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी के पति कहा है? अथवा वही सूत्र है जो सुधर्मास्वामी ने कहा था।

इस तर्क का स्वय ही समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं–सब सूत्रो की वाचना सुधर्मास्वामी द्वारा ही की गई है। इसका प्रमाण यह है–

तित्थ च सुहम्माओ निरवच्चा गणहरा सेसा।

अर्थात–सुधर्मास्वामी का ही तीर्थ चला है। अन्य गणधरो के शिष्य परम्परा नही हुई है। सिर्फ सुधर्मास्वामी के ही शिष्य प्रशिष्य हुए है।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि सुधर्मास्वामी ने जम्बू स्वामी को ही यह सूत्र सुनाया यह कैसे मान लिया जाये? इसका उत्तर यह है कि जम्बू स्वामी ही सुधर्मास्वामी के पट्ट शिष्य को सबोधन करके ही सूत्र कहा जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि सुधर्मा स्वामी से ही तीर्थ चला यह तो ज्ञान हो गया मगर सुधर्मा स्वामी ने ही यह सूत्र जम्बू स्वामी को सुनाया है इसका विषय मे क्या प्रमाण है ? टीकाकार कहते है–इस विषय मे यह प्रमाण हे–

जइ ण भते !पचमस्स अगस्स विआह पण्णत्तीए समणेण भगवया महावीरेण अयमट्ठे पण्णत्ते छट्ठस्स ण भते! के अट्ठे पण्णत्ते?

–णायाधम्मकहा ।

टीकाकार कहते हैं प्रस्तावना के इस सूत्र को मूल टीकाकार ने सम्पूर्ण शास्त्र को लक्ष्य करके व्याख्यान किया है परन्तु मैंने प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक को लक्ष्य करके ही व्याख्या की है। इसका कारण यह हे कि शास्त्रकार ने प्रत्येक शतक ओर प्रत्येक उद्देशक के आरम्भ मे अनेक से उपोद्घात किया हे। जब अलग–अलग उपोद्घात पाया जाता है तो फिर यह उपोद्घात वाक्य सम्पूर्ण सूत्र को लक्ष्य करके क्यो समझना चाहिए?

यहा टीकाकार ने एक बात और स्पष्ट की है। वह लिखते हैं कि यद्यपि मूल टीकाकार ने मगलाचरण सबधी पदो की टीका नही की है फिर भी हमने उनकी टीका कर दी है। प्राचीन टीकाकार द्वारा इन पदो की टीका न करने का कोई खास कारण अवश्य रहा होगा। समवत उनके समय मे यह पाठ ही न रहा हो।

पहले प्रस्तावना सबधी जो मूल पाठ दिया गया है, उसके सबध मे शका उठाई जा सकती है। वह यह कि पहले यह कहा जा चुका है कि प्रस्तुत सूत्र सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को सुनाया था। साथ ही यह भी कहा गया है कि राजगृह नगर म यह सूत्र सुधर्मा स्वामी ने सुनाया था। जब राजगृह नगर म ही यह सुत्र सुनाया गया तो स्पष्ट है कि सूत्र सुनाने के समय राजगृह नगर विद्यमान था। मगर 'रायगिहे णाम्र णयरे होत्था अर्थात् राजगृह नामक नगर था इस भूत कालीन क्रिया से प्रतीत होता है कि सूत्र सुनाते समय राजगृह नगर विद्यमान नही था। अगर उस समय विद्यमान होता तो सुधर्मा स्वामी 'रायगिहे णाम णयरे होत्था' के स्थान पर 'रायगिहे णाम णयरे अत्थि'–राजगृह नामक नगर हे ऐसा कहते। 'राजगृह नामक नगर था ऐसा कहने स यह प्रतीत हाता हे कि राजगृह नगर पहले था–सूत्र सुनाते समय नही था। अगर सूत्र सुनाते समय राजगृह नगर नहीं था तो फिर राजगृह मे यह शास्त्र केस सुनाया गया? अगर था तो उसके लिए 'हात्था इस भूत कालीन क्रिया का प्रयोग किस अभिप्राय से किया गया हे? अत्थि (हे) एसा वर्तमान काल सबधी प्रयोग क्या नही किया गया?

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य देते हैं कि सूत्र सुनाते समय भी राजगृह नगर विद्यमान था। फिर भी उसके लिए 'नगर था' इस प्रकार की भूतकालीन क्रिया का प्रयाग किया गया हे। इस प्रयोग का कारण यह है कि यह अवसर्पिणी काल हे। इस काल म क्रमश हीनता हाती जाती हे। हीनता का वाह्य रूप किसी समय म दृष्टिगाचर हाता हे। किन्तु सूक्ष्म रूप म प्रतिक्षण किंचित हीनता हा रही है। अतएव भगवान महावीर क समय म राजगृह नगर

जिस ऋद्धि आदि से सम्पन्न था वह ऋद्धि आदि सुधर्मा स्वामी के समय मे ज्यो की त्यो नही थी। यद्यपि भगवान् महावीर के समय मे और सुधर्मा स्वामी द्वारा इस सूत्र की वाचना देने के समय मे बहुत बडा अतर नही था तथापि थोडे से समय मे भी कुछ न्यूनता आ ही गई थी। इसी अभिप्राय से सुधर्मा स्वामी ने 'राजगृह नगर है ऐसा न कहकर 'राजगृह नगर था' ऐसा कहा है।

इस अवसर्पिणी काल मे पहले शुभ भावो का जैसा प्रादुर्भाव था वैसा आज नही है। लोग आज भी कहते हैं अब वह दिल्ली कहा हैं? अर्थात् स्थान चाहे वही हो नाम भी वही हो पर रचना वह नही रही। इसी प्रकार सुधर्मा स्वामी के कथन का अभिपाय यह है कि भगवान् महावीर के समय का राजगृह नगर जैसा था अब वैसा नही है। इस अवस्था भेद को सूचित करने के लिए ही उन्होने भूतकाल का प्रयोग किया है।

राजगृह नगर ऋद्धि और समृद्धि से भरपूर था। नगर के आस-पास के ग्राम नगर के महल भवन आदि नगर की ऋद्धि मे गिने जाते हैं और नगर धनधान्य से परिपूर्ण था यह नगर की समृद्धि कहलाती है।

राजगृह नगर स्वचक और परचक के भय से रहित था। अर्थात् वहा के निवासी नागरिको मे ऐसे गुण मौजूद थे कि राजा चाहे स्वचक्री हो या परचक्री वह पजा को सताने-दबाने की हिम्मत नही कर सकता था। वहा के नागरिक आलसी अथवा पुरुषार्थहीन नही थे। इसके अतिरिक्त वहा के निवासियो मे एक गुण यह भी था कि वे सदा प्रमुदित प्रसन्न रहते थे। जहा हर्ष है उत्साह है वहा सब प्रकार की ऋद्धि आप ही आकर बसेरा लेती है। उत्साही मनुष्य किसी प्रिय वस्तु का वियोग होने पर भी रोता झीकता नही है और उत्साहहीन मनुष्य उस वस्तु की मौजूदगी मे भी रोने से बाज नही आता। इस प्रकार जब तक उत्साह न हो किसी भली वस्तु का होना न होना समान है। राजगृह नगर के निवासी उत्साही थे इस कारण प्रसन्नचित्त रहते थे। इतना ही नही वरन दूसरी जगह जो मलीन बदन आते थे वह भी राजगृह मे पहुचकर हर्षित हो जाते थे। जैसे ताप से पीडित पुरुष किसी शीतल उद्यान मे पहुचकर हर्षित हो जाता है उसी प्रकार अगर कोई दीन-दुखिया भूखा-प्यासा राजगृह मे आ जाता था तो वह भी हर्षित हो जाता था।

राजगृह नगर मे नागरिक इस बात की बडी सावधानी रखते थे कि हमारे नगर मे आकर कोई उदास न रहे।

अवकाश के अभाव से राजगृह नगर का विशेष वर्णन नही किया जा सकता। उसका ठीक तरह वर्णन करने के लिए काफी समय की आवश्यकता है। 'उववाई सूत्र मे जो वर्णन चम्पा नगरी का दिया गया है वही वर्णन यहा समझ लेना चाहिए। उस वर्णन से तात्कालिक नागरिक जीवन की अनेक विशेषताओ पर प्रकाश पडता है।

तस्स ण रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीमाए गुणसिलए णाम चेइए होत्था।'

इस पाठ मे 'रायगिस्स णयरस्स यहा षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है मगर होनी चाहिये थी पाचवी विभक्ति। प्राकृत भाषा की शैली की विचित्रता के कारण ऐसा प्रयोग किया गया है। अतएव 'राजगृह नगर से बाहर उत्तर पूर्व दिग्भाग मे गुणशील नाम चैत्य था' ऐसा अर्थ करना चाहिए।

यहा चेत्य शब्द के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। '**चित्र् चयने** धातु स चैत्य शब्द बना है। लेपन करने को या सग्रह करने को चिति' कहत हे तथा लपन या सग्रह करने के कर्म को 'चैत्य कहते हैं। मतलब यह है कि उपचय रूप वस्तु चैत्य कहलाती हे।

शव का अग्नि सस्कार करने के लिए लकडियो का जो उपचय किया जाता है उस चिता कहते हैं। चिता सबधी को चेत्य कहते हैं। यह सज्ञा शब्द है। पहले इसी अर्थ म चेत्य शब्द का प्रयोग होता था। मगर जब मूर्ति पूजा का पक्ष प्रबल हुआ तो इस अर्थ मे खीचतान होने लगी। उस समय मूर्ति को ओर मूर्ति स सबध रखने वाले मकान को भी चेत्य कहा जान लगा। मगर जब मूर्ति नही थी तब भी चेत्य शब्द का प्रयोग होता था। इससे यह स्पष्ट ह कि चैत्य' शब्द का अर्थ मूर्ति नहीं है। जब तक मूर्ति नही थी तब तक 'चेत्य शब्द साफ ओर व्युत्पत्ति सगत अर्थ किया जाता था मगर मूर्ति का पक्ष आने पर सज्ञा शब्द चैत्य का रूढ मान लिया। 'चेत्य शब्द का अर्थ ज्ञान अथवा साधु भी हाता है।

चिती–सज्ञान धातु से भी चेत्य शब्द बनता हे। अत ज्ञानवान का चत्य कहा जाता हे।

दिगम्बर सम्प्रदाय क मुख्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी न कहा हे–

बुद्ध ज बोहन्तो अप्पाण वेइयाइ अण्ण च ।
पचमह व्वयसुद्ध णाणमय जाण चेदिहर ।।

षट्प्राभृत बोधप्राभृत

अर्थात्—साधुओ को बुद्ध कहना चाहिए। जो स्वय को तथा दूसरो को बोध देते है जिनके पाच महाव्रत है, उन्हे चैत्यग्रह मन्दिर समझो।

चैत्य रूप ज्ञान जहा पर हो उसे चैत्यालय कहते हैं।

यहा जिस गुणशील नाम 'चैत्य का उल्लेख आया है उसके सबध मे टीकाकार आचार्य स्वय लिखते है कि वह व्यन्तर का मन्दिर था, अर्हन्त का नही।

मूर्ति पूजक भाई जहा कही चैत्य' शब्द देखते हैं, वही अर्हन्त का मन्दिर अर्थ समझ लेते है। उनकी यह समझ अपने आराघ्य आचार्य के कथन से भी विरुद्ध है।

मूल—ते ण काले ण ते ण समए ण समणे भगव महावीरे, आइगरे, तित्थयरे, सहसबुद्धे, पुरिसुत्तमे, पुरिससीहे पुरिसवरपुडरीए, पुरिसवरगधहत्थी लागुत्तमे, लोगनाहे, (लोगहिए) लोगपईवे लोगपज्जोयगरे अभयदए, चम्खुदए, मग्गदए सरणदए(बोहिदए) ध ाग्गदए धम्मदेसए, (धम्मनायगे), धम्मसारही, धम्मवरचाउरतचक्कवट्टी अप्पाडिहयवरनाण— दसणधरे, वियट्टछउमे जिणे जाणए बुद्धे बोहए मुत्ते मोयए सव्वण्णू सव्वदरिसी सिवमयलगरुअगणन्तमक्खयगव्वाबाहगपुणराविति्य सिद्धिगइनामधेय ठाण सपाविउकामे जाव समोसरण। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया।

सस्कृतच्छाया—तस्मिन् काले तसिमन् समये श्रमणो भगवान् महावीर आदिकर तीर्थकर, सहसबुद्ध पुरुषोत्तम पुरुषसिह पुरुषवरपुण्डरीकम् पुरुषवरगन्धहस्ती लोकोत्तम लोकनाथ (लोकहित) लोकप्रदीप लोकप्रद्योतकर, अभयदय, चक्षुर्दय मार्गदय शरणदय (बोधिदय) धर्मदय धर्मदेशक (धर्मनायक) धर्मसारथि धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ति अप्रतिहतवरज्ञान—दर्शनधर व्यावृत्तछद्मा जिन ज्ञायक बुद्ध बोधक मुक्त मोचक सर्वज्ञ सर्वदर्शी शिवम चलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिक सिद्धिगतिनाम— धेय स्थान सप्राप्तुकाम यावत् समवसरण। पर्षद निर्गता। धर्म कथित। पर्षद् प्रतिगता।

मे उत्तम गधहस्ती के समान लोकोत्तम (लोकहितकर) लोकप्रदीप लोक मे दीपक समान लोकप्रद्योतकर–लोक मे उद्योत करने वाले अभयदय–अभय देने वाले चक्षुर्दय–नेत्र देने वाले मार्गदय–मार्ग देने वाले शरण देने वाले (बोधि–सम्यक्त्व देने वाले) धर्मदाता धर्म की देशना देने वाले (धर्म नायक) धर्म रूपी रथ के सारथी धर्म के विषय मे उत्तम चातुरत चक्रवर्ती के समान, अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन के धारक, छद्म (कपट से रहित जिन राग द्वेष को जीतने वाले सब तत्वो के ज्ञाता, बुद्ध बोधक–तत्वो का ज्ञान देने वाले बाह्य –आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त मोचक–मुक्ति देने वाले सर्वज्ञ सर्वदर्शी–(भगवान महावीर) शिव अचल रोगरहित अनन्त अक्षय, व्याबाध रहित पुनरागमनरहित सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले पधारे। परिषद निकला। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। परिषद् लौट गई।

विवेचन–काल और समय की व्याख्या पहले के समान यहा भी समझ लनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जब अवसर्पिणी काल का चौथा आरा था और जब राजगृह नगर गुणशीलक चैत्य, श्रेणिक राजा और चेलना रानी थी उस समय भगवान महावीर उस चैत्य मे पधारे।

भगवान् महावीर कौन और कैसे हैं ? यह बतलाने के लिए शास्त्रकार न भगवान क लिए कतिपय गुणो का परिचय दिया हे। उनके नाम के पहले उन्ह श्रमण ओर भगवान् यह विशेषण दिये गये हे। श्रमण शब्द का क्या अर्थ है? यह देखना आवश्यक हे।

श्रम धातु से श्रमण शब्द बना हे। श्रम धातु का अर्थ हे तप करना और परिश्रम करना। श्राम्यति तपस्यति इति श्रमण अर्थात् जो तप तपते हैं तप करन म जो परिश्रम करते हें वह श्रमण' कहलाते हैं। इस प्रकार श्रमण का अर्थ तपस्वी' होता है।

प्रश्न किया जा सकता हे कि भगवान् जब गुणशीलक चेत्य म पधारे तब कौन–सा तप करत थ? कवल ज्ञान की प्राप्ति क पश्चात् उनके तप करने का न कही उल्लेख मिलता हे और न उस समय तप करन की आवश्यकता ही थी। फिर उन्ह श्रमण क्या कहा गया हे?

इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि जहा चरित्र हे वहा तप भी हे। इस सबध स भगवान महावीर को उस समय भी तपस्वी या श्रमण कहने म कोई बाधा नही हे।

इसके अतिरिक्त भगवान् महावीर ने कवलज्ञान की प्राप्ति स पहल बारह वर्ष क लम्बे समय तक घोर तपश्चर्या की थी। भगवान की तपश्चर्या

असाधारण और महान थी। अतएव उस तपश्चर्या के कारण भगवान् को श्रमण' यह सार्थक विशेषण लगाया जाता है। केवलज्ञान की प्राप्ति से पहले और बाद मे भगवान् की आत्मा तो एक ही थी। केवलज्ञान प्राप्त होने से भगवान् कोई दूसरे नही हो गये थे। अतएव उस असाधारण तपस्या के कारण उन्हे केवलज्ञानी होने के पश्चात् भी श्रमण' कहना अनुचित नही है।

अथवा– समण शब्द का सस्कृत रूप समना भी होता है। शोमनेन मनसा सह वर्त्तत्त, इति समना अर्थात् जो प्रशस्त मन से युक्त हो–जिसका मन प्रशस्त हो–वह समन या समण कहलाता है।

प्रश्न– भगवान केवली अवस्था मे तेरहवे गुणस्थान मे वर्तमान थे। उनके योग विद्यमान तो थे पर वे मनोयोग के व्यापार से रहित थे। मन मे जानना या विचारना इन्द्रियजन्य परोक्ष ज्ञान कहलाता है और भगवान परोक्ष ज्ञान से रहित थे। पोद्‌गलिक आकृति के रूप मे उनमे मन रहता हे परन्तु व उसे काम नही लेते। इसी से उन्हे मनोऽतीत कहते है। ऐसी दशा मे भगवान् प्रशस्त मन वाले कैसे कहला सकते हैं?

उत्तर–स्तुति का प्रकरण होने से भगवान् को समन कहने म कोई बाधा नही है। भक्तजन भक्ति मे इतने विह्वल हो जाते हैं कि उनकी तुलना बालक से की जा सकती है। बालक बनकर भक्त भगवान् की स्तुति करते हे। यद्यपि जल मे स्थित चन्द्रमा हाथ नही आता है और न बालक अपनी माता की गोद मे बैठा–बैठा चन्द्रमा को पकड ही सकता है फिर भी बालक चन्द्रमा को पकडने के लिए झपट पडता है। इससे चन्द्रमा तो हाथ नही आता मगर बालक का मन हर्षित हो जाता है।

कल्याण मदिर के कर्ता ने इसी भाव को दूसरे शब्दो मे प्रकट किया है। एक बालक समुद्र देखने गया। उसके पिता ने उसके आने पर पूछा–समुद्र कितना बडा है? उत्तर मे बालक ने अपने दोनो हाथ फैला दिये और कहा इतना बडा है। यद्यपि समुद्र बालक के हाथो के बराबर नही है फिर भी बालक अपने हर्ष को किस प्रकार प्रकट कर सकता था। उसन हाथ फेलाकर ही अपना भाव और हर्ष प्रकाशित किया।

इसी प्रकार हमारे पास हर्ष प्रकट करने के लिए और क्या है? अतएव प्रसन्न मन रखकर हम भगवान की स्तुति करते हे।

सगत प्रामाणिक ही होता है अतएव भगवान को 'समण कहने मे कोई बाधा नही हे।

अथवा–धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं इस नियम के अनुसार समणति–इति समण ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिए। इसका अर्थ है–प्राणी मात्र क साथ समतामय समान व्यवहार करने वाले। यद्यपि भगवान् देवराज इन्द्र द्वारा भी पूज्य हैं फिर भी वे सब प्राणियो को सम देखते हैं। समस्त प्राणियो मे भगवान् सम हैं अत उन्हे 'समण कहते हैं।

भगवान समस्त प्राणियो को समभाव से देखते हैं इसका प्रमाण क्या है? इस शका का समाधान यह है कि यदि भगवान् समभावी न होते तो गौतम स कहत –हे गोतम! मैं पूर्णरूप से निर्विकार एव ससार से अतीत था मगर ससार का उद्धार करने के लिए मैं ससार मे अवतीर्ण हुआ हू। इस प्रकार कह कर भगवान् ससारी प्राणियो से अपनी विशिष्टता एव महत्ता प्रकट करते। किन्तु भगवान् समभावी थे इस कारण उन्होने ऐसा नहीं कहा। इसके विरुद्ध उन्होंने कहा है–हे गोतम! एक दिन मैं भी पृथ्वीकाय मे था। मैं पृथ्वीकाय से निकल आया परन्तु मेरे बहुत–से साथी अब भी वही पडे हैं।

इस प्रकार अपनी पूर्वकालीन हीन दशा प्रकट करके अन्य प्राणिया के साथ अपनी समता प्रकट की है। उन्हाने यह भी घोषणा की हे कि विकारा पर विजय प्राप्त करते–करते मै इस स्थिति पर पहुचा हू ओर तुम भी प्रयत्न करक इसी स्थिति का प्राप्त कर सकते हो। जो भगवान् इन्द्रो द्वारा पूजित हैं इन्द्र जिनका जन्म–कल्याणक मनात हैं जा त्रिलोक पूज्य ओर परमात्म पदवी का प्राप्त कर चुके हैं वही जब अपना पृथ्वीकाय म रहना प्रकट करते हैं तब उनके साम्यभाव म क्या कमी हे?

परमात्मा न पृथ्वीकाय के जीव रूप म अपनी पूर्वकालीन स्थिति बता कर उन जीवा क साथ अपनी मोलिक एकता द्योतित की हे। ऐसी स्थिति म हमे विचारना चाहिए कि हम उन क्षुद्र समझे जाने वाल जीवा स किस प्रकार घृणा करें? भल ही हम इस समय साधक या उपासक दशा म हा फिर भी हमारा ध्यय ता वही पूर्ण समभाव होना चाहिए जा साक्षात् परमात्मा भगवान् महावीर मे था।

भगवान् न न कवल पशुआ–पक्षिया क प्रति ही वरन कीट–पतगा क प्रति भी और उनस भी निकृष्ट एकन्द्रिय जीवा क प्रति भी साम्यभाव व्यक्त किया है। मगर मनुष्य मनुष्य क प्रति भी समभाव न रक्ख ता वह कितना गिरा हुआ है? भगवान क मार्ग स कितना दूर ह?

भगवान ने पृथ्वीकाय के जीवो से अपना सबध दिखाना पारम करके बढते बढते सब जीवो से अपना सबध बताया है। कभी किसी ने सुना है कि भगवान महावीर किसी जीवयोनि मे नही रहे? प्रत्येक आत्मा अनादि काल से भव भ्रमण कर रही है। भगवान् की आत्मा भी अनादि काल से ससार मे भ्रमण कर रही थी। उनके सिर्फ सत्ताइस भव ही देखने से काम नही चलेगा। यद्यपि उनके अनन्त भवो का वर्णन लिखा नही है मगर केवल लिखी हुई बात कहना ही व्याख्यान नही है।

भगवान ने गौतम से कहा—हम और तुम पृथ्वीकाय मे रह आये है। हम आ गये और हमारे कई साथी अभी वही पडे हैं। उनके वहा पडे रहने का कारण प्रमाद है और हमारे निकल आने का कारण प्रमाद का त्याग है। भगवान के इस कथन का आशय यही है कि मूल रूप से सब जीव मेरे ही जैसे है। अगर प्रमाद का परित्याग करे तो वे भी परमात्मपद प्राप्त कर सकते है।

धर्म का मुख्य ध्येय आत्म—विकास करना है। अगर धर्म से आत्मा का विकास न होता तो धर्म की आवश्यकता ही न होती। अत भगवान महावीर ने ऐसे धर्म का उपदेश दिया है जिससे तुच्छ से तुच्छ प्राणी भी अपना आत्मविकास साध सकता है। उन्होने अपने अनेकानेक पूर्वभवो का उल्लेख करके और अतिम जीवन मे अतिशय साधना करके आत्मविकास की शक्यता प्रकट की है। उनके अतीत और अतिम जीवन मनुष्य को महान आश्वासन देने वाले एव मार्गदर्शी है। उन्होने अपने जीवन व्यवहार द्वारा एव धर्मदेशना द्वारा आत्मा को परमात्मा बनने का नर को नारायण बनने का एव भक्त का स्वय भगवान बनने का मार्ग बताया है। मगर उस मार्ग पर चलने के लिए प्रमाद का परित्याग करना परमावश्यक है।

आखे बनाई हैं पर डाक्टर ने कितनी आखे बनाई हैं ? ससार भर के डाक्टर मिलकर कुदरत के समान एक भी आख नही बना सकते।

यहा आखे पुण्य रूपी डाक्टर ने बनाई हैं। आख की थोडी सी खराबी मिटाने वाले डाक्टर को याद करते हो उसके प्रति कृतज्ञ होते हो तो उस पुण्य रूपी महान् डाक्टर को क्यो भूलते हो? पुण्य की इन आखो से पाप तो नही करते? दुर्भावना से प्रेरित होकर परस्त्री की ओर तो नही ताकते? यह आखे बुरे भाव से परस्त्री को देखने के लिए नहीं है।

मनुष्य को जो शुभ सयोग प्राप्त हैं, अन्य जीवो को नही। मनुष्य –शरीर किस प्रकार मिला है इसे जानने के लिए पिछली बाते स्मरण करो। अगर आप चिर–अतीत की घटनाओ पर दृष्टि–निपात करेगे तो आपके राम–रोम खडे हो जाएगे। आप सोचने लगेगे –रे आत्मा! तुझे कैसी अनमोल वस्तु मिली है और तू उसका कितना जघन्य उपयोग कर रहा है? हे मानव! तुझे वह शरीर मिला है जिसमे अर्हन्त, राम आदि पुण्य पुरुष हुए थे। ऐसी अमूल्य एव उत्तम वस्तु पाकर भी तू इसका दुरुपयोग कर रहा है। मानो यह शरीर तुच्छ है।

इस शरीर की तुलना मे ससार की बहुमूल्य वस्तु भी नही ठहर सकती। एक मनुष्य–शरीर के सामने ससार की समस्त सम्पत्ति कोडी कीमत की भी नही है। एसा मूल्यवान् मानव–शरीर महान् कष्ट सहन करने के पश्चात् प्राप्त हुआ है। न जान किन–किन योनियो म रहकर आत्मा ने मनुष्य योनि पाई है। अतएव शरीर का मूल्य समझो और प्राणी मात्र के प्रति समभाव धारण करो। आज तुम जिस जीव क प्रति घृणाभाव धारण करते हो न जाने कितनी बार उसी जीव के रूप म तुम रह चुके हो। भगवान् का कथन इस सत्य का साक्षी है।

भगवान् अपने अतीत कालीन समस्त भवो को जानते थे अतएव समस्त प्राणियो पर उनका समभाव था।

कहा जा सकता है कि गृहस्थी की झझटो मे फसा हुआ मनुष्य समभाव कैस धारण कर सकता है? और यदि वह समभावी बनता है ता अपना व्यवहार कैस चला सकता है? समभाव धारण करने पर केसे दुकान चलाई जायेगी? कैसे किसी का ठगा जायेगा? और केसे जिया जायेगा? अत समभाव का उपदश चाह साधुओं क लिए उपयुक्त हा गृहस्था क लिए नहीं।

लकिन विचार करा की यह प्रणाली ही विपरीत हे। यदि समभाव स ससार का काम नहीं चल सकता ता क्या विषमभाव स काम चलगा? अगर

डाक्टर कहता है कि शुद्ध हवा चलने से हमारा काम नही चलता क्योकि इससे रोग नही होते। तो डाक्टर के इस कथन को आप कैसे समझेगे?

बुरा।

धनिको ने बहुत–सा अनाज खरीद कर भर लिया। लेकिन वर्षा ठीक होने लगी इसलिए वे रोने लगे कि अनाज सस्ता होने से हमारा दीवाला निकल जायेगा। वे चाहते है कि या तो अतिवृष्टि हो जाये या अनावृष्टि हो जाये जिससे फसल गिबड जावे। क्या धनिको की इस इच्छा को सब लोग ठीक कहेगे?

नहीं।

इसी प्रकार स्वार्थ–लोलुप, लोभी लालची लोग यह कहते हैं कि समभाव से काम नही चल सकता। मगर जो लोग अपना स्वार्थ छोड कर अथवा अपने स्वार्थ के समान ही दूसरो के स्वार्थ को महत्त्व देकर विचार करते है वे जानते है कि समभाव से ही ससार का काम चल सकता है। समभाव से ही ससार स्थिर रह सकता है। समभाव से ही स्वर्ग के समान सुखमय बन सकता है। समभाव से ही शान्ति और सन्तोष से परिपूर्ण जीवन बन सकता है। समभाव के बिना ससार नरक के तुल्य बनता है। समभाव के अभाव मे जीवन अस्थिर अशान्त क्लेशमय और सन्तापयुक्त बनता है। ससार मे जितनी मात्रा मे समभाव की वृद्धि होगी उतनी ही मात्रा मे सुख की वृद्धि होगी।

डाक्टर अपने जघन्य स्वार्थ की साधना के लिए वायु को विकृत करने की इच्छा करता है। उसकी इच्छा पूरी होने से ससार मे खराबी पैदा होती है। इसका अर्थ यह है कि समभाव न रहने से ससार की खराबी होगी।

समभाव अमृत है और विषमभाव विष है। अमृत से काम न चल कर विष से काम चलेगा यह कथन जैसे मूर्खो का ही हो सकता है इसी प्रकार समभाव से नही वरन् विषम भाव से ससार चलता है यह कहना भी मूर्खो का ही है।

पद्मावती रानी ने अपने पति कोणिक को भडकाया। उसने कहा–'सम्पूर्ण राजकीय वैभव का सार हार हाथी ही है। बहिलकुमार ने वह ले लिया वह तो मक्खन था। छाछ के समान इस राज्य मे क्या रक्खा है? तुम निस्सार राज्य मे क्यो भरमा गये? अगर हार–हाथी न मिला तो हम तुम राजा–रानी ही क्या रहे?

राजा कोणिक ने पहले तो कह दिया कि स्त्रियो की बातो मे लग कर मैं अपने भाई से विरोध नही कर सकता। लेकिन पद्मा ने कोणिक को फिर उकेरा। उसने कहा– हार हाथी नही चाहते तो न सही, पर एक बार मागकर तो देखो। मागने से मालूम हो जायेगा कि जिसे आप अपना भाई समझते हैं, उसके हृदय मे आपके लिए कितना स्थान है?

कहते हैं काली नागिन से जितनी हानि नही होती उतनी दुर्बुद्धि वाले मनुष्य के ससर्ग से होती है। इसी के अनुसार कोणिक के अन्त करण से पद्मा का परामर्श जम गया। उसने कहा–क्या मेरा भाई मेरी इतनी–सी आज्ञा नही मानेगा? यह कह कर कोणिक ने एक दूत बहिलकुमार के पास भेजा। दूत के साथ कहलाया–भैया हार–हाथी भेज दो। इतने दिन तुमने रक्खा है अब कुछ दिन तक हम रक्खेगे।

दूत गया। उसने बहिलकुमार से कोणिक का सदेश कहा। सदेश सुनकर बहिलकुमार का सतोष क्रोध के रूप मे परिणत हो गया। उसने कहा –'राज्य के हिस्से के समय तो मैं याद न आया और हार–हाथी हथियाने के लिए भैया हो गया?

इस प्रकार दोनो भाइयो का मन बिगड गया। इस बिगाड का परिणाम यह आया कि एक करोड अस्सी लाख मनुष्यो का क्रूरतापूर्वक सहार हुआ। और दूसरे प्राणी कितने मरे यह कौन जाने? इस भीषण नरसहार से भी हाथ कुछ न आया। हार देवता ले गये। हाथी मर गया। कोणिक विशाला नगरी का ध्वस करके अपने दस सहोदर भाइयो को मरवाकर वापस लोट आया।

यह सब समभाव के अभाव का और विषम भाव की प्रबलता का परिणाम है। इसके विरुद्ध समभावसे कितनी शान्ति और कितना आनद होता है यह जानने के लिए रामचन्द्र का उदाहरण मोजूद है।

जिसके हृदय मे समभाव विद्यमान है वह एकान्त मे बैठा हुआ भी ससार की भलाई कर रहा है। जिसका हृदय बुरी भावनाओं का केन्द्र बना हुआ है वह एकान्त मे बैठा हुआ भी ससार मे आग फैला रहा है।

राम के हृदय मे भी भगवान् महावीर के समभाव के प्रति सहानुभूति थी। इसी कारण उन्होने माता के हृदय की विषमता को भग करने के लिए अपने अधिकार को—अयोध्या के राज्य को—छोड दिया था। यहा यह कहा जा सकता है कि रामचन्द्र और भगवान् महावीर के समय मे बहुत अन्तर है। फिर महावीर के समभाव के प्रति राम को सहानुभूति थी, यह कथन युक्ति—सगत कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि जगत् अनादिकाल से है और जगत की भाति ही सत्य—आदर्श भी अनादि है। व्यक्ति कभी होता है कभी नही मगर आदर्श स्थायी होता है। जो व्यक्ति जिस आदर्श को अपने जीवन मे मूर्त्त रूप से प्रतिबिम्बित करता है, जिसका जीवन जिस आदर्श का प्रतीक बन जाता है वह आदर्श उसी का कहलाता है। वस्तुत आदर्श शाश्वत स्थायी और अनादि अनन्त है।

राम के स्थूल चरित्र को देखा जाये तो प्रतीत होगा कि समभाव का आदर्श राज्य—राम राज्य होता है और विषमभाव से वही हाल होता है जो दुर्योधन का हुआ था। जब हृदय मे समभाव होता है तो प्रकृति भी कुछ अलौकिक सी हो जाती है।

साधारणतया लोग चाहते है कि हम बडे हो जावे तो दूसरो को दबा ले। लेकिन राम ने अपने अधिकार का राज्य त्याग कर अपने बडप्पन का परिचय दिया। यह सब समभाव की महिमा है। अहकार के द्वारा बड़ा होने से कोई बडा नही होता। सच्चा बडप्पन दूसरो को बडा बनाकर आप छोटा बनने से आता है। मगर ससार इस सच्चाई को नही समझता। छोटो पर अत्याचार करना ही आज बडप्पन का चिह्न माना जाता है।

आज विश्व मे इतनी विषमता व्याप रही है कि सन्तान अपने माता—पिता की अवहेलना करने मे भी सकोच नही करती। कल मैने एक वृद्ध पुरुष को देखा था। वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर जीर्ण हो गया था। हाथ—पैर शक्तिहीन हो गये थे। फिर भी वह सिर पर बोझ लादे घाटी चढ रहा था। उसे बहुत ही कष्ट अनुभव हो रहा था। उसे देख कर एक मुस्लिम भाई ने जो शायद वृद्ध से परिचित थे—कहा— इस बुड्ढे की जैसी औलाद है दर्द। [illegible]कर मर जाय तो अच्छा है

अनेक अनगिनती मनुष्य हैं जो असक्त होने पर भी परिश्रम करते हैं और फिर भी भरपेट भोजन नही पाते। ऐसे लोगों पर आपको कितनी दया आती है ?

उन गरीबो पर आपका ही बोझ है। आपके बोझ से वे दबे जा रहे हैं। यह बहुमूल्य मिलो के वस्त्र उन्हे मार रहे हैं। अगर आपने इन वस्त्रो का त्याग कर दिया होता तो वह भूखो क्यो मरते? मगर आपके अन्त करण मे भी अभी तक समभाव जागृत नही हुआ है। दूसरो के दु ख को आप अपना दु ख नहीं मानते। यही नही दूसरो के दु ख को आप अपने सुख का साधन बना रहे हैं। जेन धर्म की बुनियाद समभाव है। जब तक आप मे समभाव नहीं आता आप क अन्त करण मे करुणा का उदय नही होता तब तक धर्म का प्रभाव नही फैल सकता।

लाग अगर मौज–शोक त्याग दे, विलासमय जीवन का विसर्जन कर द ता गरीबा को अपने बोझ से हलका कर सकेगे साथ ही अपने जीवन को भी सुधार के पथ पर अग्रसर कर सकेगे। क्या विलासितावर्द्धक बारीक वस्त्र पहनन से ब्रह्मचर्य के पालन मे सहायता मिलती है? अगर नही तो अपने जीवन का बिगाडने वाले तथा दूसरो को भी दु ख मे डालने वाले वस्त्रा के पहनन स क्या लाभ है?

बहिनें चाहे उपवास कर लगी तपस्या करने को तैयार हो जायेगी परन्तु मोज–शौक त्यागने को तेयार नही होती। ऐसा करने वाली बहिनो के दिल म दया है यह कैसे कहा जा सकता है ? एक रुपये की खादी का रुपया गरीबो को मिलता है ओर मील क कपडे का रुपया महापाप म जाता हे। मील के कपडे के लिए दिया हुआ रुपया आप ही को परतन्त्र बनाता हे। पर यह सीधा–सादा विचार लोगा को नही जचता। इसका मुख्य कारण समभाव का अभाव है।

रामचन्द्र न केकेयी के हृदय के साम्य का अभाव देखा। उसे सुधारन क विचार स रामचन्द्र न सीता सहित छाल के वस्त्र पहिने और अन्त म केकयी क अन्त करण में समता भाव जागृत कर दिया। ऐसा रामचन्द्र का साम्यभाव था। वास्तव में सच्चा समताभावी व्यक्ति ही दूसरा को विषमभाव मे रमत नही दख सकता।

भगवान महावीर म साम्यभाव पराकाष्ठा को पहुच गया था। अत वह समण अर्थात् प्राणी मात्र के साथ समता स वर्त्तने वाले कहलात हैं।

'भगवान्' शब्द की व्याख्या

भगवान् शब्द 'भग' धातु से बना है। 'भग' का अर्थ है—ऐश्वर्य। अर्थात जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त है वह भगवान् कहलाता है। कहा भी है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशस श्रिय ।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षणा भग इतीरना ।।

अर्थात्—सम्पूर्ण ऐश्वर्य रूप यश, श्री धर्म और प्रयत्न यह छ भग शब्द के वाच्य है।

कहा जा सकता है कि त्यागी—तपस्वी वीतराग पुरुष मे ऐश्वर्य क्या हो सकता है ? और उस ऐश्वर्य को हम कैसे देख सकते है? इसका उत्तर यह है कि जड एव स्थूल ऐश्वर्य स्थूल नेत्रो से देखा जा सकता है और सूक्ष्म ऐश्वर्य को देखने के लिए सूक्ष्म नेत्रो की आवश्यकता होती है। आन्तरिक दृष्टि जिन्हे प्राप्त है वे भगवान् का ऐश्वर्य देख सकते है। भगवान की अनन्त आत्मिक विभूतिही उनका ऐश्वर्य है।

कल्पना कीजिए एक स्वामी और उसका सेवक समान वस्त्र पहन कर खडे है। फिर भी भलीभाति देखने वाले को यह बात मालूम हो जाती है कि यह स्वामी और यह सेवक है। जब साधारण मनुष्य के शरीर पर भी ऐश्वर्य के चिह्न दिखाई दे जाते है तो त्रिलोक पूज्य भगवान् के ऐश्वर्य का देख लेना कोई कठिन बात नही है।

आज भी कई चित्रो मे जिसका वह चित्र होता है उसके आसपास ऊपर यदि विभूतिमान हो तो एक प्रभामण्डल बना रहता है यह प्रभामण्डल उसके विभूतिमान होने का द्योतक है। आधुनिक विज्ञान भी इस बात को पुष्ट करता है।

उसकी अवज्ञा भी करे मगर उसकी पूज्यता मे कमी नही होती। जैसे सूर्य म प्रकाश देने की स्वाभाविक शक्ति है किसी के मानने या कहने से सूर्य प्रकाशक नही है और यदि कोई धृष्टतापूर्वक सूर्य को प्रकाशक न माने तो भी उसका प्रकाश कम नही होता उसी प्रकार भगवान किसी के कहने से, किसी के बनाने से पूज्य नही बने हैं, किन्तु उनमे सहज पूज्यता विद्यमान है। यह बात दूसरी हे कि जैसे किसी–किसी प्राणी को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता उसी तरह कुछ लोगो को भगवान का वैभव अच्छा न लगे। फिर भी जैसे सूर्य का उसमे कोई दोष नही है उसी प्रकार अगर कुछ लोग भगवान का वेभव न देख सके तो इसमे भगवान का कोई दोष नही हे।

शूर–वीर विक्रान्तौ धातु से वीर शब्द बना है। जो अपने वैरियो का नाश कर डालता है उस विक्रमशाली पुरुष को वीर कहते हैं। वीरो मे भी जो महान वीर हे वह महावीर कहलाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि चक्रवर्ती राजा और साधारण राजा भी अपन शत्रुआ का नाश कर डालता है। फिर उन्ह वीर न कहकर भगवान् को ही वीर क्या कहा गया हे? महावीर मे कौनसी वीरता थी ? इस प्रश्न का समाध ान यह हे कि भगवान् महावीर को न केवल वीर वरन महावीर कहा गया है। सब स बडे वीर का महावीर कहते हैं। भगवान् को महावीर कहने का कारण यह है कि उन्हाने आन्तरिक शत्रुआ पर विजय प्राप्त की थी। बाह्य शत्रुआ का जीतन वाला वीर कहलाता हे ओर आन्तरिक शत्रुआ को जीतन वाला महावीर कहलाता हे।

वाह्य शत्रुआ का स्थूल साधना स पाशविकशक्ति स शस्त्र आदि की सहायता स जीतना आसान है। मगर आन्तरिक शत्रु जा इस प्रकार नही जीते जा सकत। उन्ह जीतन क लिए आध्यात्मिक वल की आवश्यकता हाती हे। आध्यात्मिक वल ही सच्चा वल हे क्याकि वह पर–साधना पर निर्भर नही है। भगवान महावीर म आध्यात्मिक वल की पराकाष्ठा थी अतएव उन्ह महावीर कहत हें।

इसक अतिरिक्त आय हुए कष्टों का विना घवराहट के सहन कर लन वाला पुरुष 'वीर' कहलाता हे। परन्तु भगवान कवल आय हुए कष्टा का ही सहन नही करत थ मगर साधक अवस्था म विशिष्ट निर्जरा क हेतु कभी–कभी कष्टों का इच्छापूर्वक आमत्रित करत थ ओर उन कष्टा पर विजय प्राप्त करत थ। इस कारण साधारण वीर पुरुषा की अपक्षा उनकी वीरता विलक्षण प्रकार

सेनापति–ऐसा होना समव प्रतीत नहीं होता फिर भी अगर कोई दस हजार आदमिया को जीत ले तो वह अवश्य वीर कहलायेगा।

साधु वाले–ठीक हे लेकिन कोई दूसरा आदमी दस हजार आदमियो को जीतने वाले का भी जीत ले तो उसे आप क्यो कहेगे?

सेनापति– उसे महावीर कहना होगा।

साधु–देखो ससार म वडे–वडे शस्त्रधारी थे। उदाहरण के लिए रावण का ही समझ लीजिए। रावण प्रचण्ड वीर था। उसने लाखो पर विजय प्राप्त की थी। मगर जिस काम ने उसे भी जीत लिया वह काम वीर कहलाया कि नही? रावण ने हजारो–लाखो योद्धाओ को पराजित कर दिया मगर सीता की आखा को वह न जीत सका। अतएव काम ने उसे पराजित करके नचा डाला। जिसक प्रबल प्रताप के आगे बडे–बडे शूरवीर भी अभिभूत हो जाते थ वह लाखा को जीतने वाला रावण अबला कहलाने वाली सीता के आगे हाथ जाडन लगा ओर उसके पैरो मे पडने लगा। मगर सीता ने उसे ठुकरा दिया।

प्रश्न उपस्थित हाता है–वीर कौन था? रावण या काम?

सनापति–काम। काम को जीतना बहुत कठिन हे।

साधु–काम लाखा का जीतने वाला वीर है। मगर जो सत्यशाली पुरुष वीर काम का भी जीत लता हे उस क्या कहना चाहिए? काम–विजय का ढाग करन की वात दूसरी हे मगर सचमुच ही जा काम का पराजित कर दत हें उन्हे क्या कहग ? एस महान् पराक्रमी पुरुष को 'महावीर कहा जाता हे।

साधु अकल काम का ही नहीं जीतते किन्तु क्रोध माह मत्सरता आदि का भी जीतत हें। क्राध क वश होकर अगर काई पुरुष साधु का गाली देता हैं तव भी सच्चा साधु क्रुद्ध नही होता। क्या इस प्रकार काम ओर क्राध का जीतना साधारण वात है?

साधु का यह कथन सनापति न सहर्ष स्वीकार किया। सेनापति वाला– काम क्राध मात्सर्य आदि सवका जीतन वाला ता वीर हे ही लकिन इनम स एक का जीतन वाला भी वीर हे।

आदिकर–

एक ता काम क्राध आदि आन्तरिक शत्रुआ का जीतन क कारण भगवान का महावीर कहा हे दूसर आदिकर अर्थात आदि करन वाल हान

से भी उन्हे महावीर कहा है। भगवान् महावीर ने श्रुत धर्म की आदि की है इस कारण वह आदिकर' कहलाते है।

आचाराग आदि बारह अग–ग्रथ श्रुतधर्म कहलाते है। प्रथम अग आचाराग से लेकर बारहवे अग दृष्टिवाद तक का जिनमे साधु के आचार धर्म से लेकर समस्त पदार्थो का वर्णन किया गया है श्रुतधर्म शब्द से व्यवहार होता है। इस श्रुतधर्म के आदिकर्त्ता अर्थात आद्य उपदेशक होने के कारण भगवान् महावीर को आइगरे अर्थात् आदिकर या आदिकर्त्ता कहा गया है।

बारह अगो के नाम और उनका विषय–सक्षेप मे इस प्रकार है–

1 आचाराग–इस अग मे निर्ग्रन्थ श्रमणो का आचार गोचार' (भिक्षा लेने की विधि) विनय विनय का फल, कायोत्सर्ग आदि स्थान विहारभूमि आदि मे गमन चक्रमण आहार आदि का परिमाण (यात्रा) स्वाध्याय आदि मे नियोग भाषा समिति गुप्ति शट उपाधि भक्त–पान उद्गम आदि दोषो की शुद्धि व्रत नियम तप आदि विषय वर्णित है। आचाराग मे दो श्रुत स्कन्ध, पच्चीस अध्ययन पचासी उद्देशनकाल और पचासी समुद्देशनकाल है।

2 सूत्रकृताग–इसमे स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त स्व–परसिद्धान्त जीव अजीव जीवाजीव लोक अलोक, लोकालोक जीव अजीव पुण्य पाप आस्रव सवर निर्जरा बन्ध मोक्ष रूप पदार्थ, एक सौ अस्सी क्रियावादी के मत चौरासी अक्रियावादी के मत सडसठ अज्ञानवादी के मत बत्तीस वैनयिक के मत इस प्रकार तीन सौ त्रेसठ अन्यदृष्टियो के मतो का निराकरण करके स्वसिद्धान्त की स्थापना आदि का वर्णन है। इसमे श्रुतस्कन्ध तेईस अध्ययन तेतीस उद्देशन काल और तेतीस समुद्देशन काल है। छत्तीस हजार पद है।

3 स्थानाग–इस अग मे स्वसमय का परसमय का और स्व–परसमय का जीव का अजीव का जीवाजीव का लोक का अलोक का लोकालोक का वर्णन है। इसमे एक श्रुतस्कन्ध है। दस अध्ययन इक्कीस उद्देशन काल इक्कीस समुद्देशन काल और बहत्तर हजार पद है।

5 व्याख्या प्रज्ञप्ति–स्वसमय परसमाय, स्व–परसमय जीव अजीव जीवाजीव लोक अलोक लोकालोक देव राजा राजर्षि और सदिग्ध पुरुषा द्वारा पूछ हुए प्रश्नो के भगवान् द्वारा दिए हुए उत्तर इस सूत्र मे हैं। यह उत्तर द्रव्य गुण क्षेत्र काल पर्यंत प्रदेश और परिणाम के अनुगम निक्षेपण नय प्रमाण एव उपक्रमपूर्वक यथास्थित भाव के प्रतिपादक हैं लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले हैं जो ससार--सागर से तिराने मे समर्थ हैं इन्द्रपूजित हैं भव्य जीवो के हृदय को आनन्द देने वाले हैं अधकार की मलिनता के नाशक हैं भली भाति दृष्ट हैं दीपक के समान हैं, बुद्धिवर्धक हैं। ऐसे छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति अग मे दिये गये हैं। इस अग मे एक श्रुत स्कन्ध साधिक सौ अध्ययन दस हजार उद्देशक, दस हजार समुद्देशक , छत्तीस हजार प्रश्न ओर चौरासी हजार पद हैं। नन्दी सूत्र मे कहीं दो लाख अठयासी हजार पद भी बताये हैं।

6 ज्ञाताधर्मकथा–इस अग में उदाहरण योग्य पुरुषो के नगर उद्यान चैत्य वनखण्ड राजा माता–पिता समवसरण, धर्माचार्य धर्मकथा ऐहलौकिक एव पारलौकिक ऋद्धि भगपरित्याग दीक्षा श्रुतग्रहण तप उपधान पर्याय सलखना भक्तप्रत्याख्यान पादोपगमन देवलोकगमन सुकुलो मे अवतार लना बाधिलाभ ओर माक्षप्राप्ति आदि विषयो का वर्णन है। इस अग मे दो श्रुतस्कन्ध ओर उनतीस अध्ययन हे। यह अध्ययन दो प्रकार के हैं –चरित ओर कल्पित। इसम धर्मकथा क दस वर्ग हें। एक–एक धर्मकथा म पाच–पाच सो आख्यायिकाए हें। एक–एक उपाख्यायिका म पाच–पाच सो उपाचख्यायिकाए हें। एक–एक उपाख्यायिका म पाच–पाच सो आख्यायिकोपाख्यायिकाए हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर साढ तीन करोड आख्यायिकाए होती हें। उनतीस उद्दशनकाल हें ओर इतन ही समुद्देशनकाल हैं। पाच लाख छियतर हजार पद ह।

7 उपाशक दशाग–इस अग म श्रावका क नगर, उद्यान चैत्य वनखण्ड राजा माता–पिता धर्माचार्य समवसरण श्रावका क शीलव्रत विरमण गुणव्रत प्रत्याख्यान पोषधापवास श्रुतपरिग्रह तप उपधान पडिमा उपसर्ग सलखना भक्तप्रत्याख्यान पादोपगमन देवलोकगमन सुकुल म जन्म बाधिलाभ और अन्तक्रिया आदि का वर्णन हे। इसम एक श्रुतस्कन्ध दस अध्ययन दस उद्दशनकाल दस समुद्दशनकाल ओर ग्यारह लाख बावन हजार पद हें।

8 अन्त कृद्दशा–इस अग मे तीर्थकर आदि के नगर उद्यान चैत्य वनखण्ड राजा माता–पिता समवसरण, धर्माचार्य धर्मकथा इहलौकिक–पारलौकिक ऋद्धिविशेष भोगपरित्याग दीक्षा श्रुत ग्रहण तप उपधान पडिमा क्षमा आदि धर्म सत्तरह पकार का सयम क्रियाए समिति गुप्ति अपमादयोग उत्तम स्वाध्याय और ध्यान का स्वरूप चार कर्मो का क्षय केवल ज्ञान की पाप्ति मुनियो द्वारा पाला हुआ पर्याय मुक्ति गमन आदि का वर्णन है। इस अग मे एक श्रुतस्कन्ध आठ वर्ग दस अध्ययन दस उद्देशन काल दस समुद्देशन काल तेईस लाख और चार हजार पद हैं।

9 अनुत्तरापपातिक–इस अग मे अनुत्तरोपपातिको के नगर उद्यान आदि आठवे अग मे वर्णित विषयो का निरूपण है। इस अग मे भी एक श्रुतस्कन्ध दस अध्ययन तीन वर्ग, दस उद्देशनकाल दस समुद्देशनकाल ओर सेतालीस लाख आठ हजार पद है।

10 प्रश्न व्याकरण–एक सौ आठ प्रश्न एक सौ आठ अपश्न एक सौ आठ पश्नाप्रश्न विद्या के अतिशय तथा नागकुमार एव सुवर्णकुमार के साथ हुए सवाद। इस अग मे एक श्रुतस्कन्ध पैतालीस उद्देशनकाल पैतालीस समुद्देशनकाल बानवे लाख और सोलह हजार पद है।

11 विपाकश्रुत–सुकृत और दुष्कृत कर्मो का फल। यह फल सक्षेप मे दो पकार का है–दु खविपाक और सुखविपाक। दस दु खविपाक तथा दस सुखविपाक है। दु खविपाक मे दु खविपाक वालो के नगर उद्यान चैत्य वनखण्ड राजा माता–पिता भगवान का समवरण धर्माचार्य धर्मकथा नारगमन ससार और एव दु खो की परम्परा का वर्णन है। सुखविपाक मे सुखविपाक वालो के नगर आदि का वर्णन है। साथ ही उनकी ऋद्धि का भोगो के त्याग का दीक्षा का शास्त्र–अध्ययन का तप उपधान पडिमा (पडिमा) सलेखना भक्तपत्याख्यान पदोपगमन देवलोकगमन सुकुल मे अवतार बोधिलाभ और मुक्ति आदि विषयो का निरूपण किया गया है। इस अग मे बीस अध्ययन है। बीस उद्देशनकाल और बीस समुद्देशनकाल है। एक करोड चौरासी लाख और बत्तीस हजार पद है।

अश विच्छिन्न हो गया है। अतएव पदों की सख्या आदि मे अन्तर पड जाना स्वाभाविक हे। वर्णित विषयो मे न्यूनता आ जाना भी स्वाभाविक है। ऊपर जा परिणाम एव विषय का उल्लेख किया गया है वह प्राचीनकालीन है जब सम्पूर्ण रूप से अग शास्त्र उपलब्ध था।

प्रश्न—भगवान् महावीर अतिम तीर्थकर थे। उनसे पहले तेईस तीर्थकर हो चुके थे। प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव थे। उन्होने भी श्रुत— धर्म की प्ररूपणा की थी। ऐसी स्थिति मे आदिकर्त्ता भगवान् ऋषभदेव को माना जाये अथवा भगवान् महावीर को? अथवा भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर में किसी प्रकार का मतभेद था? क्या दोनो के धर्म जुदे—जुदे थे? जिससे दोनो ही आदिकर्त्ता कहे जा सकते हैं। अगर दोनो की प्ररूपणा एक ही थी तो दोनो आदिकर्त्ता किस प्रकार कहे जा सकते हैं?

उत्तर—मतभेद सदा अल्पज्ञो मे होता है। सर्वज्ञ भगवान् वस्तु के स्वरूप का पूर्ण रूप से और यथार्थ रूप से जानते हैं अत उनमे मतभेद की समावना ही नही की जा सकती। भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर दो सर्वज्ञ थे अत उनम किंचित भी मतभेद नही था। फिर भी दोनो धर्म के आदिकर्त्ता कहलात हैं। यह बात एक उदाहरण से भली भाति समझ मे आ सकेगी। मान लीजिए किसी घडी मे आठ दिन तक चलने वाली चाबी दी। घडी आठ दिन तक चलकर बद होगी ही। उस समय घडी मे जो चाबी भरेगा वह घडी की गति का पुन कर्त्ता कहलाएगा या नही। उसी के प्रयत्न से बन्द हुई घडी की गति की आदि हागी। इसी प्रकार तीर्थकर भगवान् प्रवचन करते हैं। परन्तु प्रवचन का समय पूरा होने पर अर्थात् चाबी पूरी हो जाने पर दूसरे तीर्थकर फिर चावी दत हैं—प्रवचन करते हैं। बाईस तीर्थकरो तक यह बात समझिए। तेईसवे तीर्थकर भगवान् पार्श्वनाथ का शासन ढाई सो वर्ष तक चला। उसक बाद चौबीसव और इस अवसर्पिणी काल के आदि तीर्थकर भगवान् महावीर न चावी भरी। भगवान् महावीर न होते तो जिन—शासन आगे न चलता। पर भगवान महावीर न प्रवचन रूपी घडी म चावी देकर उसे चालू कर दिया। अतएव भगवान महावीर श्रुतधर्म के आदिकर्त्ता कहलाए।

तीर्थंकर शब्द की व्याख्या

अब यह प्रश्न उपस्थित हाता है कि भगवान महावीर न चावी किस प्रकार दी? वह आदिकर्त्ता क्या कहलाए ? इसका उत्तर यह है कि भगवान तीर्थकर थ। जिसक द्वारा ससार सागर सरलता स तिरा जा सकता है वह

तीर्थ कहलाता है। ऐसे तीर्थ की स्थापना करने के कारण तीर्थकर भगवान महावीर को आदिकर कहा गया है।

नदी मे से पानी लाया जाता है। पानी लाने वालो को असुविधा न हो, सरलता से पानी लाया जा सके इस अभिप्राय से नदी के किनारे सीढिया लगा दी जाती हैं अथवा दूसरी तरह से घाट बना दिया जाता है। घाट को भी तीर्थ कहते हैं। इसी प्रकार ससार–समुद्र से सुविधापूर्वक पार पहुचने के लिए तीर्थ की स्थापना की गई है।

यो तो विशेष शक्ति वाले नदी को तैर कर पार कर सकते हैं, मगर पुल बन जाने पर चिउटी भी नदी पार कर सकती है। पुल बनने से नदी पार करने मे बहुत सुविधा होती है। इसी प्रकार ससार समुद्र को सुविधापूर्वक पार करने के लिए तीर्थ की स्थापना की जाती हैं। तीर्थ की स्थापना करने वाले महापुरुष तीर्थकर कहलाते हैं। लौकिक समुद्र की तरह ससार समुद्र भी अनेक विध दु खो से परिपूर्ण है। सभी जीवन दु खमय ससार सागर को पार करना कठिन है। अतएव तीर्थकर अवतरित होकर तीर्थ की स्थापना करते हैं। इस प्रकार ससार–सागर से पार उतरने के लिए पुल बनाने वाले ही तीर्थंकर कहलाते है।

नदी पार करने के लिए बाधा हुआ पुल स्थूल नेत्रो से दिखाई देता है। मगर ससार को पार करने के लिए बाधा हुआ पुल कौन सा है? इसका उत्तर यह है कि तीर्थंकरो ने तीर्थ रूपी पुल बाधा है। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन एव सम्यक चरित्र को प्रवचन कहते है। तीर्थंकर भगवान ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् के कल्याण हेतु जो प्रवचन कहे और जिन प्रवचनो को गणधरो ने पूरी तरह धारण किया उन प्रवचनो को तीर्थ कहते हैं। ऐसे तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थकर कहलाते हे।

भगवान् ने अपना तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक चालू रहेगा ऐसा बतलाया है। किन्तु तेरापथ स्थापक अपने आपको ही तीर्थ की स्थापना करने वाले मानते हैं। उनका कथन है कि तीर्थ का विच्छेद हो गया था सो हमने फिर से इसकी स्थापना की है। 'मेरा तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष चलेगा' भगवान् के इस कथन का अर्थ वे यह करते हैं कि शास्त्रार्थ ही इतने वर्ष चलेगा–साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका का रूप तीर्थ पहले ही विच्छेद को प्राप्त हो जाएगा।

विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार का कथन भोले जीवो को भ्रम मे डालने के लिए उन्हे प्रलोभन देने के लिए और साथ ही अपने

मुह से ही अपनी महत्ता प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। वास्तव मे भगवान ने जिस तीर्थ को 21 हजार वर्ष पर्यन्त चालू रहना बतलाया है वह साधु, साध्वी श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध सघ ही है।

भगवान ने शास्त्र मे जिस सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक चारित्र रूप तीर्थ की स्थापना की है वह अविनश्वर है। ज्ञान दर्शन चरित्र का कभी नाश नही होता। ऐसी अवस्था मे उसके इक्कीस हजार वर्ष तक विद्यमान रहने की बात शास्त्रसगत नही कही जा सकती। जब प्रवचन रूपी तीर्थ अविनाशी है तो इक्कीस हजार वर्ष तक स्थिर रहने वाला तीर्थ चतुर्विध सघ ही हो सकता है। अत तेरापन्थ स्थापक की अपने आप ही पच्चीसवा तीर्थकर बनने की चेष्टा उपहासास्पद है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रवचन किसे कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि वचन और प्रवचन मे पर्याप्त अन्तर है। साधारण बोलचाल का वचन कहते हैं। इसके तीन भेद हैं–एक खास वचन दूसरा विवेक वचन और तीसरा विकल वचन। तथ्यहीन वचन विकल वचन कहलाते हैं। अपनी शक्ति स तोल मोल कर बोलना विवेक वचन है और साधारण बोलचाल को खास वचन कहत हैं।

ज्ञानी पुरुष अपने निर्मल ज्ञान स वस्तु–स्वरूप को यथार्थ रूप म जान कर ससार क कल्याण क लिए जा उपदश वचन बोलते हैं वही वचन प्रवचन कहलात हैं।

न्यायाधीश (जज) अपने घर पर अपनी स्त्री आदि स बातचीत करता और न्यायासन पर बैठ कर वादी–प्रतिवादी की बाते सुनकर अपन ज्ञान स निर्णय करक फैसला देन क लिए भी बोलता है। यद्यपि वचना का उच्चारण दोना जगह सदृश है फिर भी न्यायालय म बोल जान वाल वचना म शक्ति ह। उन म हानि–लाभ भरा हुआ है। अतएव उसके उन वचना का फैसला कहत हैं। फैसल म आय हुए शब्द मिसल का सार हैं। इसी प्रकार जगत क लाभ क लिए ज्ञानवान महात्माओ न अपन ज्ञान क सार रूप म जो वचन प्रयोग किया ह उस प्रवचन कहत है।

जस फैसल म फासी कटती है उसी प्रकार भगवान क प्रवचन स ससार की फासी कटती है। ससार की फासी काटन वाल वचन का प्रवचन कहत हैं। फैसल म और प्रवचन म कुछ अन्तर भी है और वह यही कि फैसला कभी सदोष भी हो सकता है उसस कभी फासी सजा भी मिलती है मगर प्रवचन एकान्त रूप स फासी काटन वाला ही होता है। एस प्रवचन की स्थापना करन वाल को तीर्थकर कहत हैं।

'सहसबुद्धे' शब्द का विवेचन।

तीर्थकर भगवान् ने जो प्रवचन किया है उन्होने किसी से सीख कर किया है या स्वय जानकर? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तीर्थकर स्वय ही अपने अनन्त असीम केवलज्ञान से पदार्थो के सम्पूर्ण स्वरूप को हस्तामलकवत जानते है। उन्हे किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता नही होती। किसी से सीखकर कहे हुए वचन वस्तुत प्रवचन नही है किन्तु दूसरे के उपदेश के बिना ही स्वयमेव जिन्हे ज्ञान प्राप्त हो उन स्वय सम्बुद्ध भगवान का कथन ही प्रवचन या तीर्थ कहलाता है।

आचार्य और साधु किसी को दीक्षा देते हैं किसी को श्रावक श्राविका और किसी को साधु-साध्वी बनाते हैं। किसी को व्रत धारण कराते हैं। फिर भी वह तीर्थकर पदवी के पात्र नही है क्योकि इतना करने से ही कोई तीर्थकर नही हो जाता। तीर्थकर पदवी वही महापुरुष पा सकते हैं जो स्वय-दूसरे के उपदेश बिना ज्ञान प्राप्त करते हैं और प्राप्त ज्ञान के अनुसार तीर्थ की स्थापना करते हैं। आचार्य और साधु तीर्थ हो सकते हैं तीर्थंकर नही। तीर्थकर तो स्वय सबुद्ध ही होते हैं।

जो लोग दूसरो से उपदेश ग्रहण करते हैं उनमे भी स्वकीय बुद्धि किन्ही अशो मे विद्यमान रहती है। अगर उनमे स्वकीय बुद्धि न हो तो दूसरे से उपदेश ग्रहण करना ही असभव है। ऐसी स्थिति मे साधारण जन भी स्वय बुद्ध क्यो न कहा जाय? इस शका का समाधान यह है कि साधारण बुद्धि होने से ही कोई स्वय सबुद्ध नही कहलाता। आत्म कल्याण की दृष्टि से जो जगत के समस्त पदार्थो को जानता है-क्या हेय है क्या उपादेय (ग्राह्य) है क्या उपेक्षणीय (उपेक्षा करने योग्य) है इस प्रकार पदार्थों का पूरी तरह ज्ञाता होता है और यह ज्ञान भी जिसे स्वत प्राप्त होता है वही स्वय सबुद्ध कहलाता है।

'पुरुषोत्तम' शब्द का विवेचन-

कर सकता था। इसी प्रकार उनके आन्तरिक गुण भी असाधारण थे। उनका ज्ञानातिशय दर्शनातिशय एव वचनातिशय अलौकिक एव असामान्य था। देवराज इन्द्र उनके रूप को देखते–देखते और उनके गुणो की स्तुति करते–करते थकता नही था। इस प्रकार क्या शारीरिक और क्या आध्यात्मिक सभी विशेषताए भगवान् मे असाधारण थीं। ससार का कोई भी पुरुप उनकी सानी रही रखता था। इस कारण भगवान पुरुषोत्तम थे।

पुरुपोत्तम शब्द का व्यवहार साधरणतया आपेक्षिक उत्तमता के कारण भी किया जाता हे। सौ–दो सौ पुरुषो मे जो सबसे अधिक सुन्दर हो, विशेष बुद्धिमान हो वह भी लोक मे पुरुषोत्तम कहा जाता है। मगर भगवान् मे ऐसी सापेक्ष उत्तमता नही थी। भगवान् उत्तमता सर्वातिशयिनी थी। अर्थात् ससार क समस्त पुरुषो की अपेक्षा से थी। इस भाव को स्पष्ट करने के लिए भगवान् का आगे के विशेषण लगाये गये हैं।

पुरुषसिह–

भगवान् पुरुपोत्तम हाने के साथ पुरुषसिह भी थे। भगवान् जगल मे रहन वाल सिह नही वरन् पुरुपो मे सिह के समान थे।

सिह' शब्द हिस धातु से वना हे। जो हिसा करता हे अन्य प्राणिया को मारकर खा जाता है। उस वन्य पशु को सिह कहते हें। सिह म अनक दुर्गुण हात हैं। फिर अहिसा की साक्षात् मूर्त्ति भगवान को सिह' क समान क्या कहा गया है? इसका उत्तर यह हे कि उपमा सार्वदेशिक कभी नहीं होती। उपमान और उपमय–दोना के समस्त गुणा का मिलान कभी हा ही नही सकता। मुख को चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। मगर अमावस्या क अधकार का दूर करन क लिए मुख का उपयाग नही किया जा सकता। क्राधी पुरुप का अग्नि की उपमा दी जाती हे। मगर भाजन पकाने क लिय क्राधी का उपयोग नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह हे कि उपमा सदा एकदशीय हाती है। दो पदार्थो क एक या कुछ अधिक गुणा की समानता दखकर ही एक स दूसर का समझन क लिए उपमा का व्यवहार किया जाता हे। दा पदार्थो क समस्त गुण एक सरीख हो ही नही सकत। यहा भगवान का सिह की जा उपमा दी ह सा सिह की वीरता पराक्रम रूप गुण की समानता का लक्ष्य करक ही दी गई हे। सिह म जहा अनका दुर्गुण हें वहा उसम वीरता का लाक प्रसिद्ध गुण भी हे। जेस समस्त पशुआ म सिह अधिक पराक्रमशाली

ओर वीर है उसी प्रकार भगवान् समस्त पुरुषो मे अधिक पराक्रमी और वीर थे। इसी अभिपाय को प्रकट करने के लिए सिह की उपमा दी गई हे।

भगवान् मे क्या शौर्य था? कैसी वीरता थी? जिसके कारण उन्हे सिह की उपमा दी गई है? यह बतलाने के लिए आचार्य कहते हैं।

जिस समय भगवान् दीक्षा लेकर अनन्त ज्ञान आदि मे प्रवृत्त हुए तब की तो बात ही निराली है। उस समय उनका पराक्रम शब्दो द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता। लेकिन जिस समय भगवान् बालक थे तब भगवान के पराक्रम की इन्द्र ने प्रशसा की। इन्द्र ने कहा– महावीर की शूरवीरता की तुलना नही हो सकती। उनकी बराबरी कोई नही कर सकता। भगवान अनुपम वीर हैं। मनुष्य की तो बिसात ही क्या है देव और दानव भी उन्हे भयभीत नही कर सकता।

इन्द्र द्वारा की हुई भगवान् महावीर की इस प्रशसा पर कुछ विरुद्ध प्रकृति वाले देवो को प्रतीति नही हुई। यह प्रशसा उन्हे रुची भी नही। वे कहने लगे–मनुष्य मे इतनी शक्ति कैसे हो सकती है? कहा देव और दानव और कहा मनुष्य! इस प्रकार सोच कर उन्होने भगवान् महावीर को पराजित करने का विचार किया। उनमे से एक देव जहा महावीर बालको के साथ खेल रहे थे वहा आया। देव बालक बन कर भगवान् महावीर के साथ खेलने लगा। उस समय जो खेल हो रहा था उसमे यह नियम था कि हारने वाला बालक जीतने वाले को अपने कधे पर चढावे। भगवान् महावीर और बालक रूपधारी देव का खेल हुआ। देव हार गया। नियमानुसार देव ने महावीर को कधे पर बिठलाया। अपने कधे पर बिठलाकर देव ने अपना शरीर बढाना शुरू किया। देव का शरीर बढते–बढते बहुत ऊचा हो गया। यह अलौकिक विस्मयजनक एव भयोत्पादक दृश्य देखकर सब बालक बुरी तरह भयभीत हो गये। सब के सब वहा से भाग खडे हुए। भागते–भागते वे सब महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला के पास पहुचे। इधर देव आकाश तक बढता ही

किया। मुट्ठी का प्रहार होते ही देव गिर पडा और अपने असली रूप मे आ गया। भगवान महावीर उस पर चढे हुए उसी प्रकार निर्भयतापूर्वक खेलते रहे। यद्यपि महावीर ने अत्यन्त साधारण रूप से ही देवता पर मुट्ठी–प्रहार किया था तब भी देव उससे इतना व्यथित हुआ कि अपने मूल स्वरूप में आने पर भी वह कुबडा बन गया।

भगवान के पराक्रम की परीक्षा लेकर देव को इन्द्र की बात पर प्रतीति हुई। उसने दोनो हाथ जोड कर कहा भगवान्! आप सचमुच ही वैसे वीर हैं जैसा इन्द्र ने कहा था। आपका पराक्रम असाधारण है। आपकी वीरता स्तुत्य है। आपकी निर्भयता प्रशसनीय है। आपका बल अद्वितीय है। आपकी शक्ति क सामने देव ओर दानव की भी शक्ति नगण्य है।'

इस प्रकार प्रशसा करके देव वहा से चला गया। महावीर ने मानवीय सामर्थ्य का जो विराट स्वरूप प्रदर्शित किया उससे अनेको मे नवीन शक्ति और नय साहस का सचार हुआ। भगवान् की इस पराक्रमशीलता के कारण ही उन्हें पुरुषा म सिह क समान कहा गया हे।

पुरुषवर–पुण्डरीक–

सिह म वीरता है मगर जगत–कल्याणकारिता नहीं हे। उसके द्वारा ससार का कल्याण नही हाता। अत सिह से भगवान् की विशेषता बतलान क लिए भगवान का अन्य अनक उपमाए दी गई हैं। उनम स एक उपमा पुण्डरीक कमल की है। भगवान पुरिसवर पुण्डरीए हैं– अर्थात् पुरुषा म श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल क समान हैं।

भगवान महावीर के लिए हजार पाखुडी वाले पुडरीक कमल की उपमा क्या दी गई है? इस उपमा स भगवान क किस धर्म का बाध कराया गया हैं? इसका उत्तर यह है कि जैस पुडरीक–कमल सफेद हाता हे उसी प्रकार भगवान म उज्ज्वल तथा प्रशस्त लेश्या ओर ध्यान हैं। जैस इस कमल म मलीनता नहीं हाती उसी प्रकार भगवान भी सब प्रकार की मलीनता स विमुक्त हैं।

कमल की उपमा दन का आशय यह है कि कृत्रिम उज्ज्वलता उज्ज्वल हाकर भी मलीन बन जाती हे जब कि अकृत्रिम उज्ज्वलता स्वाभाविक है–उसम मलीनता नही आती। कमल जब तक कमल कहलाता है तब तक वह अपनी उज्ज्वलता नही त्यागता। इसी प्रकार भगवान की

लेश्या भगवान् का ध्यान अध्यवसाय परिणाम आदि भी स्वाभाविक रूप से उज्ज्वल है।

कुछ लोगो के कथनानुसार भगवान मे छद्मस्थ अवस्था मे छहो लेश्याए विद्यमान थी इनमे कृष्णलेश्या भी है। भगवान मे कृष्ण लेश्या मानने का असली कारण यह है कि भगवान् ने गौशालक को मरने से बचाया था और मरने से बचाना उन लोगो की दृष्टि से पाप है। पाप कृष्ण लेश्या से ही होता है अतएव वह लोग भगवान् मे कृष्ण लेश्या का होना कहते हैं। मगर साधारण विचार से ही यह मालूम हो जाता है कि भगवान मे कृष्ण लेश्या की स्थापना करना अपनी अज्ञता प्रदर्शित करना है। भगवान तो सदैव पुरुषो म श्रेष्ठ पुण्डरीक के समान हैं। जगत मे जितने श्रेष्ठ एव शुद्ध भाव हैं भगवान उन सब भावो से परम विशुद्ध हैं।

पुण्डरीक कमल की उपमा देने का एक और अभिप्राय है। इस कमल मे एक हजार पखुडियाँ होती हैं। अगर उसे सिर पर रखा जाय तो हजार पखुडियो के कारण वह छत्र बन जाता है। छत्र बना हुआ वह पुण्डरीक कमल शोभा भी बढाता है और ताप से रक्षा भी करता है। साथ ही साथ सुगन्ध प्रदान करता है। इसी प्रकार भगवान् के शरण मे जाने से भगवान अपने सिर का छत्र मानने से पुरुषो की भक्तो की समस्त आधिव्याधि नष्ट हो जाती है। भगवान का शरण ग्रहण करने पर कोई कुछ बिगाड नही सकता। इसी कारण भगवान् को श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल की उपमा दी गई है।

इसके अतिरिक्त जैसे कमल मनुष्य का सताप हटा कर उसकी शोभा बढाता है इसी प्रकार भगवान जीवो के सताप को दूर करते है और उनके स्वाभाविक गुणो का प्रकाश करके उनकी शोभा बढाते है।

कमल मे एक गुण और भी है। कमल जब खिलता है तब कीचड से मलीन नही होता। इसी प्रकार भगवान भी निर्लेप है—पाप की कालिमा से वह लिप्त नही होते। किसी भी प्रकार का विकार उन्हे स्पर्श नही करता

गधहत्थी मे एसी सुगन्ध होती है कि सामान्य हाथी उसकी सुगन्ध पात ही त्रास के मारे भाग जाते हैं। वे उसके पास ठहर नहीं सकत। गधहत्थी की इस उपमा स भगवान के किस गुण की तुलना की गई है? इसका समाधान यह हे कि भगवान् जिस देश मे विचरते हैं उस देश मे इति भीति नही हाती।

अतिवृष्टि होना अनावृष्टि होना टिड्डी दल चूहो आदि का उत्पात हाना ईति कहलाता हे। इति रूप उपद्रव होने से मनुष्य समाज मे हाय हाय मच जाती हे ओर मनुष्य मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। भगवान् के चरण पडते ही पूर्ण शान्ति का साम्राज्य छा जाता है। ऐसी भगवान् की महिमा है। भगवान की यह महिमा गधहत्थी की उपमा द्वारा प्रकट की गई हे।

भगवान् की इस महिमा के विषय मे शास्त्र का प्रमाण है। समवायाग सूत्र म भगवान् के चोतीस अतिशय बताये गये हैं। उनमे एक अतिशय यह है कि जहा भगवान् जाते हैं वहा सौ-सौ कोस मे महामारी मृगी आदि ईतिया नही रह सकती-नई उत्पन्न नही होती और यदि पहले से हो तो मिट जाती है।

भगवान् क प्रताप से सो-सो कोस तक के उपद्रव मिट जाना गुण है अवगुण नही। मगर तेरहपथ मत के अनुसार इस गुण से भगवान को पाप लगना चाहिए। क्याकि जिस देश मे सो-सो कास तक के उपद्रव मिट जात हैं उस दश क सभी मनुष्य सयमी तो हाते नहीं है। उपद्रव होने से उन असयत लागा का दुख हाता था। भगवान् के प्रभाव से वह दुख मिट जाता हे ओर शान्ति हा जाती है। तरहपथ के मतानुसार किसी का दुख दूर करके उसे शाति पहुचाना पाप हे।

जा लाग यह कहत हें कि दुख पान वाल अपन पूर्वोपार्जित पाप-कर्मो का भागत हैं अपन ऊपर चढ हुए ऋण को चुकाते हैं। ऋण चुकाने म बाधा पहुचाना-दुख दूर करना अच्छा नही है। ऐसा कहने वाला को भगवान् क इस अतिशय पर विचार करना चाहिए। भगवान् जानत हें कि मर जान से अमुकदश की प्रजा का दुख दूर हा जायगा फिर भी वह उस देश जात हैं। अगर भगवान उस प्रजा का दुख न मिटाना चाहते हो -दुख मिटाना पाप हा ता भगवान यह पाप-कर्म करन क लिए जात ही क्या? व किसी गुफा म ही क्या न बैठ रहत?

भगवान जहा विचरत हैं वहा प्रथम ता परचक्री राजा आता ही नहीं ह अगर आता हे ता उपद्रव नही करता। भगवान क चरण-कमल जिस दश म पडत हैं वहा क कलह-महामारी आदि उपद्रव मिट जात हैं।

महामारी के पकोप से लोग अकाल–मरण से मर रहे थे वे भगवान् के पदार्पण से बच गये। उनका बच जाना धर्म है या पाप? इस प्रकार का विचार आना शका करना ही जैन धर्म को कलकित करना हे। ऐसी स्थिति मे जो लोग बच जाना या किसी को मृत्यु से बचा लेना पाप कहते हैं, उनके लिए क्या कहा जाए?

भगवान के पधारने से सौ–सौ कोस मे आनन्द मगल छा जाता है ओर प्रजा के दु ख बिना उपाय किये ही मिट जाते है। जैसे गधहस्ती की गध से साधारण हाथी दूर भाग जाते है उसी प्रकार भगवान के पदार्पण से दु ख दूर भाग जाते है। अतएव भगवान् को पुरुषवरगध हस्ती कहा गया है।

प्रश्न–भगवान के विचरने के स्थान से सभी ओर सौ–सो कोस तक उपद्रव नही होता और शान्ति का साम्राज्य छा जाता है तो जब भगवान राजगृही मे विराजमान थे तब अर्जुनमाली लोगो को क्यो मारता था? वह भयकर उपद्रव क्यो मचा रहा था? भगवान् के विचरने से वह उपद्रव क्यो नही शान्त हुआ?

उत्तर –भगवान् महावीर के पधारने पर ही उपसर्ग मिटना चाहिए। अर्जुनमाली ने भगवान् के पधारने से पहले चाहे जो उपद्रव किया हो मगर उनके पधारने पर भगवान् की बात तो दूर रही–उनके एक भक्त सुदर्शन के निमित्त से ही उपद्रव मिट गया। ज्योही सुदर्शन सामने आया कि अर्जुनमाली का शैतान भाग गया और पूर्ण रूप से शान्ति का सचार हो गया।

शका–यदि भगवान् के विचरने या विराजने पर सौ–सौ कोस तक शान्ति रहती है तो जब भगवान समवसरण मे ही विराजमान थे तभी गोशाला ने आकर दो मुनियो को कैसे भस्म कर दिया? उस समय भगवान का अतिशय कहा चला गया था?

गोशाला के द्वारा भगवान् महावीर का जैसा प्रकाश फैला हे वैसा प्रकाश गोतम स्वामी के होने पर भी नही हुआ यदि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। भगवान् महावीर का सच्चा स्वरूप गौशाला के निमित्त से ही ससार म प्रकट हुआ। गोशालक न होता तो महावीर की सच्ची महावीरता ही प्रकट न होती।

पहलवान की पहलवानी का ठीक–ठीक पता तब तक नही चलता जब तक उसके सामने दूसरा प्रतिद्वद्वी पहलवान न हो। प्रतिद्वद्वी पहलवान के निमित्त से ही पहलवान की पहलवानी का ससार मे प्रकाश होता है। इसका अर्थ यह नही कि प्रतिद्वद्वी पहलवान किसी पहलवान मे बल का सचार करता है अथवा उसे देखकर पहलवान का बल आप ही बढ जाता है। पहलवान मे बल की प्रबलता तो पहले से ही होती है परन्तु जनता उसके बल को नाप नही पाती। उस पहलवान के बल का परिमाण मालूम नही हो सकता। मगर जब उस पहलवान का मुकाबला करने के लिए दूसरा पहलवान खडा होता है और दोनो म कुश्ती होती है तब उसके बल का पता लगता है। इसी प्रकार भगवान म अनन्तज्ञान अनन्त दर्शन और अनन्त बल–वीर्य था मगर गोशालक न होता तो उसका पता ससार को केसे लगता? भगवान् की अनन्त शक्ति का प्रकाश गोशालक क निमित्त से हुआ।

ककैयी क निमित्त से रामचन्द्र की महिमा प्रकाशित हुई। विश्वामित्र न सत्यनिष्ठ हरिश्चन्द्र की महत्ता प्रकाशित की। कमठ क उपसर्गो से भगवान् पार्श्वनाथ क बल–विक्रम का पता चला। इसी कारण नाटको एव कथाओ म नायक क विरोधी प्रतिनायक की कल्पना की जाती हे। प्रतिनायक के साथ होन वाल सघर्ष क द्वारा ही नायक के गुणो का प्रकाश होता है।

गोशालक महावीर भगवान् का प्रतिद्वद्वी था। भगवान् ने उसे जलन स बचाया और फिर उसक नियतिवाद को (होनहार क सिद्धान्त को) अपने पुरुषार्थवाद द्वारा परास्त किया। इस प्रकार गोशालक क निमित से भगवान महावीर म अनक गुणो पर प्रकाश पडता हे।

तात्पर्य यह हे कि गोशालक की घटना अपवाद रूप हे। इस अपवाद स भगवान के अतिशय म किसी प्रकार की शका नही की जा सकती।

भगवान पुरुषवरगन्धहस्ती थ। उनक अनुयायियो का–उनक आदर्शो का अनुसरण करन वालो का भगवान क चरण–चिह्नो पर चलन की भावना रखन वालो का विचारना चाहिए कि उनका कर्तव्य क्या है?

कहा जा सकता है कि भगवान महावीर के समय मे चाहे उपसर्ग दूर हुए हो चाहे शान्ति हुई हो लेकिन आज जो बडे–बडे दु ख आते हैं–जिन दु खो को हम दैवी आपत्ति कहते हैं उनके सामने यह 'पुरुषवरगन्धहस्ती' विशेषण क्या काम दे सकता है? इसका उत्तर यह है कि अगर इस पाठ मे शक्ति न होती तो आज इसका पाठ करने की आवश्यकता ही नही थी। मगर भगवान् का गन्धहस्तीपन हृदय मे स्थापित करने के लिए जिस उपाय की आवश्यकता है उसके अभाव मे वह हृदय मे कैसे आ सकता है? सुदर्शन सेठ के हृदय मे भगवान् के गन्धहस्तीपन की भावना मात्र आई थी। उस भावना मात्र से सुदर्शन इतना बलवान् बन गया कि जिसका वर्णन नही किया जा सकता। 1141 मनुष्यो को मारने वाला अस्त्र–शस्त्र और सेना से युक्त और बुद्धि का धनी श्रेणिक राजा जिसका सामना नही कर सकता था जिसके भय एव आतक से विवश होकर श्रेणिक ने नगर के फाटक बन्द करवा दिये थे और नगर के बाहर जाने की मनाई कर दी थी जिसके नाम मात्र से बडो–बडो के कलेजे कापने लगते थे उस अर्जुनमाली को सुदर्शन ने सहज ही परास्त कर दिया था। मगध का सम्राट श्रेणिक जिस अर्जुनमाली का कुछ न बिगाड सका उसे भगवान् के एक भक्त ने अनायास ही अस्त्र–शस्त्र का प्रयोग किये बिना ही पराजित कर दिया। जिसके आतक के सामने श्रेणिक का क्षात्र–तेज ठडा पड गया था उसका सामना करने के लिए किसने क्षत्रियत्व प्रकट किया कौन क्षत्रिय बन कर सामने आया? सुदर्शन वैश्य था मगर महावीर का भक्त था। उसने कैसा क्षात्र तेज प्रकट किया इस पर विचार करना चाहिए।

श्रावक ने व्यापार के निमित्त विदेश यात्रा की थी। वह वहा से एक कन्या भी लाया था। मेरे कथन का तात्पर्य यह नही कि आप किसी प्रकार की मर्यादा को भग करे। मै सिर्फ यह बतलाना चाहता हू कि भगवान महावीर के भक्त दीन कायर डरपोक नही होते। उनमे वीरता पराक्रम आत्मगौरव आदि सद्गुण होते हैं। जिनमें यह सब गुण विद्यमान हैं वही महावीर का सच्चा अनुयायी हे। महावीर का अनुयायी जगत के लिए अनुकरणीय होता है—उसे दखकर दूसरे लोग अपने जीवन को सुधारते हैं।

मगर आज उल्टी गगा बह रही है। बाहर के लोग आकर आपको विलासिता के वस्त्र त्यागने का उपदेश देते हैं। यह देख कर मुझे सकोच होता हे—कि जहा भगवान् महावीर का सच्चा उपदेश है वहा विलासिता कैसी? भगवान् के उपदेशो को श्रद्धापूर्वक सुनने वाले, मान्य करने वाले और जीवन म उन्हे स्थान देने की चेष्टा करने वाले लोगो को विलास का त्याग करने के लिए दूसरो क उपदेश की क्या आवश्यकता होती है। भगवान् का उपदेश सदा सुनन वाले सादा जीवन व्यतीत क्या नही करते? उनम सुदर्शन सरीखी वीरता क्या नही आती हे? आज बहुसख्यक विचारक भगवान महावीर के आदर्शो की आर झुक रहे हैं। उन्हे प्रतीत हा रहा है कि जगत् का कल्याण उनके बिना सम्भव नहीं हे। पर भगवान् क आदर्शो पर अटल श्रद्धा रखने वाले आप लोग लापरवाही करत हैं तो आश्चर्य होता है। आप शायद यह विचार कर रह जाते होग कि यह तो हमारे घर का धर्म हे। 'घर की मुर्गी दाल बराबर' यह कहावत प्रसिद्ध है।

धार (मध्यभारत) म एक साधुमार्गी सेठ थे। वह सेठ राजमान्य थ और राजा प्रजा क बीच क आदमी थे अच्छे वेभवशाली थे। उन सेठ क बापूजी नामक एक मित्र थे। बापूजी मरहठा थे और राज—परिवार क आदमी थ। सेठजी क ससर्ग स बापूजी का जेन धर्म पर श्रद्धा हो गई। बापूजी को जेन धर्म बहुत प्रिय लगा और धीरे—धीरे व सेठ से भी आगे बढ गये। राजा क यहा बापूजी का नाम 'बापूजी ढूढिया' पड गया। सब उन्हे ढूढिया कहने लगे। बापूजी कहा करते—अवश्य मैंने परमात्मा को ढूढ लिया हे।

एक दिन सेठजी ने बापूजी से कहा—आपकी धार्मिकता तो मेरी अपेक्षा भी अधिक बढ गई है। मेरे यहा न जाने कितनी पीढियो से इस धर्म की आराधना होती आ रही हे फिर भी मैं पीछे रह गया और आप आगे बढ गये।

बापूजी ने उत्तर दिया—आप की पीढी—जात धनी हैं अर्थात आपके यहा धर्म रूपी धन कई पीढियो से हे और मैं ठहरा जन्म से गरीब। गरीब

को धन मिलता है तो वह उसे यत्न के साथ सम्भालता ही है। पीढी जात धनिक की तरह धन पर उसकी उपेक्षा नही होती।

बापूजी का उत्तर सुनकर सेठजी मन ही मन लज्जित से हुए। कहने लगे आप धन्य है कि आप मे धर्म भी आया और गरीबी भी।

तात्पर्य यह है कि उक्त सेठजी के समान आप अपनी स्थिति मत बनाइए। धर्म आपकी खानदानी चीज है यह समझ कर इसके सेवन मे ढील मत कीजिए। भगवान् महावीर गन्धहस्ती थे यह बात आपको अपने व्यवहार द्वारा सिद्ध करनी चाहिए। इसे सिद्ध करने के लिए शक्ति का सम्पादन करो। जिसके सामने राजा श्रेणिक भी हार गया, जिसके आगे श्रेणिक का क्षत्रियत्व भी न ठहर सका उसके सामने निर्भयतापूर्वक जाने वाला पुरुष वीर है या कायर ? वीर

राजा श्रेणिक क्षत्रिय था और सुदर्शन वैश्य था। फिर भी सुदर्शन की वीरता कैसी बेजोड थी इस बात का विचार करो। वैश्य वीर होते है कायर नही होते। वैश्यो मे वीरता नही होती यह मूर्खो का कथन है।

वीरता मे सुदर्शन का दर्जा राजा श्रेणिक से भी बढ गया। सुदर्शन निहत्था था—उसे हाथ मे लकडी लेने की आवश्यकता न हुई। न उसने यही कहा कि कोई दूसरा साथ चले तो मै चलू। सच्चे वीर पुरुष किसी भी दूसरी चीज पर निर्भर नही रहते और न किसी की देखा—देखी करते है। सुदर्शन ने ज्यो ही भगवान् महावीर के आगमन का वृत्तान्त जाना त्यो ही वह उठ खड़ा हुआ। उसने सोचा दूसरे किसका सहारा लिया जाय। जो संसार के आधार है उनका सहारा ही मेरे लिए पर्याप्त है।

क्रोध न आवे और जब अर्जुन मुझ पर मुगदर का प्रहार करे तब भी आपका ध्यान अखण्ड बना रहे। अर्जुन मुझे मित्र प्रतीत हो शत्रुता का भाव हृदय मे उत्पन्न न हो।

जो लोग सुदर्शन की भाति परमात्मा से निर्वैर एव निर्विकार बुद्धि की ही याचना करते हैं उन्हीं का मनोरथ पूर्ण होता हे। इस बात पर दृढ प्रतीति होते ही विरुद्ध वातावरण अनुकूल हो जाता है।

ओरो के उपदेश मे भाषा लालित्य और शाब्दिक सौन्दर्य भले ही अधिक मिले लेकिन भगवान् महावीर के उपदेश मे जो विचित्रता है वह अन्यत्र कही नही मिल सकती। लोग आज उनकी शक्ति पर विचार नही करत इसी से दु ख पा रहे हैं। सुदर्शन ने भगवान् की शक्ति पहचानी थी।

निर्विकार और निर्वैर रहने की भावना पर नास्तिक को चाहे विश्वास न हा नास्तिक भले ही शास्त्र पर और हिसा पर विश्वास रखे लेकिन सच्चा आस्तिक ता निर्विकार एव निर्वेर भावना पर ही विश्वास करता है। यद्यपि हिसा म भी शक्ति हे हिसा की शक्ति पर श्रावका ने भी सग्राम किये हैं भरत बाहुबली भी लड हें लकिन अन्तिम विजय अहिसा की ही हुई है। जेना का भगवान् महावीर क अहिसा सिद्धान्त पर ही पूर्ण विश्वास है। इसलिए बमबाज बमा स लट्ठबाज लट्ठा स चाह मानत रह लकिन जेन फिर भी अहिसा का ही उपयाग करगा। वह अपनी उच्च भूमिका से नीचे नही उतर सकता।

श्रातागण! आप वीरा के शिष्य हें। घर म घुस कर छिप बेठन म वीरता या क्षमा नही है। जिन्ह दु ख म दखकर दखने वाल भी दु खी हा जाव पर दु ख पान वाल उस दु ख न समझ बलिक दखकर दु खी हान वाला का सान्त्वना द–हिसा द वही सच्च वीर हें। ससार म इसस बढकर दूसरी वीरता नही हा सकती। दु ख का भी सुख रूप म परिणत कर लना अपनी सम्वदना–शक्ति क प्रभाव स दु ख का सुख रूप म पलट लना ही भगवान महावीर की वीरता का आदर्श है।

दरवाजा बन्द करक घर म बेठ रहना वीरता नही हे मगर मरन क स्थान पर जाकर भी धेर्य त्यागन म वीरता हे महावीर का सच्चा अनुयायी अपन द्वार बन्द करक घर म नही छिप रहता वरन खुल मेदान म खडा हा जाता ह और दृढ स्वर म कहता ह–मरा प्रभु पुरुषवरगन्धहस्ती ह। मरा कोन क्या बिगाड सकता ह?

क्रोध न आवे और जब अर्जुन मुझ पर मुग्दर का प्रहार करे तब भी आपका ध्यान अखण्ड बना रहे। अर्जुन मुझे मित्र प्रतीत हो शत्रुता का भाव हृदय मे उत्पन्न न हो।

जो लोग सुदर्शन की भाति परमात्मा से निर्वैर एव निर्विकार बुद्धि की ही याचना करते हैं उन्हीं का मनोरथ पूर्ण होता है। इस बात पर दृढ प्रतीति होते ही विरुद्ध वातावरण अनुकूल हो जाता है।

औरो के उपदेश मे भाषा लालित्य और शाब्दिक सौन्दर्य भले ही अधिक मिले लेकिन भगवान् महावीर के उपदेश मे जो विचित्रता है वह अन्यत्र कही नही मिल सकती। लोग आज उनकी शक्ति पर विचार नही करते इसी से दु ख पा रहे हैं। सुदर्शन ने भगवान् की शक्ति पहचानी थी।

निर्विकार और निर्वैर रहने की भावना पर नास्तिक को चाहे विश्वास न हो नास्तिक भले ही शास्त्र पर और हिसा पर विश्वास रखे लेकिन सच्चा आस्तिक तो निर्विकार एव निर्वैर भावना पर ही विश्वास करता है। यद्यपि हिसा म भी शक्ति हे हिसा की शक्ति पर श्रावका ने भी सग्राम किये हैं भरत बाहुबली भी लड हैं लकिन अन्तिम विजय अहिसा की ही हुई है। जैना को भगवान महावीर क अहिसा सिद्धान्त पर ही पूर्ण विश्वास है। इसलिए बमबाज बमा स लट्ठबाज लट्ठा स चाह मानते रह लेकिन जेन फिर भी अहिसा का ही उपयाग करगा। वह अपनी उच्च भूमिका से नीचे नही उतर सकता।

श्रातागण! आप वीरा के शिष्य हैं। घर म घुस कर छिप वेठन म वीरता या क्षमा नही है। जिन्ह दु ख म दखकर देखन वाल भी दु खी हो जाव पर दु ख पान वाल उस दु ख न समझ बलिक देखकर दु खी हाने वाला को सान्त्वना द–हिसा द वही सच्च वीर हें। ससार म इससे वढकर दूसरी वीरता नही हा सकती। दु ख का भी सुख रूप म परिणत कर लना अपनी सम्वदना–शक्ति क प्रभाव स दु ख का सुख रूप म पलट लना ही भगवान महावीर की वीरता का आदर्श हे।

दरवाजा वन्द करक घर म वेठ रहना वीरता नही हे मगर मरन क स्थान पर जाकर भी धैर्य त्यागन में वीरता हे महावीर का सच्चा अनुयायी भक्त द्वार वन्द करक घर म नही छिप रहता वरन खुल मेदान म खडा हो जाता ह और दृढ स्वर म कहता ह–मरा प्रभु पुरुषवरगन्धहस्ती हे। मरा कोई क्या बिगाड सकता हैं?

लोकोत्तम–लोकनाथ–

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू अनगार से कहते हैं–भगवान् महावीर पुरुषसिह है पुण्डरीक हैं और पुरुषगधहस्ती हैं। इन उपमाओ के कारण भगवान पुरुषोत्तम हैं। मगर वह केवल पुरुषोत्तम ही नही हैं लोकोत्तम भी हैं। लोक शब्द से स्वर्गलोक, मृत्युलोक और पाताललोक तीनो का ग्रहण होता है। तीनो लोको मे जो ज्ञान आदि गुणो की अपेक्षा सब मे प्रधान हो वह लोकोत्तम कहलाता है।

पुरुषोत्तम और लोकोत्तम विशेषणो के अर्थ मे अन्तर है। पुरुषोत्तम विशेषण से मनुष्य लोक मे ही उत्तमता प्रकट की गई है अर्थात् भगवान समस्त मनुष्यो मे उत्तम थे, यह भाव प्रदर्शित किया गया है और लोकोत्तम विशेषण का तात्पर्य यह कि भगवान् तीनो लोको मे रूप की अपेक्षा उत्तम होने के साथ–साथ तीनो लोको के नाथ भी हैं। तीन लोक के नाथ होने से भगवान लोकोत्तम है। नाथ शब्द का अर्थ है–

योगक्षेमकरो नाथ ।

अर्थात् योग और क्षेम करने वाला नाथ कहलाता है।

योग का अर्थ है–अप्राप्त वस्तु को प्राप्त होना और क्षेम का अर्थ है–प्राप्त वस्तु की सकट के समय रक्षा होना। भगवान योग भी करने वाले है और क्षेम भी करने वाले हैं अत वह नाथ हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र आदि सद्गुण जो आत्मा को अनादि काल से अब तक प्राप्त नही हैं उन्हे भगवान् प्राप्त कराने वाले हैं। और यदि यह सद्गुण प्राप्त हो जाये हैं तो किसी सकट के समय इनसे विचलित होना सम्भव है मगर भगवान इसकी रक्षा करते हैं।

ससार मे समान्यतया देवता और इन्द्र पूज्य माने जाते हैं। लाग उनकी पूजा करते हें। मगर इन्द्र आदि देवता भी भगवान को ही पूजनीय मानते हैं। भगवान उनके भी नाथ हैं। भगवान देवाधिदेव हें। इस विशेषता को सूचित करने के लिए भगवान को 'लोकनाथ। विशेषण लगाया गया है।

लोकप्रदीप–

लोक के नाथ होने के साथ भगवान् लोक–प्रदीप भी हैं–लोक के लिए दीपक के समान हैं। भगवान लोक को यथावस्थित वस्तु स्वरूप दिखलाते हैं इसलिए लोकप्रदीप हैं। अन्धकार से आच्छादित वस्तुओ को दीपक प्रकाशित कर दता हे इसी प्रकार अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण आच्छादित वस्तु क वास्तविक स्वरूप को भगवान् प्रकाशित करते हैं।

घर का दीपक घर मे प्रकाश करता है कुल का दीपक कुल मे प्रकाश करता है नगर का दीपक नगर मे प्रकाश करता है और देश का दीपक देश म प्रकाश करता हे। जो जहा प्रकाश करता है वह वही का दीपक कहलाता है। भगवान सम्पूर्ण लोक मे प्रकाश करते हैं, इसलिए वह लोक के दीप कहलात हैं। इसी कारण उन्हे जगदीश्वर' कहते हैं।

अथवा भगवान् मनुष्य, तिर्यच देव आदि के हृदय मे मिथ्यात्व के अन्धकार का मिटाकर सम्यक्त्व का ऐसा अपूर्व एव अलोकिक प्रकाश दत हैं कि वेसा प्रकाश ससार का कोई भी प्रकाशवान् पदार्थ नही द सकता। भगवान की स्तुति करत हुए कहा गया हे–

रवि शशि न हरे सो तम हराय

अर्थात–जा अन्धकार सूर्य ओर चन्द्रमा भी नहीं मिटा सकते वह अन्धकार भगवान मिटा दत हें।

द्रव्य–अन्धकार की अपक्षा भाव–अन्धकार अत्यन्त सूक्ष्म ओर गहन हाता ह। द्रव्य अन्धकार इतना हानिकारक नही हाता जितना भाव–अन्धकार हाता ह। भाव–अन्धकार हान पर मनुष्य की आख द्रव्य प्रकाश की विद्यमानता म भी वस्तु तत्व का दखन म असमर्थ हा जाती हें। भाव अन्धकार मनुष्य की समस्त इन्द्रिया का यहा तक मन और चतना का भी बकार बना डालता है। भगवान भाव–अन्धकार का हरन वाल दिव्य दीपक हें–अतएव लाक प्रदीप ह। यह विशेषण दृष्टा लाक की अपक्षा कहा गया हे क्याकि भगवान दृष्टा अर्थात दखन वाल क लिए दीपक का काम कर दत हैं लकिन हैं वह सार ससार का प्रकाशित करन वाल।

प्रश्न हो सकता है कि लोक किसे कहते हैं? उसका उत्तर यह है कि लोकि विलोकने धातु से 'लोक' शब्द बना है। जो देखा जाये वह लोक है। यो तो सभी का लोक दिखाई देता है, मगर जिसे सब लोग देखते हैं उसी को लोक माना जाये तो लोक के टुकडे-टुकडे हो जाएगे। अतएव साधारण मनुष्य के देखने मे जो आता है वही लोक नही है अपितु ज्ञानावरण का पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर सर्वज्ञ भगवान् को जो देखता है वह लोक है।

यहा फिर तर्क किया जा सकता है कि सर्वज्ञ भगवान् क्या अलोक को नही देखते? अगर अलोक को देखते हैं तो अलोक भी लोक हो जाएगा। अगर अलोक को भगवान् नही देखते तो वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कैसे कहलाएगे? इस का उत्तर यह है कि आकाश के जिस भाग मे पचास्तिकाय दिखाई देता है वह भाग लोक कहलाता है और जिस भाग मे पचास्तिकाय नही है केवल आकाश ही आकाश है वह अलोक कहलाता है। भगवान् सम्पूर्ण ससार के वस्तु स्वरूप को देखते हैं अतएव वे लोक के सूर्य कहलाते है।

लोक प्रद्योतकर-

भगवान् लोक-प्रद्योतकर भी है। ससार के समस्त पदार्थो का यथार्थ स्वरूप केवलज्ञान द्वारा जानकर प्रकाशित करने वाले है। उन्होने केवलज्ञान रूपी प्रकाश से जानकर छद्मस्थ जीवो को लोक का स्वरूप प्रदर्शित किया है अतएव भगवान् सूर्य है।

भगवान् के केवल ज्ञान रूपी प्रभाकर से प्रवचन रूपी प्रभा का उद्‌गम हुआ है। उस प्रवचन रूपी प्रभा से यह सिद्ध होता है कि भगवान् मे केवल ज्ञान का प्रकाश विद्यमान था। जैसे प्रकाश के होने से सूर्य जाना जाता है वैसे ही प्रवचन की प्रभा से यह जाना जाता है कि भगवान मे केवलज्ञान रूपी प्रकाश है और इसी कारण गणधरो ने भगवान् को लोक का सूर्य कहा है। यद्यपि सूर्य के प्रकाश से समस्त ससार के समस्त पदार्थ प्रकाशित नही हो सकते-सूर्य सिर्फ स्थूल जड पदार्थो को ही प्रकाशित कर सकता है और वह भी सदा के लिए नही किन्तु कुछ ही समय के लिए प्रकाशित कर सकता है और भगवान चौदह राजू लोक को-समस्त ससार के समस्त स्थूल सूक्ष्म रूपी अरूपी जड-चेतन को प्रकाशित करते है। ऐसी अवस्था मे भगवान का सूर्य रूपी उपमा देना हीनोपमा ही कहा जा सकता है मगर उपमा के बिना [illegible] का स्वरूप सर्व साधारण की सुगमता से समझ मे नही आता और

ससार म सूर्य से बढकर प्रकाश देने वाला कोई पदार्थ नहीं है। इसी कारण भगवान् को सूर्य की उपमा देनी पडती है।

अमयदए–

सभी अपने–अपने अभीष्ट देव की प्रशसा करते हैं। जैसे तीर्थकर भगवान को लोक–प्रद्योतकर मानते हैं उसी प्रकार हरि हर–ब्रह्मा आदि के अनुयायी उन्हे भी लोक–प्रद्योतकर मानते हैं। सूर्य भी लोक मे उद्योत करने वाला है। फिर हरि हर ब्रह्मा और सूर्य से भगवान् में क्या विशेषता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भक्तो के विशेषण लगा देने से ही भगवान् मे विशेषता नही आ जाती। शाब्दिक विशेषण से ही वस्तु पलट नहीं सकती। भगवान् म हरि हर आदि देवताओ से जो विशेषता है, वह भगवान के सिद्धान्तो म स्वत प्रकट हो जाती है। भगवान् के सिद्धान्तो मे क्या विशेषता है यह दखना चाहिए। यही बात दिखाने के लिए भगवान् को अभयदए विशेषण लगाया गया है।

भगवान की एक विशेषता यह हे कि वह अमयदाता हैं। भगवान् क प्राण–हरण करन क उद्दश्य स आन वाल पर भी भगवान की अपूर्व अनुकम्पा अखण्ड करुणा रही। मारने वाला कषाय क भयकर ताप से तप्त होता था तब भगवान न अपनी अद्‌भुत दया क शीतल प्रवाह स उसे शान्ति पहुचाने का ही प्रयत्न किया। चण्डकोशिक क्रोध की लप–लपाती ज्वालाओ म झुलस रहा था और भगवान् को भी झुलसाना चाहता था परन्तु भगवान् के अन्त करण स करुणा क नीरकण एस निकले कि चण्डकोशिक का भी अन्त करण शान्त हो गया और उसे स्थायी शान्ति का पथ मिल गया।

भगवान् न अनुकम्पा का अपने जीवन म मूर्त्त स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने अपनी साधना द्वारा दया को जीवित किया और जनता को अभयदान दन का उपदश दिया जिसस ससार से भय मिट कर अभय का साम्राज्य छा जाव। 'सव्वसु दाणसु अभयप्पयाण' अर्थात अभयदान सभी दानो म श्रेष्ठ है इस सत्य की भगवान न घोषणा की।

यह भगवान की विशेषता है। कदाचित सूर्य क साथ 'लोकप्रद्योतकर' विशेषण दिया जाय तब भी सूर्य अभयदान नहीं द सकता। इसी प्रकार हरि हर आदि क जो चरित्र उनक भक्तो क लिख हुए उपलब्ध हैं उनस यह प्रकट होता है कि हरि–हर आदि न बड–बड भीषण युद्ध कर क दैत्यो को मारा और

वे दैत्यारि कहलाए। इस प्रकार युद्ध करने और मारने की बात तो उनके चरित्र मे लिखी गई है मगर यह नही लिखा कि उन्होने मारने के उद्देश्य से आने वाले को भी अभयदान दिया। यह विशेषता तो केवल तीर्थंकरो मे ही है। विष्णु दैत्यारि और त्रिशूलधारी कहलाते हैं लेकिन तीर्थंकरो जैसी दया–भावना वहा कहाँ है ? तीर्थंकरो के चरित्र दया के अनुपम आदर्श हैं और अब भी ससार मे दया का जो गुण विद्यमान है वह उन्ही परम पुरुषो के जीवन की थोडी बहुत वसीयत है।

कहा जा सकता है कि शिव, विष्णु आदि के सबध मे हिसात्मक जो वर्णन है वह सब आलकारिक है। वास्तव मे उन्होने आन्तरिक दैत्यो से अर्थात् काम क्रोध मद, मोह आदि से युद्ध किया था और उन्ही को मारा था। अगर यह कथन सत्य मान लिया जाये तो उनमे और तीर्थंकरो मे अन्तर ही क्या रहा? हम तो उसी के प्रशसक है–उसी के उपासक हैं जिसमे तीर्थंकरो की सी दया है। जिसमे तीर्थंकरो की दया है वही तीर्थंकर है। नाम किसी का कुछ भी हो जिसमे तीर्थंकर भगवान् के समस्त गुण विद्यमान हो वह हमारा उपास्य देव है। कहा भी है–

यत्र तत्र समये यथा तथा
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुष स चेद् भवान्
एक एव भगवान् नमोऽस्तु ते।।

चक्खुदए—मग्गदए

भगवान् में केवल अनर्थ—परिहार अर्थात् दु ख से मुक्ति देने का ही गुण नही है अपितु अर्थ अर्थात इच्छित वस्तु की प्राप्ति भी कराते हैं।

भगवान् स्वय अकिचन् हैं—उनके तन पर वस्त्र नहीं साथ मे कोई सपदा भी नहीं तिल—तुष मात्र परिग्रह नही किसी भी वस्तु को पास रखते नहीं फिर वे इच्छित अर्थ कैसे और कहा से देते हैं? इसका समाधान यह है कि ससार के मोह एव अज्ञान से आवृत जन जिसे अर्थ कहते हैं वह वास्तव म अर्थ नहीं अनर्थ है। वह अर्थ—अनर्थ इस कारण है कि उससे दु खा की परम्परा का प्रवाह चालू होता है जो दु ख का कारण है उसे अनर्थ न कह कर अर्थ कैस कहा जा सकता है? भगवान् अनर्थ से छुडाने वाले हैं और अर्थ दन वाले हैं। अर्थ वह है जिससे दु ख का दावानल शान्त होता है और शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। भगवान् ऐसे ही अर्थ को देने वाले हैं क्योंकि वे 'चक्षु' दन वाल हैं सुख का मार्ग बताने वाले हैं, शरण देने वाले हैं धर्म देने वाले हैं और धर्म का उपदश दने वाले हैं। यह बात एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट रूप स समझी जा सकगी।

एक धनी आदमी धूर्तो के धोखे म आ गया। वह धन लेकर धूर्तो के साथ जगल म गया। जगल म पहुच जाने पर धूर्तो ने धनिक को बाध लिया उसकी आखा पर पट्टी बाध दी ओर मार पीट कर उसका धन छीन कर चलत बन। धनिक बधा हुआ जगल में कष्ट पा रहा था। कहीं कुछ भी ,खटका हाता कि उसका हृदय कापन लगता था। उसके हाथ—पैर बधे थे अपनी रक्षा करन म असमर्थ था। इस कारण भय भी अधिक बढ गया था।

कुछ समय पश्चात एक सार्थवाह उधर से निकला। उसक रथ की आर घाडा क टाप की आवाज सुनकर वह धनिक आप ही आप कहन लगा— अर भल मानुसा! तुम ल गय सा ल गय ल जाआ अब क्या कष्ट दन आय हा? धूर्तो की मार स वह इतना घबराया हुआ था कि आहट हात ही वह समझता था कि वही धूर्त फिर आ रह हें और मुझ मारग।

धनिक की यह चिल्लाहट सुनकर सार्थवाह न साचा मैंन इसरा कुछ भी कहा नहीं इसका कुछ किया भी नही फिर भी यह ता कुछ कह रहा है उसस प्रकट है कि यह सताया गया हे ओर भयभीत है। मुझ धूर्त समझा ग इस विचार का काई अपराध नहीं है क्याकि इसकी आखा पर पट्टी बधी हुई है।

यह सोचकर सार्थवाह ने कहा— भाई ! डरो मत। मैं तुम्हे दुःख से मुक्त करने आया हू।

सार्थवाह के यह कहने पर भी उस भयभीत की आशका न मिटी। वह मन मे सोचता रहा कि कही यह भी ठग ही न हो और मुझे फिर सताने आया हो। सार्थवाह ने भी सोचा—मैं जिह्वा से कह रहा हू कि तुझे भयमुक्त करने आया हू, मगर जब तक इसके बधन न खोल दू, तब तक इसे विश्वास कैसे हो सकता है? बधन मुक्त होने पर ही यह भयमुक्त होकर विश्वास कर सकेगा।

यह सोचकर सार्थवाह उसके समीप गया और उसने बधन खोल दिये। बधन खोलने पर भी उसे पूरा विश्वास न हुआ। लेकिन जब सार्थवाह ने उसकी आखो की पट्टी भी खोल दी और उसने देख लिया कि यह ठग नही—कोई दयालु पुरुष है तब उसे विश्वास हुआ। उसने कहा— मेरे भाग्य अच्छे थे कि आप जैसे दयामूर्ति पुरुष का यहा आगमन हुआ नही तो न जाने कब तक मै यहा बधा हुआ कष्ट पाता अथवा किसी जगली जानवर का [illegible] बन जाता।

सार्थवाह के शब्द जब कार्यरूप मे परिणत हुए तभी उस [illegible] उन शब्दो पर विश्वास हुआ।

ससारी आत्मा धनिक के समान है। आत्मा के पास अनन्त ज्ञान दर्शन आदि रूप धन है। काम क्रोध आदि दुर्गुण ठग हैं। इन ठगो ने ससार की वस्तुओ का आत्मा रूपी धनिक को ऐसा मनोहर एव आकर्षक रूप दिखाया कि आत्मा उन ठगो के जाल में फस गयी और उन वस्तुओ को ही अपने लिए परम हितकारी मानने लगी। इस प्रकार काम क्रोध आदि ठगों ने आत्मा को उसके.असली घर से बाहर निकाला, ससार रूपी वन में ले जाकर डाल दिया और ज्ञान–नेत्रो पर अज्ञान का पट्टा चढा दिया।

जिसके द्वारा ज्ञान का हरण हो वही सच्चा दुर्गुण है। धन–माल लूट लेने वाला वैरी वैसा नहीं है, जैसा वैरी सच्ची बुद्धि बिगाडने वाला होता है।

अनेक विद्वानो का यह मत है कि औरगजेब शाही एव नादिरशाही से भारत की वैसी हानि नही हुई थी। क्योकि उन्होने सिर्फ शस्त्राघात ही किया था। वास्तविक और महान् हानि तो उस शाही से हुई है जिसने बुरी–बुरी बाता म फसा कर बुद्धि को ही नष्ट कर दिया, साहित्य को गदा कर दिया जिसस सत्य का पता लगाना ही कठिन हो गया है। धूर्त्त लोग बुद्धि–चक्षु को हरण करक बुर कामों म इस तरह फसा देते हैं कि जिससे छूटना ही कठिन हा जाता है।

व लाग भूल करते हें जो धूर्तो द्वारा दी हुई चीज के लिए यह समझते हैं कि उन्हाने कृपा करके यह दी है। धूर्त लोग जो भी चीज देगे वह बुद्धिहरण करन क लिए ही देगे। भलाई की भावना से किया गया काम और ही तरह का हाता है। लकिन धूर्तो न लोगो की अच्छी वस्तु हरण करके बुरी चीज उनके गल मढ दी हैं।

इस प्रकार आत्मा रूपी सेठ ससार रूपी वन मे बधन–वद्ध होकर कष्ट पा रहा है। एसे समय म अरिहन्त भगवान् के सिवाय और कौन करुणा–सिन्धु होकर सहायक वन सकता हे ? कौन प्रकाश प्रदान कर सकता हे?

हरि हर ब्रह्म अनन्त कुछ भी कहो–जिसने कर्मो का सामूल क्षय प्राप्त कर लिया है जिसने अनन्त प्रकाश पुज प्राप्त कर लिया है ओर ससार का अभय दता है वही हमारा पूज्य है। परन्तु जिस हरि हर आदि को नीच कामनाओं के साथ गूथ कर लोग अपना स्वार्थ साधन करत हैं हम उन क भक्त कैस हा सकत हें? कामनाआ क कीचड से निकलना ही जिनका एक मात्र उदश्य है जा अपन जीवन का शुद्ध एव स्वच्छ बनाना चाहत हैं व सकाम देवों की उपासना नहीं करेंग। अरिहन्ता न यह स्पष्ट कर दिया है कि बुर

काम चाहे किसी के नाम पर किये जावे बुरे ही हैं। बुरे कामो मे शरीक होना भले आदमियो का कर्त्तव्य नही है।

कल्पना कीजिए एक आदमी बधा पडा है। दो आदमी उसके पास पहुचे। उनमे से एक आदमी ने उसे आश्वासन दिया। कहा–'भाई डरो मत तुम्हारे कष्टो का अन्त आ रहा है इसके विरुद्ध दूसरा कहता है–अजी यह बधा हुआ है। कुछ बिगाड तो सकता नही, इसके कपडे छीन डालो।

बताइये इन दोनो मे कौन उत्तम पुरुष है? आपके हृदय की स्वाभाविक सवेदना किसकी ओर आकृष्ट होती है? निस्सन्देह अभय देने वाला ही उत्तम है और प्रत्येक का हृदय इसी बात का समर्थन करेगा। भगवान ने किसी को अधकार मे नही रक्खा। उन्होने कहा–पहले मुझे भी पहचान लो। अगर मुझ मे अभयदान आदि का गुण दिखाई दे तो मेरी बात मानो अन्यथा [illegible]। इस प्रकार ससार–चक्र मे बधे हुए लोगो को भगवान् ने ज्ञान–चक्षु दिये हैं।

जैन धर्म किसी की आखो पर पट्टा नही बाधता अर्थात [illegible] बात सुनने या समझने का निषेध नही करता। जैन धर्म परीक्षा–[illegible] समर्थन करता है और जिन विषयो मे तर्क के लिए अवकाश [illegible] निश्चित कर लेने का आदेश देता है। जैन धर्म विधान करता है [illegible] अन्तर्ज्ञान पर से पर्दा हटाकर देखो कि आपको क्या मानना [illegible] नही।

बाद वह अपने घर की दिशा को जान लेगी धोखा नहीं खायेगी। रात–दिन हिसा करने म लगे रहने वाले और हिसा से ही जीवन यापन करने वाले हिसक प्राणी की आत्मा मे भी तेज मौजूद है। लेकिन वह तेज तभी काम आ सकता हे जब उसकी आत्मा अपना स्थान देखने को और अपना उद्धार करने को खडी हो जाती हे। वह अपने आपको कब खडा कर सकती है और किस प्रकार खडा कर सकती है, इस सम्बन्ध मे भगवान् ने कहा कि वह अपनी आत्मा से दूसरो के दु ख का अनुभव करे। एक की हिसा करने मे ही आनन्द मानने वाले दूसरे हिसक को ही मारने के लिए यदि कोई तीसरा व्यक्ति आ जाये तो उस हिसक व्यक्ति को तीसरा व्यक्ति कैसा लगेगा? बहुत बुरा। उसे दूसरा को मारना तो अच्छा लगता है, मगर जब अपने मरने का समय उपस्थित होता है तो बुरा क्यो लगता है? इस अनुभव के आधार पर ही हिसक को यह मालूम हो जायेगा कि दूसरे को मारना कैसा बुरा है। आत्मा मे इस अनुभव के पश्चात् होने वाला गुण पहले ही मौजूद है, पर अज्ञान यह है कि वह अपने भय का तो भय मानता है लेकिन दूसरे के भय को भय नही जानता। जब इस प्रकार का अनुभव करके उस पर विचार करता है कि मुझको मारने वाला मुझ इतना बुरा लगता हे तो जिन्हे मैंने मारा है उन्हे मैं क्यो न बुरा लगा होऊगा? इस प्रकार का विचार आते ही वह सोचने लगता है कि यह मुझे मारन नही वरन् शिक्षा देने आया है।

हिसक के हृदय म जब यह पवित्र विचार अकुरित होता है तभी उसके जीवन की दिशा बदलने लगती हे। वह अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए खडा हो जाता है। तब क्यो न उसका उद्धार होगा।

आत्मा के स्थान की यही दिशा है। मनुष्य अपने सुख–दु ख की तराजू पर दूसर के सुख–दु ख का एव इष्ट–अनिष्ट को तोले। 'मुझ कोई कष्ट देता है ता वह मुझ अप्रिय लगता है इसी प्रकार अगर मैं किसी को कष्ट पहुचाऊगा ता मैं भी उस अप्रिय लगूगा। मुझे सुख–साता प्रिय हे दुख अप्रिय है। यह आत्मौपम्य की भावना मनुष्य को अनेक उलझनो मे से पार कर ठीक मार्ग बतलाती है। इसी भावना स कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिये। जो ऐसा नही करता वह चक्कर म पड जाता है।

भगवान महावीर ने कर्त्तव्य स्थिर करन क लिए ससारी जीवो के हितार्थ उन्हे 'चक्षु' का दान दिया है। चक्षु दो प्रकार के हैं–एक इन्द्रियरूपी चक्षु और दूसरा श्रुत ज्ञान रूपी चक्षु। भगवान् श्रुत ज्ञान रूपी नेत्र के दाता हैं।

श्रुत ज्ञान को चक्षु क्यो कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि चर्म-चक्षु मनुष्य किसी वस्तु को देखकर अच्छी या बुरी समझते हैं। उनका यह ज्ञान सीमित ही है। किसी खास सीमा तक ही वे अच्छाई या बुराई बता सकते हैं। अतएव इन आखो से दीखने वाली शुभ वस्तु अशुभ भी हो जाती है और अशुभ शुभ भी दीखने लगती है। इस प्रकार मानवीय चक्षु भ्रामक भी हो जाता है। लेकिन तात्त्विक अच्छाई या बुराई बताने वाला श्रुत ज्ञान ही है। श्रुत ज्ञान आप्त-जन्य होने के कारण भ्रामक नही होता। इसीलिए कहा गया है कि वही मनुष्य सच्चा नेत्रवान् है जिसे श्रुत का लाभ हुआ है क्योकि श्रुतज्ञान रूपी चक्षु से वह वस्तु की वास्तविक बुराई या भलाई देख सकता है कि यह पदार्थ हेय है यह उपादेय है और यह उपेक्षणीय है। अतएव जिसे श्रुत-नेत्र प्राप्त नही है उसे अधा ही समझना चाहिये।

जैसे जगल मे बधे हुए धनिक की आखे खोल देने से और उसे [illegible] मार्ग बताने से सार्थवाह चक्षुर्दय और मार्गदय कहलाता है उसी प्रकार [illegible] रूपी वन मे रागादि विकार रूपी ठगो ने आत्मा रूपी धनिक [illegible] इसका धर्म रूपी धन छीन लिया है और कुवासना की पट्टी [illegible] अधा बना दिया है और विपत्ति मे डाल दिया है। भगवान [illegible] ज्ञान नेत्र पर पडे हुए पर्दे को हटाकर श्रुतधर्म रूपी चक्षु देते हैं [illegible] का मार्ग बतलाते हैं। इस कारण भगवान चक्षुदाता और [illegible]

सम्यक्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय [illegible] भगवान् ने इसका वास्तविक स्वरूप जगत को प्रदर्शित किया है [illegible] मुक्तिमार्ग के दाता कहलाते हैं।

होते। भगवान की शरण ग्रहण करने से जीव निर्वाण को प्राप्त करता है जहा किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। यही नहीं भगवान् की शरण मे आने वाला जीव मोक्ष जाने से पहले भी ससार में रहता हुआ ही कष्टों से मुक्त हो जाता हे। वह समताभाव के दिव्य यन्त्र मे डालकर दु ख को भी सुख के रूप मे पलटने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

ससारी जन मोह एव अज्ञान के कारण कुटुम्बी जनों को धन–दौलत को और सेना आदि को शरणभूत समझ लेते हैं। मगर सूर्य के प्रकाश की तरह यह स्पष्ट हे कि वास्तव मे इन सब वस्तुओ मे शरण देने की शक्ति नहीं है। जब असातावेदनीय के तीव्र उदय से मनुष्य दु ख के कारण व्याकुल बन जाता है तब कोई भी कुटुम्बी उसका त्राण नहीं कर सकता। काल रूपी सिह जीवन रूपी हिरन पर जब झपटता है तब कोई रक्षण नही कर सकता। सेना और धन अगर रक्षक होते तो ससार के असख्य भूतकालीन सम्राट और धनकुबेर इस पृथ्वी पर दिखाई देते। मगर आज उन मे से किसी का अस्तित्व नही है। सभी मृत्यु का शिकार हो गये। विशाल सेना खडी रही और धन से परिपूर्ण खजाने पड रहे–किसी ने उनकी रक्षा नही की। जब ससार का कोई भी पदार्थ स्वय ही सुरक्षित नही हे तो वह किसी दूसरे की सुरक्षा केसे कर सकता है? ससार का त्राण दने की शक्ति केवल भगवान् मे ही है। वही सच्चे शरणदाता हैं।

धर्मोपदेशक–धर्मदाता

भगवान की शरण केस मिल सकती हे ? इसका उत्तर भगवान के 'धर्मोपदशक' विशेषण म निहित है। भगवान् धर्मोपदशक हैं धर्म का उपदश दत हैं। धर्म दो प्रकार का हे–श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। भगवान् इन दोनो धर्मो का वास्तविक मर्म बतलाते हैं अतएव वह धर्मोपदशक हैं।

अथवा–जिस प्राणी को चारित्रधर्म प्राप्त नही है उसे भगवान के सदुपदश स चारित्रधर्म की प्राप्ति होती हे। इस कारण भगवान् धर्मोपदशक है। भगवान के परम अनुग्रह से चारित्रधर्म होता है। चारित्र–धर्म की प्राप्ति कराने के कारण भगवान् परम उपकारी हैं।

धर्मसारथि

भगवान् धर्मोपदेशक ही नही धर्म–सारथि भी हैं। सारथि उसे कहते हैं जो रथ को निरुपद्रव रूप से चलाता हुआ रथ की रक्षा करता है रथी की रक्षा करता है और रथ मे जुते हुए घोडो की रक्षा करता है। भगवान धर्म–रथ के सारथि हैं।

भगवान् ने हम लोगो को धर्म के रथ मे बिठलाया है और आप स्वय सारथि बने है। भले ही यह कथन आलकारिक हो मगर तथ्यहीन नही है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे भी कहा जाता है कि वे अर्जुन के सारथि बने थे। उन्होने अर्जुन को रथ मे बिठलाया और आप सारथि बने। भगवान महावीर भी धर्म रथ के सारथि है। लेकिन रथ मे बैठने वाला जब अर्जुन जैसा हो तब कृष्ण जैसे सारथि बनते है।

भगवान् धर्म रथ मे बैठने वालो के सारथि बन कर [illegible] निरुपद्रव स्थान मोक्ष मे पहुचा देते है।

भगवान् भी धर्म की सेवा करते है। वह स्वय धर्म के सारथि [illegible] है। भगवान् का यह आदर्श उन लोगो के लिए विचारणीय है जो [illegible] करना चाहते है और धर्म की सेवा से दूर भागना चाहते है। [illegible] बात और धर्म की सेवा–रक्षा करना दूसरी बात है। धर्म की [illegible] बड़ा काम है।

भगवान् के लिए यह उपमा इसलिए दी जाती है कि [illegible] संयम रूपी या प्रवचन रूपी रथ मे जो बैठते है या उस रथ [illegible] जो सहायक है भगवान उनकी रक्षा करते है।

इतने विशाल भूखड पर जो विजय प्राप्त करता है इतने से जिसकी अखड और अप्रतिहत आज्ञा चलती है अर्थात जो उसका एक मात्र अधिपति होता है उसे चतुरन्त कहते हैं। ऐसा चतुरन्त चक्रवर्ती होता है। चतुरन्त पद चक्रवर्ती का विशेषण है।

भगवान् 'वर चाउरत चक्कवट्टी' हैं अर्थात् चक्रवर्तियो मे प्रधान चक्रवर्ती हैं। वह सब चक्रवर्ती विजय प्राप्त करके पूर्वोक्त सीमा मे चारो ओर अपनी आज्ञा फैला ले और अपना सम्राज्य स्थापित कर ले लेकिन उस चक्रवर्ती पर भी आज्ञा चलाने वाला कोई दूसरा चक्रवती हो तो वह दूसरा चक्रवर्ती प्रधान चक्रवर्ती कहलाएगा। वह चक्रवर्ती का भी चक्रवर्ती है।

भगवान् को यहा धर्म-चक्रवर्ती कहा है। भगवान् धर्म के चक्रवर्ती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् के तत्व के सामने ससार का कोई भी माना हुआ तत्व नही ठहर सकता। जिस प्रकार सब राजा चक्रवर्ती के अधीन होते हैं-चक्रवर्ती के विशाल साम्राज्य मे ही सब राजाओ का राज्य अन्तर्गत हो जाता है अन्य राजाओ का राज्य चक्रवर्ती के राज्य का ही एक अश होता है उसी प्रकार ससार के समस्त धर्म-तत्व भगवान के तत्व के नीचे आ गये हैं। भगवान् का अनकान्त तत्व चक्रवर्ती के विशाल साम्राज्य के समान है और अन्य धर्म प्ररूपका क तत्व एकान्त रूप होने के कारण राजाओ के राज्य के समान ह। सभी एकान्त रूप धर्मतत्व, अनेकान्त के अन्तर्गत आ जाते हैं।

चक्रवर्ती लोभ स ग्रस्त होकर या साम्राज्यलिप्सा के कारण साम्राज्य की स्थापना नहीं करता। वह अधिक से अधिक भूमिभाग मे एकरूपता एव सगठन करन के उद्दश्य से साम्राज्य स्थापित करता है। चक्रवर्ती अपने राज्य म किसी का गुलाम नहीं रखना चाहता। वह चाहता है कि मेरे राज्य म कोई दु खी न रह और मर राज्य मे अन्याय न हो। चक्रवर्ती अपने राज्य म सभी का स्थान दता हे मगर उन्ह अपनी छत्रछाया म रखना चाहता है।

भगवान का स्याद्वाद सिद्धान्ता का चक्रवर्ती हे। इस सिद्धान्त क महात्म्य स सभी प्रकार क विरोधा का अन्त आ जाता हे। प्रतीत हान वाल विरोध का नष्ट कर दना स्याद्वाद का लक्षण हे। कहा भी हे- विरोधमथो हि स्याद्वाद । अर्थात विरोध का मथन कर दना ही स्याद्वाद हे। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त सब झगड मिटाकर शान्ति स्थापित करन का अमोघ साधन ह। इसका आश्रय लन पर सभी धर्मो क अनुयायी एक ही झडे क नीचे आ जाते हैं। स्याद्वाद न सभी सिद्धान्ता का यथायाग्य स्थान दिया है और

सम्पूर्ण सत्य को प्रकाशित करता है। इस प्रकार अतिशय विशाल भाव वाला भगवान् का राज्य है।

धर्म है जो प्रधान चक्रवर्ती है वही धर्मवर चक्रवर्ती कहलाता है। जैसे समुद्र मे मिल जाने पर नदियो मे भेद नही रहता, उसी प्रकार धर्मो के सार भगवान् के सिद्धान्त मे आकर एक हो जाते है उनम भेद नही रहता। यह भगवान् का धर्म के विषय मे चक्रवर्तीपन है।

पार्थिव चक्रवर्ती के विषय मे कहा जाता है कि वह अन्यान्य राजाओ की अपेक्षा अत्यन्त अतिशयशाली एव प्रजा पालक होता है। ग्रन्थो से विदित होता है कि चक्रवर्ती प्रजा से उसकी आय का चौसठवा भाग कर लेता है। कम कर लेकर प्रजा को अधिक सुखी एव समृद्ध बनाने वाला पूर्वोक्त राजा चक्रवर्ती कहलाता है। जो स्वार्थ से प्रेरित होकर नये-नये कर प्रजा से वसूल करता है प्रजा जिसकी शरण मे स्वेच्छा से नही अपितु भय के कारण जाती है वह राजा नही चक्रवर्ती भी नही हो सकता। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे देखने से ज्ञात होगा कि सच्चा राजा कौन हो सकता है और राजा का कर्त्तव्य क्या है?

ससार मे जितने धर्मोपदेशक हुए है उनमे सब से उत्तम बाधा रहित शक्ति से उपदेश करने वाले भगवान् महावीर है। इसी कारण उन्हे धर्म का चक्रवर्ती कहा गया है। चक्रवर्ती उच्च-नीच और छोटे-बडे का भेदभाव नही रखता किन्तु समानभाव से सभी को अपने राज्य मे स्थान देता है। इसी प्रकार भगवान् महावीर ने अपने धर्म मे स्त्री-शूद्र आदि के भेदभाव को स्थान नही दिया है। भगवान् के धर्म मे हर किसी को समान अधिकार प्राप्त है। जिस मे जितनी योग्यता हो वह उतना धर्म का अनुष्ठान कर सकता है। जहा जाति-पाति के कल्पित भेदभावो को स्थान है वह वास्तव मे धर्म ही नही है

अग्नि आदि से कुछ न कुछ सभी को ग्रहण करना पडता है। मगर जो ले तो लेता है मगर बदले मे कुछ नही देता वह पापी है।

कई लोग दान देकर अभिमान करते हैं। इसलिए भगवान् ने कहा कि दान के साथ शील का भी पालन करो अर्थात सदाचारी बनो।

तप के अभाव मे सदाचार भ्रष्ट हो जाता है। सदाचार को स्थिर रखने के लिए तप अनिवार्य है। अतएव भगवान् ने तप का उपदेश दिया है। तप का अर्थ केवल अनशन करना ही नही है। तप की व्याख्या बहुत विशाल है। भगवान ने बारह प्रकार के तपो का वर्णन किया है। भगवान् ने कहा है कि तप के बिना मन शरीर और इन्द्रिया ठीक नही रहती।

भावना हीन तप यथेष्ट फलदायक नही होता। अत धर्म मे भाव की प्रधानता है। 'यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या अर्थात् भावशून्य क्रियाए काम की नहीं हैं।

भगवान् ने धर्म के यह चार विभाग बतलाये हैं। ऐसे विभाग दूसरे धर्मोपदेशका ने नही बतलाये हैं। इन चार धर्मों को चतुरन्त या चातुरन्त कहा गया है भगवान् इस धर्म के चक्रवर्ती हैं।

अथवा—देवगति, मनुष्यगति तिर्यचगति और नरकगति का अन्त करने वाला चतुरन्त कहलाता है। ऐसे चतुरन्त श्रेष्ठ धर्म का उपदेश देने के कारण भगवान् धर्मवर चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाते हैं।

शास्त्रकारा को न ता स्वर्ग से प्रीति थी ओर न उन्होने स्वर्ग प्राप्ति के लिए उपदश ही दिया हे। उन्हाने चारा गतियो का यथार्थ स्वरूप बतलाकर उनका अन्त करन का उपदेश दिया हे। यहीं नही शास्त्रकारा ने समय समय पर स्वर्ग की निन्दा भी की हे ओर कहा हे कि स्वर्ग ऐसा स्थान हे जहा पहुच कर जीव का पतन भी हा सकता हे।

चारा गतिया का अन्त करने के लिए भवसतति का छेदन करना आवश्यक ह। एक गति स दूसरी गति म आना ओर दूसरी गति के बाद तीसरी गति म उत्पन्न हाना भवसतति हे। इस भव परम्परा का खडित कर देना ही चार गतिया का अन्त करना कहलाता हे।

ओर विशेष धर्मो का समूह ही वस्तु कहलाता है। वस्तु के सामान्य अश को जानने वाला ज्ञान दर्शन कहलाता है और विशेष अश को जानने वाला ज्ञान ज्ञान कहलाता है। भगवान् का ज्ञान और दर्शन दोनो ही अप्रतिहत हैं और समस्त आवरणो के क्षय से उत्पन्न होने के कारण वर अर्थात् प्रधान है।

विगतछद्म

कई लोगो की यह मान्यता है कि छद्मस्थो मे भी इस प्रकार का ज्ञान–दर्शन पाया जा सकता है। मगर यह सम्भव नही है। छद्मस्थ का उपदेश मिथ्या भी होता है अतएव वह अप्रतिहत ज्ञान दर्शन का धारक नही हो सकता। छद्मस्थ मे अप्रतिहत ज्ञान–दर्शन नही हो सकता यह भाव प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है कि भगवान् विगतछद्म हैं।

छद्म के दो अर्थ हैं–आवरण–ढक्कन भी छद्म कहलाता है और धूर्तता को भी छद्म कहते हैं। भगवान् से छद्म हट गया है अर्थात् न उनमे कपट है न आवरण है। जहा कपट होगा वहा ज्ञान का आवरण भी अवश्य होगा। कपट का पूर्ण रूप से जीत लेना ज्ञान का मार्ग है।

यहा यह प्रश्न किया जा सकता है कि आज जो धर्मोपदेशक हैं वह छद्मस्थ हैं। उनमे से कुछ कपट हटा होगा पर कुछ कपट तो अब भी विद्यमान है। ऐसी अवस्था मे उन पर विश्वास केसे किया जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि यदि कोई उपदेशक अपनी ही ओर से उपदेश दे तब तो उपदेशक से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या आप को पूर्ण ज्ञान हो गया है ? क्या आप मे कपट नहीं रहा? अगर उपदेशक यह उत्तर दे कि हम पूर्णज्ञानी नही हैं तो उससे कहना चाहिए कि आपका उपदेश हमारे काम का नही है। हा अगर उपदेशक यह कहता है कि मै अपनी बुद्धि से उपदेश नही देता सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र की ही बात कहता हू। उस पर मै स्वय चलता हू और दूसरो को चलने के लिये कहता हू, तब तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता। फिर वह उपदेश छद्मस्थ का नहीं, सर्वज्ञ का ही है।

आज मजहब से ऐसी बात चल पडी हैं कि जिनसे लोग चक्कर मे पड जाते है। परन्तु श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि मैं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कर रहा हू, जिन्होने छद्म पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर ली थी उन सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् के उपदेश का ही मै अनुवाद करता हू। इस प्रकार शास्त्र का प्रमाण मान कर चलने से धोखा नही हो सकता।

अमुक शास्त्र सर्वज्ञ की वाणी है या नहीं? इस शका का समाधान करने के लिए शास्त्र का लक्षण समझ लेना चाहिए। कहा है–

आप्तोपज्ञमनुल्लघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
शास्त्रोपकृत् सार्व शास्त्र कापथघट्टनम्।।

अर्थात् जो शास्त्र आप्त का कहा हुआ होता है उसका तर्क या युक्ति से खण्डन नही किया जा सकता। उसमे प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण से विरोध नही होता। वह प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी होता है और अन्याय असमानता मिथ्यात्व आदि कुमार्ग का विरोधी होता है।

यह लक्षण जिसमे घटित होता हो अथवा जिस शास्त्र के पढने सुनने से तप, क्षमा, अहिसा आदि सद्गुणो के प्रति रुचि जागृत हो, उस शास्त्र के सम्बन्ध मे समझना चाहिए कि यह सर्वज्ञ की वाणी है। उसे किसने लिपिबद्ध किया है यह प्रश्न प्रधान नही है, प्रधान बात है उसमे पूर्वोक्त दैवी भावनाओ का होना।

बढती ही है घटती नही है और किसी प्रकार के निश्चय पर पहुचना कठिन हो जाता है।

इसी बात को लक्ष्य मे रखकर शास्त्रकारों ने कह दिया है कि धर्म, तर्क द्वारा बाह्य परीक्षा की चीज नही है। परीक्षा करनी है तो इसकी आन्तरिक परीक्षा करो। तर्क का आधिक्य बुद्धि मे चचलता उत्पन्न करता है और अन्त मे मनुष्य साशयिक बन जाता है।

केले के वृक्ष के छिलके उतारोगे तो क्या पाओगे ? सिवाय छिलको के ओर कुछ भी न मिलेगा। अगर उसे ऐसा ही रहने दोगे और उसमे पानी देते रहोगे तो मधुर फल प्राप्त कर सकोगे। जब केले का वृक्ष छिलके उतारने पर फल नही देता और छिलके न उतारने पर फल देता है तो छिलके क्यो उतारे जाएं? यही बात धर्म के विषय मे समझनी चाहिए। अनेक लोगो का तर्क–वितर्क करके धर्म के छिलके उतारने का व्यसन–सा हो जाता है। मगर यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नही है। ज्ञानी पुरुष धर्म के छिलके उतारने के लिए उद्यत नहीं होते वे धर्म के मधुर फलो का ही आस्वादन करने के इच्छुक होते हैं।

शास्त्र रूपी आम मे मिठास की भाति तप क्षमा और अहिसा की त्रिपुटी का होना आवश्यक है। जिसमे इन तीन बातो की शिक्षा हो वही शास्त्र है अन्यथा नही। यह तीनो बाते परस्पर सम्बद्ध हैं।

भगवान महावीर ने दान, शील और भावना रूप जो चतुर्विध धर्म प्ररूपित किया है वह इतना प्रभावशाली एव असदिग्ध है कि उससे भगवान् का धर्मचक्रवर्ती होना सिद्ध है और यह भी सिद्ध है कि वे छद्म से सर्वथा अतीत हो चुके थे।

जिन ज्ञापक–

भगवान् छद्म से अतीत होने के साथ ही जिन हैं। राग द्वेष आदि आत्मिक शत्रुओं को पराजित करने वाला जिन कहलाता है। राग आदि दोषो को जीतने के लिए ज्ञान की अपेक्षा रहती है। राग–द्वेष आदि शत्रुओ को पहचानना और पहचान कर उन्हें पराजित करने के उपायो को समझना ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। ज्ञानी पुरुष ही रागादि को पराजित कर सकता है।

यो तो अचेत अवस्था मे पडी हुए आत्मा मे भी राग–द्वेष प्रतीत नहीं होते फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अचेत आत्मा राग–द्वेष को दबाती

अगर ककर के बदले हीरा मिलता हो तो ले लेगे या नही ? अवश्य। क्रोध के बदले क्रोध करना हीरे के बदले में ककर खरीदना है और क्रोध के बदले क्षमा धारण करना ककर के बदले हीरा लेना है। आप जो पसद करे वही ले सकते हैं।

अक्सर लोग गाली का बदला गाली से चुकाते हैं लेकिन भगवान् महावीर का सिद्धान्त यही नही है। गाली के बदले गाली देने का नाम ज्ञान नही है। यदि कोई गाली देता है तो उससे भी कुछ न कुछ शिक्षा लेना ज्ञान है। मान लीजिए किसी ने कहा—'तुम नीच हो'। जो ज्ञानी होगा वह यह गाली सुनकर विचार करेगा कि नीचता बुरी वस्तु है। यदि मुझ में नीचता है तो गाली देने वाला सत्य ही कह रहा है और मुझे शिक्षा दे रहा है। इस शिक्षा के लिए मुझे क्षुब्ध क्यों होना चाहिए? मैं अपनी नीचता पर ही क्षुब्ध क्यो न होऊ ? फिर शिक्षा देने वाले पर क्रोध करना क्या नीचता नही है ? मुझे अपनी नीचता का ही त्याग करना चाहिए।

अगर कोई आदमी कहता है—आपके सिर पर काली टोपी है तो काली टोपी वाला पुरुष अपने सिर से वह टोपी न हटाकर उस पर नाराज हो यह कौन–सा न्याय है? पर ससार मे सर्वत्र यही झगडा चल रहा है। लोग अपने सिर की काली टोपी उतारते नही—अपने दुर्गण देखते नहीं और दूसरे पर नाराज होते हैं।

भगवान महावीर उत्कृष्ट ज्ञानी थे। वे भूत भविष्य और वर्तमान काल के समस्त भावों के ज्ञाता थे। अपने अपमान को भी जानते थे। मगर उन्होंने क्रोध नहीं किया। घोर से घोर उपसर्ग देन वाले पर भी भगवान् ने अपूर्व क्षमा की वर्षा की—स्वय शान्त रहे और उपसर्ग दाता को भी शान्ति पहुचाई। इसी से भगवान जिन और 'जाणए' कहलाए।

चौसठ इन्द्र जिन भगवान् महावीर के चरणो मे नमस्कार करके अपने को कृतार्थ मानते हैं उन भगवान् पर सामान्य अनार्य लोग धूल फेंके उन्हें चोर कहकर बाधें भदिया कहकर उनकी अवहेलना करें सूने मकान में ध्यान करते समय दुष्ट लोग उन्हे वहा से बाहर भगा दे क्या यह अपमान की बात नहीं समझी जाती? मगर इतना अपमान होने पर भी भगवान् ने इसे अपमान नहीं समझा। इस अपमान को भी भगवान् ने अपना सम्मान ही समझा और यह माना कि इसकी बदौलत मुझे शीघ्र ही महाकल्याण की प्राप्ति होगी।

भगवान का यह आदर्श और पवित्र चरित्र ही हमारा आदर्श होना चाहिए। अगर हम उस आदर्श पर आज ही न पहुच सके तो कोई हानि नहीं

मगर उसकी ओर आज ही चलना तो आरम कर दे। थोडा-सा भी क्रोध जीतने से अन्तरात्मा मे शान्ति का सचार होगा।

जिसने वास्तविक कल्याण का मार्ग जान लिया है और उस मार्ग पर चलकर अपना कल्याण साध लिया है उसे ही दूसरे के कल्याण करने का अधिकार प्राप्त होता है। जिसने अपना ही कल्याण नही किया है उसे दूसरे का कल्याण करने का अधिकार नही है। वह ऐसा कर भी नही सकता। भगवान् ने स्वय राग-द्वेष को जीत लिया था इसी से उन्होने दूसरो को राग-द्वेष जीतने का उपदेश दिया।

बुद्ध-बोधक-

भगवान् ज्ञानवान् होने से और राग-द्वेष को जीतने से [illegible] हो गये थे। सम्पूर्ण तत्त्व को जान कर राग-द्वेष को पूर्ण रूप से जीतने वाला [illegible] कहलाता है। भगवान् नाम के ही बुद्ध अपने सदगुणो के कारण [illegible] थे। बुद्ध होने के साथ ही भगवान् बोधक भी थे। जीव अजीव आदि [illegible] जैसा स्वरूप भगवान् आप जानते थे वैसे ही स्वरूप [illegible] दूसरो को भी उपदेश दिया है।

भगवान् का उपदेश उनके केवलज्ञान का फल है। [illegible] बाते ऐसी हो सकती है जो अत्यन्त अल्प ज्ञान के कारण [illegible] दे। फिर भी उन पर शका करने का कोई कारण नही है। [illegible] असत्य की सम्भावना ही नही की जा सकती। भगवान ने स्पष्ट कहा है कि अगर तुम्हे परलोक सम्बन्धी बाते नही दिखती है तो भी मेरे कथन पर विश्वास करो। कालान्तर मे साधना के द्वारा तुम्हारा और मेरा [illegible] हो जायेगा। भगवान् ने गौतम से भी यही बात कही है कि [illegible] और जानता हू। मगर मेरी बात पर विश्वास कर। तेरी और मेरी दृष्टि एक हो जायगी।

करोडपति नहीं हो सकता। जो करोडपति होगा उसका लखपति होना स्वय सिद्ध है। फिर करोडपति को लखपति बताने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार जो बुद्ध और बोधक होगा वह ग्रथि से मुक्त तो होगा ही। फिर उसे 'मुक्त' कहने की क्या आवश्यकता है? इस शका का समाधान यह है कि बाल जीवों के भ्रम का निवारण करने के लिए भगवान् को यह विशेषण लगाया गया है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि जो भगवान् हैं उनके पास अगर धन भी हो स्त्री आदि भी हो तो भी क्या हानि है? मगर यह उनका भ्रम है। जो बुद्ध होगा बोधक होगा उसे मुक्त पहले ही होना चाहिए। मुक्त होने से पहले कोई बुद्ध–बोधक नही हो सकता। इस भाव को समझाने के लिए भगवान् को मुक्त विशेषण लगाया गया है।

वही उपदेशक प्रभावशाली होता है जो स्वय अपने उपदेश का आदर्श हो। जो पुरुष स्वय ही अपने उपदेश के अनुसार नहीं चलता उसका उपदेश प्रभावजनक नहीं हो सकता। नीतिकार ने कहा है–

परोपदेशे पाण्डित्य, सर्वेषा सुकर नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठान, कस्यचित्तु महात्मन ।।

अर्थात्–दूसरा को उपदेश देना सभी के लिए सरल है मगर स्वय धर्म का आचरण करन वाले महात्मा विरले ही होते हैं।

तात्पर्य यह हे कि स्वय धर्म का पालन करने वाला ही धर्मोपदेश का अधिकारी हा सकता है। जा गुरु स्वय सोने के कडे पहनता हे वही अपने शिष्य का अगर चादी के कडे पहनने का निषेध करे तो उसका उपदेश वृथा जायेगा। यही नहीं बल्कि इस प्रकार के उपदेश से धृष्टता का पोषण होगा। भगवान् न अपरिग्रह का उपदेश दिया है। उस उपदेश का प्रभावशाली बनाने के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे स्वय परिग्रह से मुक्त होते। परिपूर्ण वीतराग दशा में पहुच जान पर न किसी वस्तु को ग्रहण करना आवश्यक होता हे न त्यागना ही। फिर भी भगवान् आदर्श उपस्थित करन क लिए मुक्त थे। भगवान् स्वय मुक्त थ और अन्य प्राणिया को मुक्त बनाने वाल भी थे।

सर्वज्ञ–सर्वदर्शी–

कुछ दर्शनकारा क मत क अनुसार मुक्तात्मा जड हो जाती है। उसे ज्ञान नही रहता। मुक्तात्मा का ज्ञान हागा ता वह सब बात जानगी और सब बातें जानन पर उस राग–द्वेष भी होगा। राग–द्वेष हान स कर्म–बन्ध अनिवार्य

हो जायेगा कर्म–बन्ध होने से वह मुक्तता नहीं रहेगी। ससारी जीवो से उसमे कोई विशेषता न रह जायेगी।

बुद्ध से किसी ने पूछा– मुक्तात्मा का स्वरूप क्या है? बुद्ध ने उत्तर दिया–दीपक के बुझ जाने पर उसका जो स्वरूप होता है, वही मुक्ति का स्वरूप है। अर्थात् मुक्त होने पर आत्मा शून्य रूप हो जाता है।

विचार करने पर उक्त दोनो मत युक्ति–सगत प्रतीत नहीं होते। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव का नाश हो जाने पर स्वभाववान ठहर नही सकता। अतएव ज्ञान के साथ आत्मा का भी नाश मानना पड़ेगा। अगर मुक्त अवस्था मे आत्मा का नाश मान लिया जाये तो फिर मोक्ष के लिये कौन कष्ट उठायेगा? कौन अपना अस्तित्व गवाने के लिए प्राप्त सुखो को [illegible] तपस्या के कष्ट उठाना पसद करेगा? इसके अतिरिक्त [illegible] होना कहना भी ठीक नही है। ज्यो–ज्यो ज्ञान की वृद्धि [illegible] राग–द्वेष की वृद्धि नही वरन् हानि देखी जाती है। [illegible] कि ज्ञान का परिपूर्ण विकास होने पर राग–द्वेष भी [illegible] जाती है अतएव उनमे राग–द्वेष की उत्पत्ति होना [illegible]

एक विकार ही दूसरे विकार का जनक [illegible] निर्विकार दशा प्राप्त कर लेती है तब विकार [illegible] विकास उत्पन्न होना असभव है। अतएव राग-द्वेष [illegible] मानना उचित नही है।

मुक्तावस्था में आत्मा की अखण्ड और शुद्ध सत्ता रहती है और मुक्तात्मा सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी होते हैं। वह सभी कुछ जानते हैं सभी कुछ देखते हैं। जानने और देखने मे जो अन्तर है उसे समझ लेना चाहिए। उदाहरणार्थ एक पुस्तक आपके सामने है। पुस्तक का रग तो सभी देखते हैं मगर उस पुस्तक में क्या लिखा है इस बात को सब नहीं जानते। इससे प्रतीत हुआ कि देखना तो सामान्य है और जानना विशेष है। भगवान् केवल–ज्ञान से जानते हैं और केवल दर्शन से देखते हैं। इस कथन से यह भी सिद्ध है कि मुक्तात्मा मुक्ति से जड नही हो जाते वरन् उसकी चेतना सब प्रकार की उपाधियो से रहित निर्विकार और शुद्ध स्वरूप मे विद्यमान रहती है।

मुक्तिकामी–

टीकाकार कहते हैं कि किसी–किसी प्रति में 'सव्वण्णू और 'सव्वदरिसी' यह दो विशेषण नहीं पाये जाते, इसका कोई कारण तो होगा ही पर मुक्तात्मा के सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने मे जैन शास्त्र निश्चित प्रमाणभूत है।

मोक्ष की विशेष अवस्था प्रकट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं–मोक्ष शिव है। जो बाधा, पीड़ा दु ख से रहित हो वह शिव कहलाता है। मोक्ष मे किसी प्रकार की बाधा या पीड़ा नहीं है।

मोक्ष अचल भी है। चलन दो प्रकार का होता है–स्वाभाविक और प्रायोगिक। दूसर की प्रेरणा बिना अथवा अपने ही पुरुषार्थ के बिना स्वभाव से ही जो चलन हो वह स्वाभाविक चलन कहलाता है। जैसे जल मे स्वभाव से ही चचलता है। इसी प्रकार बैठा हुआ मनुष्य यद्यपि स्थिर दिखता है मगर योग की अपेक्षा से उसमें भी चचलता है। यह स्वाभाविक चलन है। वायु आदि बाह्य निमित्त से जो चचलता उत्पन्न होती है वह प्रायोगिक चलन कहलाता है। मुक्तात्माओ में न स्वभाव से ही चलन है न प्रयोग से ही। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है इतना सूक्ष्म कि वायु भी उसे नहीं चला सकती है। मुक्तात्माओ में गति का भी अभाव है और इस कारण भी वह अचल है।

मोक्ष अरुज है। मुक्तात्माओं का किसी प्रकार का रोग नहीं होता। शरीर–रहित होने के कारण वात पित्त और कफ विषमता जन्य शारीरिक रोग उन्हें नहीं हो सकते और कर्म रहित होने के कारण भाव–रोग रोगादि–भी नहीं हो सकते।

मोक्ष अनन्त है। मुक्तात्माओं का ज्ञान अनन्त है दर्शन अनन्त है और वह ज्ञान–दर्शन अनन्त पदार्थों को जानता देखता है। अतएव मोक्ष अनन्त है।

भगवान् महावीर उस समय सिद्ध गति को प्राप्त नहीं हुए थे। वे सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक थे। ऐसे भगवान् महावीर स्वामी राजगृही नगरी मे पधारे।

भगवान् को जाना तो है मोक्ष में लेकिन पधारे हैं वे राजगृह मे। इसका क्या तात्पर्य हे? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जगत का उद्धार करना भगवान् का विरुद्ध हे। इस विरुद्ध को निभाने के लिए ही भगवान् राजगृही मे पधारे हें। भगवान् स्वय बुद्ध हो चुके हैं परन्तु ससार को बोध देने के लिए वह राजगृही मे पधारे हें।

यहा एक बात ओर भी लक्ष्य देने योग्य हैं। वह यह कि भगवान् को किसी भी प्रकार की कामना नही थी। फिर भी उनके लिए कहा गया है कि भगवान् मोक्ष के कामी होकर भी राजगृही मे पधारे। इस कथन से यह सूचित किया गया है कि एक कामना सभी को करनी चाहिए जिससे अन्य समस्त कामनाओ का अन्त हो सके। वह कामना है मोक्ष की। मोक्ष की कामना समस्त कामनाओ के क्षय का कारण है और अन्त मे वह स्वय भी क्षीण हो जाती हे। मोक्ष के अतिरिक्त और किसी वस्तु की कामना न करके ऐसे कार्य करना चाहिए जिसम दूसरे को चाहे आलस्य आवे परन्तु मोक्ष के कामी को आलस्य न आवे। भगवान् प्रतिक्षण-चोवीसो घट जगत् के कल्याण मे ही लगाते हें। हम भी अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिए।

यह कहा जा सकता हे कि भगवान् वीतराग थे उन्हे अपने लिए कुछ करना शेष नही रहा था, अतएव वे जगत्-कल्याण म ही सम्पूर्ण समय व्यतीत करते थे परन्तु हमारे मस्तक पर गृहस्थी का भार हे ससार सम्बन्धी सेकडो प्रपञ्च हमारे साथ लगे हें। अगर हम अपना समस्त समय परोपकार म ही यापन करे तो गृहस्थिक कर्त्तव्या का समुचित रूप से पालन केसे हो सकता हे?

इसका उत्तर यह हे कि भगवान् उस समय शरीरधारी थे। शरीरधारी होने के कारण भगवान् का शरीर सम्बन्धी अनेक चेष्टाए करनी ही पडती थीं। फिर भी उनके लिए यह कहा गया हे कि वे केवल मोक्ष के कामी थ और कोई कामना उनम विद्यमान नही थी। इसी प्रकार अगर आप यह विचार ले कि चलते-फिरते उठते-बैठते खाते-पीते समय मैं अपने इष्ट को न भूलू और गृहस्थी के कार्य करते समय भी ससार के कल्याण का ध्यान बनाये रखू, तो क्या गृहस्थी सम्बन्धी कार्य रुक सकते हें? नहीं। किसी भी कार्य को उदार भावना के साथ किया जाय तो वह कार्य बिगडता नही हे वरन् उसमे एक प्रकार का सौन्दर्य आ जाता है।

समुद्र की भाति यह ससार भी खारा है। ससार के खारेपन मे से जो मिठास उत्पन्न करता है वही सच्चा भक्त है। लेकिन आज के लोग खारे समुद्र से मिठास न निकाल कर खारापन ही निकालते हैं जिससे आप भी मरते हैं और दूसरो को भी मारते हैं। मगर सच्चे भक्त की स्थिति ऐसी नहीं होती। भक्त ससार मे रहता हुआ भी उसके खारेपन मे नहीं रहता। वह समुद्र मे मछली की भाति मिठास मे ही रहता है।

कोई स्थलचर प्राणी दो–चार घटे भी समुद्र मे रहेगा तो मरने लगेगा। मगर मछली समुद की तह तक चली जाती है फिर भी नही मरती। वह अपने भीतर हवा का खजाना भर लेती है जिससे आवश्यकता के समय उसे हवा मिलती रहती है। अतएव उसका श्वास नहीं घुटता और वह जीवित रहती है।

यह ससार खारा और अथाह हे। इसमे दम घुट कर मरना सभव है। लेकिन भक्त लोग अपने भीतर भगवद्भक्ति रूपी ताजी हवा भर लेते हैं जिससे वे इस ससार मे फस कर मरते नहीं हैं। यद्यपि प्रकट रूप मे भक्त और साधारण मनुष्य मे कुछ अन्तर नही दिखाई देता लेकिन वास्तव में उनमें महान् अन्तर होता है। भक्त की आत्मा ससार के खारेपन से सदा बची रहती है।

मछली जब जल मे गोता लगाती है, तब लोग समझते हैं कि मछली डूब मरी। अगर मछली कहती है–डूबने वाला कोई और होगा। मैं डूबी नहीं हू। यह तो मेरी क्रीडा है। समुद्र मेरा क्रीडा स्थल है। इसी प्रकार भक्त जन ससार में भले ही दीखते हो साधारण पुरुषो की भाति व्यवहार भले ही करते हो मगर उनकी भावना में ऐसी विशिष्टता होती है कि ससार में रहते हुए भी वे ससार के प्रभाव से बचे रहते हैं। वे ससार समुद्र के खारेपन से विलग रह कर मिठास ही ग्रहण करते हैं।

अगर आप सागर में मछली की भाति रहेगे तो आनद की प्राप्ति कर सकेगे। अगर आप आसक्ति के खारेपन से न बच सकेगे तो दुःख के पहाड़ आपके सिर पर आ पडेगे।

पामर प्राणी चेते तो चेताऊ तोनेरे ।
खोलामा थी धन खोयो, धूल थी कपाल धोयो,
जाणपणू तारो जोयारे।। पामर.।।
हजी हाथमा छे बाजी करी ले प्रभु ने राजी।
तारी गूडी थशे ताजी रे।। पामर.।।
हाथमा थी बाजी जासी पाछे पछतावो थासी।
पछे कछू न करी सकारी रे।। पामर.।।

मिल सकता है उस धर्म के लिए जरा भी उत्साह न होना कितने बडे दुर्भाग्य की बात हे? मगर आजकल सर्वत्र यही दृष्टिगोचर हो रहा है कि मा दासी बन रही हे और दासी रानी बन रही है।

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि भगवान् मोक्ष के कामी हैं अभी मोक्ष मे पहुचे नही हैं। इस प्रकार मोक्ष कामी भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील बाग मे पधारे।

भगवान मोक्ष के कामी हैं, अब तक मुक्ति मे नही पहुचे हैं, यह बात इसलिए कही गई है कि मोक्ष को प्राप्त हो जाने वाले बोलते नहीं हैं। उनके बोलने का कोई कारण ही शेष नही रहता है और भगवान् ने उपदेश दिया हे। मोक्ष मे पहुचे हुए उपदेश नही देते किन्तु देहधारी ही उपदेश देते हैं।

कई लोगो की मान्यता यह है कि हमारे वेद अपौरुषेय हैं। अर्थात किसी पुरुष के उपदेश से उनकी रचना नही हुई है वरन् वह आप ही प्रकट हुए हैं–अर्थात् अनादि काल से चले आये हैं। मगर जैन धर्म की मान्यता ऐसी नही है। शब्द ध्वनि रूप हैं और ध्वनि तालु, कठ ओष्ठ आदि स्थानो से ही उत्पन्न होती है। तालु, कठ आदि स्थान पुरुष के ही होते हैं, इसलिए शब्द पौरुषेय ही हो सकता हे–अपोरुषेय नही। बिना बोले वचन नही होते, इसी बात का स्पष्ट करन के लिए शास्त्रकारो ने यह उल्लेख किया है कि भगवान् उपदश दत समय मोक्ष में पहुचे नही थे, किन्तु मोक्ष के कामी थे। कामी से मतलब है प्राप्त करने वाले।

प्रश्न–भगवान् पूर्ण रूप से वीतराग हैं। उनका छद्‌म चला गया है। माहनीय कर्म सर्वथा क्षीण हो गया है फिर उनम कामना कैसे हो सकती है? कामना माह का विकार है तो निर्मोह मे वह कैसे समव हे?

उत्तर– भगवान् म वस्तुत कामना नही है फिर भी उपचार से उन्हें मुक्तिकामी कहा गया है। काई कोई वस्तु असली स्वरूप म नही होती लेकिन समझाने के लिए उसका आरोपण किया जाता है। जैसे जब किसी वस्तु म मनुष्य की बुद्धि काम नही दती तब समझाने क लिए कहत हैं कि यह घाडा ह। यद्यपि वह चित्र है मगर आकार का ज्ञान कराने क लिए उसे घाडा कह दत हैं। एसा करन का उपचार कहते हैं। इस प्रकार शास्त्रा में अनक स्थलो पर उपचार स भी काम लिया जाता हे। यहा भी उपचार से अभिलाषा मानी हैं।

भगवान का और काई अभिलाषा नही है केवल माक्ष की अभिलाषा है इस कथन का उद्दश्य यह है कि ससार क प्राणी अन्यान्य सासारिक

अभिलाषाओ का परित्याग करके केवल मोक्ष की ही अभिलाषा करे। जब तक कषाय का योग है तब तक आशा कामना बनी ही रहती है। इसलिए और आशा न करके केवल यही आशा करो। कहा भी है–

मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तम।

अर्थात्–उच्च अवस्था को प्राप्त मुनि–केवली क्या मोक्ष और क्या ससार सभी विषयो मे निस्पृह ही होते है। और भी कहा है–

यस्य मोक्षेऽप्यनाकाक्षा स मोक्षमधिगच्छति

अर्थात्–जिस महापुरुष को मोक्ष की भी इच्छा नही रह जाती, जो पूर्ण रूप से निरीह बन जाता है जिसका मोह समूल नष्ट हो जाता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है।

भगवान् के लिए जो विभिन्न विशेषण यहा दिये गये हैं, उनसे उनका अन्तरग परिचय मिल जाता है। भगवान् की बाह्य विभूति का भी शास्त्र मे वर्णन है। मस्तक से पैरो तक शरीर का अशोक, वृक्ष आदि आठ महाप्रातिहार्यो का चौतीस अतिशयो का पैंतीस गुणो का। अतिशय सम्पदा और उपकार गुण का परिचय यहा सक्षेप से सुनाया जाता है।

भगवान् के केश भुजमोचन रत्न के समान हैं अथवा नील काजल या मतवाले भ्रमर के पखो के समान कृष्णता लिए हुए हैं। वह केश वनस्पति के गुच्छे के समान हैं और दक्षिण दिशा से चक्कर खाकर कुण्डलाकार हो गये है।

केश का वर्णन करके टीकाकार ने पाठ को सकुचित कर दिया है और पदतल का वर्णन किया है। भगवान् के पदतल (पैरो के तलुवे) रक्त वर्ण के कमल के समान कोमल और सुन्दर हैं।

टीकाकार ने विस्तारभय से अन्य अवयवो का वर्णन न करके उववाई सूत्र का उल्लेख कर दिया है। तात्पर्य यह है कि उववाई सूत्र मे भगवान् के अगोपागो का जो वर्णन पाया जाता है वही वर्णन यहा भी समझ लेना चाहिए।

प्रधान पुरुष के शरीर मे 1008 प्रशस्त लक्षण होते हैं। भगवान के शरीर मे वह सभी लक्षण विद्यमान हैं। भगवान् का धर्मचक्र धर्मछत्र चावर स्फटिक रत्न के पादपीठ सहित सिहासन आदि आकाश मे चल रहे हैं।

इस बाह्य और अतरग विभूति से विभूषित भगवान् महावीर चौदह हजार मुनियो और छत्तीस हजार आर्यिकाओ के परिवार से घिरे हुए हैं।

यह आशका की जा सकती है कि पचास हजार साधु–साध्वियो का परिवार भगवान् के साथ था या यहा परिवार की सख्या मात्र बताई गई है?

इसका समाधान यह है कि यहा दोनो ही अर्थ निकल सकते हैं। अर्थात् इसे परिवार का साथ रहना भी समझा जा सकता है और परिवार इतना था यह भाव भी समझा जा सकता है।

इस काल मे इतने साधु–साध्वियो के एक साथ विहार होने मे बहुत सी बातो का विचार हो सकता है लेकिन जिस समय का यह वर्णन है उस समय के लोगो का प्रेम उस समय के गृहस्थो की दशा, आदि बातों पर ध्यान देने मे यह बात मालूम हो जायेगी कि इतने साधु–साध्वियो के एक साथ विहार करने मे किसी प्रकार की असुविधा नहीं हो सकती। अकेले आनन्द श्रावक के यहा चालीस हजार गाये थी। इस श्रावक के घर कितने साधुओ की गोचरी हो सकती थी यह सरलता से समझ मे आ सकता है।

इस कथन से यह अभिप्राय नही समझना चाहिए कि सब साधु–साध्वी एक ही साथ विहार करते थे। शास्त्र मे अलग–अलग विहार करने के प्रमाण भी विद्यमान हैं। जैसे– सूर्यगडाग सूत्र मे गौतम स्वामी के अलग विहार करने का उल्लेख मिलता है। केशी स्वामी से चर्चा करने के लिए भी गौतम स्वामी ही गये थे। उस समय भगवान् साथ नहीं थे। इत्यादि अनेक प्रमाणो से सिद्ध है कि साधु अलग–अलग भी विहार करते थे।

इसके अतिरिक्त एक बात और है केवलज्ञानी के लिए दूर या पास मे कोई अन्तर नहीं है। उनके लिए जैसे दूर वैसे ही पास। ऐसी स्थिति मे यदि यह कहा जाय कि भगवान् इतने परिवार से घिरे हुए पधारे तब भी कोई असगति नहीं है।

भगवान् चौदह हजार साधुओ और छत्तीस हजार आर्यिकाओ के परिवार से घिरे हुए हैं अनुक्रम से अर्थात् आगे बडा और पीछे छोटा–इस क्रम से ग्रामानुग्राम यानी एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विहार करते हुए पधारे।

कुछ लोगो की ऐसी भ्रममय धारणा है कि महापुरुष आकाश से उडकर आते हैं–वे साधारण पुरुषो की भाति पृथ्वी पर नही चलते। इस धारणा का विरोध करने के लिए ही भगवान् के विहार का यह वर्णन किया गया है। भगवान महावीर आकाश मे उडकर नही चलते थे किन्तु ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पधारते थे। पक्षियो की भाति उडना महापुरुषो का विहार नहीं है।

इसके अतिरिक्त चाहे ग्राम हो या नगर हो भगवान की दृष्टि सभी जगह रहने वाले सभी जीवो पर समान थी। इसी कारण वे पैदल और ग्रामानुग्राम विचरते थे जिससे सभी जीवो का कल्याण हो। इस प्रकार

घूम–घूम कर कल्याण करने के कारण भगवान् को जगम तीर्थ कहा है। दूसरी बात यह है कि शहर मे रहने वाले लोगो मे वैसी प्रेम भावना प्राय नही होती जैसी ग्रामीणो मे होती है। ग्रामीणो पर थोडे ही उपदेश का बहुत प्रभाव पडता है क्योकि उनका हृदय विशेष सरल होता है और उनका जीवन भी अपेक्षाकृत सात्विक और अल्पप्रवृत्ति वाला होता है। इसलिए भगवान् ग्रामानुग्राम होते हुए पधारे जिससे ग्राम्य जनता का भी कल्याण हो। आज भी पैदल विचरने वाले जानते हैं कि नागरिको की अपेक्षा ग्रामीणो मे कितनी अधिक श्रद्धा और कितना अधिक प्रेम पाया जाता है। उनमे त्याग–वैराग्य भी अधिक होता है और वे मुनियो को उच्च एव आदर की दृष्टि से भी देखते हैं। ग्रामीणो मे उत्साह भाव भी कही अधिक पाया जाता है।

पैदल विहार करने मे सयम का भी आनन्द होता है। जो रेल से यात्रा करते हैं उन्हे पैदल यात्रा के आनन्द की कल्पना भी नही हो सकती।

अनुक्रम से पैदल ग्रामानुग्राम विहार करने का वृत्तान्त पीछे होने वालो के लिए लिखा गया है जिससे भगवान् के पुनीत पथ पर चलने वालो को भगवान के विहार की रीति मालूम हो और वे भी इसी प्रकार विहार करे। अन्यथा भगवान् तो वीतराग थे। उनके लिए नगर और ग्राम मे कोई अन्तर नही था।

भगवान् महावीर इस प्रकार विहार करते थे जिससे शरीर को विशेष कष्ट न हो अर्थात वे सुखे–सुखे विहार करते थे। इस प्रकार विहार करते हुए भगवान् राजगृह नगर के गुणशील नामक बाग में पधारे। वहा पधार कर यथायोग्य अवग्रह करके तप–सयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

भगवान तीन लोक के नाथ है। जन्म समय मे इन्द्र उत्सव मनाते हें। समस्त देवेन्द उनकी सेवा करने मे कृतार्थता अनुभव करते हैं। छत्र–चामर आकाश मे चलते है। उनका आन्तरिक और देवनिर्मित्त बाह्य वैभव अनुपम होता है। फिर भी भगवान् को अगर एक तिनके की आवश्यकता हो तो मागकर ही लेते हैं। जो वस्तु सयम मे उपयोगी नही है उसे लेने का तो पहले से ही त्याग है मगर सयम मे काम आने वाली वस्तुओ मे से तिनका जैसी तुच्छ चीज भी वह बिना मागे नही लेते। इस अनुपम त्याग के प्रभाव से ही छत्र–चामर आदि आकाश मे चलते थे।

भगवान के छत्र–चामर आदि आकाश मे चलते थे लेकिन वह यह नहीं कहते थे कि हमे किसी से याचना करने की क्या आवश्यकता है सब हमारा

ही है। ऐसा कहना ढोगियो का काम है। इसी कारण शास्त्रकारों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान ने उस बाग मे ठहरने की आज्ञा ली और तप–सयम म विचरने लगे।

जब भगवान स्वय एक तिनका भी बिना मागे नही लेते थे–एक तिनके को भी अपना नही मानते थे तो मुनियो को सोचना चाहिए कि वे भी बिना याचना के कोई वस्तु कैसे ग्रहण कर सकते हैं?

जब भगवान राजगृह के गुणशील नामक उद्यान में पधारे तब भवनपति वाणव्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक जाति के देवगण भगवान् को वन्दना करने के लिए किस प्रकार आये, कैसे बैठे इत्यादि बातो का वर्णन उववाई सूत्र मे विस्तार से पाया जाता है।

भगवान के पधारने का समाचार राजगृह नगर मे पहुचा। जहा दो पथ तीन पथ और चार पथ मिलते थे वहा बहुत से लोग एकत्रित होकर आपस म बात करने लगे–देवानुप्रिय! श्रमण भगवान् महावीर यावत सम्पूर्ण तीर्थकर गुणो से विराजमान अपने नगर के गुणशील उद्यान म समर्थ होने पर भी आज्ञा माग कर तप–सयम म विचरते हैं तथा रूप अरिहत भगवान् के नाम और गुणो के स्मरण का फल भी अपार है तो भगवान् के सन्मुख जाकर उन्हे वदना करने से कितना फल होगा? इसलिए अविलम्ब चले और भगवान् महावीर को वदना करके नमस्कार करके उनके मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुने।

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके उग्रवशीय भोगवशीय आदि राजकुमार नगर के अन्य लोग तथा राजा श्रेणिक और रानी चेलना कोई हाथी पर कोई घोडे पर कोई रथ पर सवार होकर भगवान् को वदना करने आये। सब ने भगवान् को विधि पूर्वक वदन नमस्कार किया। श्रेणिक राजा चेलना रानी और समस्त परिषद् को सर्वानुगामिनी भाषा म अर्थात सभी की समझ म आने वाली भाषा म भगवान ने धर्मोपदेश दिया।

प्रथम तो भगवान सर्वज्ञ हैं–सब के मन की बात जानते हैं। दूसरे भगवान का अतिशय ही ऐसा है कि वे प्रत्येक को ऐसी भाषा म धर्मतत्त्व समझा सकते हैं जिस भाषा म वह समझ सकता हो। ऐसी स्थिति म यह स्वाभाविक ही है कि भगवान द्वारा प्ररूपित धर्मतत्त्व सभी की समझ म सरलता से आ जाय। इस सम्बन्ध म एक दृष्टान्त दिया जाता है।

जगल म रहने वाला एक जगली मनुष्य कहीं जगल म जा रहा था। उसके साथ उसकी चार स्त्रिया भी थी। वह अपनी चारो स्त्रियो पर समान भाव से प्यार करता था। चलते–चलते रास्ते म एक स्त्री ने कहा– अगर मुझे

गायन गावें तो मैं स्वर से स्वर मिलाऊं'। दूसरी स्त्री ने कहा—मुझे प्यास लगी है पानी पिलाइए'। तीसरी ने कहा मुझे भूख सता रही है, कही से कोई शिकार करो तो पेट की ज्वाला शान्त करू'। चौथी बोली—'मैं बहुत थक गई हू, बिस्तर कर दो तो मैं सो जाऊं'।

चारो स्त्रियो की बात एक दूसरी से विरुद्ध है। लेकिन उस पुरुष ने ऐसा उत्तर दिया, जिससे चारो का समाधान हो गया। चारों ही अपनी—अपनी बात का उत्तर पा गई। जगली ने चारों की बात के उत्तर मे कहा—'सर नहीं'।

प्राकृत भाषा मे 'स्वर' के स्थान पर सर होता है। 'सर नहीं' इससे यह मतलब निकला कि मैं गाऊ क्या, मेरा स्वर तो चलता ही नहीं है। 'सर नहीं' इस उत्तर से पहली स्त्री यही समझी कि इनका कण्ठ नही चलता है, इसलिए यह गा नही सकते। दूसरी स्त्री ने जल मागा था। 'सर नही' इस उत्तर से वह यह समझी कि तालाब नहीं है, यह पानी कहा से लावें। तीसरी ने शिकार करने के लिए कहा था। 'सर नही' इस उत्तर से वह समझी कि जब सर अर्थात् बाण ही नही तो यह शिकार कैसे कर सकते हैं ? सर अवसर को भी कहते है। चौथी स्त्री ने बिस्तर करने की बात कही थी। वह इस उत्तर से यह समझी कि अभी बिस्तर करने का अवसर नही है—भला राह चलते सोने का अवसर कहां?

इस प्रकार पुरुष के एक ही उत्तर से चारो स्त्रिया सन्तुष्ट हो गई। अर्थात् उन्हे अपनी—अपनी बात का उत्तर मिल गया।

तात्पर्य यह है कि जब एक साधारण जगली भी ऐसा उत्तर दे सकता है कि जिससे चारो स्त्रिया एक ही बात मे अपना—अपना उत्तर पा सकती हैं तो जो समस्त विद्याओ के स्वामी है—जिन्हे सम्पूर्ण विद्याए कण्ठस्थ हैं, वे भगवान यदि सर्वानुगामिनी भाषा बोले तो क्या आश्चर्य की बात है ?

भगवान् ने जो धर्मदेशना दी उसका भी सक्षिप्त वर्णन दिया गया है। उसका मूल यह है कि भगवान् ने अस्तिकाय की बात कही और कहा कि लोक भी है।

लोक किसे कहते हैं? लोक—विलोकने धातु से लोक शब्द निष्पन्न हुआ है। लोक्यते इति लोक अर्थात् जो देखा जाये वह लोक है। यहा पर कहा जा सकता है कि सब को समान तो दिखता नही है इस कारण लोक एक न रहकर अनेक हो जाएगे। इसका उत्तर यह है कि केवलज्ञान से—निरावरण दृष्टि से जो देखा जाये वही लोक है। निरावरण दृष्टि भिन्न प्रकार की नहीं होती अतएव लोक की एकरूपता मे कोई बाधा नही आती।

प्रश्न–जो केवलज्ञान से देखा जाये वह लोक है ऐसा अर्थ मानने पर अलोक भी लोक कहलाएगा क्योंकि केवल–ज्ञान द्वारा अलोक भी देखा जाता है?

उत्तर–यद्यपि केवलज्ञानी लोक और अलोक–दोनो को ही देखते हैं फिर भी सिर्फ देखने मात्र से ही अलोक लोक नहीं हो सकता। केवली भगवान और जिस आकाश–विभाग को पचास्तिकायमय देखते हैं उस प्रदेश की सज्ञा लोक है जिस आकाश–विभाग को पचास्तिकाय से शून्य शुद्ध आकाश रूप मे देखते हैं उसकी सज्ञा अलोक है। इस प्रकार लोक और अलोक का विभाग होने से किसी प्रकार की गडबडी नही होती।

अलोक का अर्थ 'न देखा जाना' है। मगर यह न देखा जाना ज्ञान की न्यूनता का परिचायक नहीं है। जब कोई वस्तु विद्यमान हो मगर देखी न जाय तो दृष्टि की न्यूनता समझी जायेगी। जहा वस्तु न हो वहा अगर वह नही दिखाई देती तो उसमे दृष्टि सम्बन्धी कोई दोष नही माना जा सकता। मान लीजिए एक जगह जल है और दूसरी जगह स्थल है। स्थल की जगह अगर कोई जल के विषय मे पूछे तो यही कहा जायेगा कि यहा जल नही है। वास्तव म वहा जल है ही नही तो दिखाई कैसे देगा? इस प्रकार भगवान् क केवलज्ञान म किसी प्रकार की न्यूनता नही है लेकिन जहा उन्होने पाच अस्तिकाय–लोक दिखाई दिया उसे अलोक कहा। वास्तव मे वहा एक ही अस्तिकाय है शेष चार अस्तिकाय हैं ही नही तो दीखते कहा से?

प्रश्न–अलोक लोक म क्या नही मिल जाता? समुद्र मे मर्यादा है इसलिए वह स्थल से नहीं मिलता। लेकिन लोक–अलोक के बीच म क्या कोई दीवार है जो अलोक को लोक के साथ नही मिलने देती? जीव नरक से निकल कर सिद्धशिला तक चौदह राजू लोक तक जाता है फिर क्या कारण है कि लोक क जीव अलोक म नही जाते?

उत्तर–हम जब किसी वस्तु के बीच का अग देखते हैं तो यह समझ लेते हैं कि इसका आदि और अन्त भी कही अवश्य होगा। इसी प्रकार स्थूल लोक हम मध्य म देखते हैं तो उसकी आदि और अत भी कहीं होगा ही। जब आदि और अत हैं तो सीमा हो ही गई। इसके अतिरिक्त पदार्थ जहा के तहा बने रहेगे तभी लोक और अलोक का नाम रहेगा। अगर लोक के पदार्थ अलोक मे गये तो लोक और अलोक नाम रहेगा ही क्या? ऐसी स्थिति म तो लोक–अलोक के पृथक्–पृथक नाम ही मिट जायगे।

प्रश्न–लोक के पदार्थों को अलोक म न जाने देने वाली शक्ति क्या है? पदार्थों को अलोक मे जाने देने से कौन रोकता है?

उत्तर–पदार्थो को अलोक मे न जाने देने वाली शक्ति धर्मास्तिकाय है। जैसे जहाज और मछली को यद्यपि पानी नही चलाता किन्तु पानी के बिना उनका चलना सभव भी नही है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय किसी पदार्थ को प्रेरित करके गति नही कराता फिर भी धर्मास्तिकाय के बिना जीव और पुद्गल की गति नही हो सकती। धर्मास्तिकाय जल के समान है। जहा धर्मास्तिकाय रूपी जल भरा है वही जीव और पुद्गल जाते हैं। जहॉ धर्मास्तिकाय नहीं है वहा उनका गमन होना असभव है। इस प्रकार लोक के पदार्थो को अलोक मे न जाने देने का निमित्त धर्मास्तिकाय है।

प्रश्न–लोक चौदह राजू प्रमाण ही क्यों है?

उत्तर–प्रकृति से ही लोक इतना बडा है। अगर किसी ने लोक का निर्माण किया होता तो कहा जा सकता था कि उसने इतना बडा ही क्यो बनाया ? और बडा या छोटा क्यो नही बनाया? लोक तो प्राकृतिक ही अनादि काल से इतना बडा है। उसके विषय मे क्यों और कैसे को अवकाश नहीं है। अग्नि उष्ण क्यो है? जल शीतल क्यो है? इन प्रश्नो का उत्तर यही है कि–

स्वभावोऽतर्कगोचर ।

अर्थात्–स्वभाव मे किसी की तर्क नही चलती।

इसी प्रकार लोक का पूर्वोक्त परिणाम स्वाभाविक है। उसमें तर्क–वितर्क नही किया जा सकता। लोक का जो स्वाभाविक परिणाम है उसे शास्त्रकारो ने बतला दिया है।

धर्मास्तिकाय पदार्थ जैन शास्त्र के सिवाय और कही नही है। खोज तो बहुतो ने की, मगर केवलज्ञानी के सिवाय इस पदार्थ को कोई न बता सका। लोक अलोक की कल्पना बहुतों ने की है लेकिन लोक अलोक के विभाग का वास्तविक कारण जैन शास्त्र के अतिरिक्त और कोई न बतला सका। यही परिपूर्ण ज्ञान का परिचायक है।

भगवान् यही उपदेश दे रहे हैं कि–'हे जगत् के जीवो! लोक भी है और अलोक भी है' इस प्रकार उपदेश देकर भगवान् ने लोक–अलोक का अस्तित्व बता दिया मगर हमे अपने कर्त्तव्य का भी विचार करना चाहिए।

गानव डर रे।
मानव डर रे चौरासी मे घर है रे मानव डर रे।
तू तो जाणे छे यो घर म्हारो रे
प्राणी थारे न चलसी लारो रे
थाने बाल ने करसी छारो रे मानव डर रे।।

भगवान ने लोक का अस्तित्व इसलिए बतलाया है कि जगत् के जीव संसार से भयभीत और विरक्त हों। हे जीव! तू किस सम्पदा पर गर्व कर रहा है?

एक बालक को उसका शिक्षक नक्शा बता रहा था। बालक का पिता भी वहीं बैठा था। बालक ने अपने पिता से कहा—पिताजी देखिए इस नक्शे में कैसे—कैसे पदार्थ बताये गये हैं। लेकिन पिताजी आप एक मिल के मालिक हैं। उस मिल ने बहुत—सी जगह रोक रक्खी है। वह मिल इस नक्शे में कहा है? मैंने बहुत खोजा मगर अपना मिल नक्शे में कहीं नहीं मिला। आप बतलाइए वह मिल इसमे कहा है?

बालक की बात सुनकर पिता ने कहा—भोले बच्चे! जिस नक्शे मे इतना बडा देश बताया गया है उसमे अगर एक—एक मिल बताया जाये तो कैसे काम चलेगा? जिस नक्शे मे कलकत्ता और बम्बई जैसे विशाल नगर भी एक—एक बिन्दु में बतलाये हैं उसमे एक मिल का क्या पता चलेगा?

बालक ने कहा—आप अपने मिल को बहुत बडा बतलाते थे इसलिए मैंने पूछा। लेकिन इस देश के नक्शे मे उसका क्या पता लगेगा? वह मिल चाहे जितना बडा हो मगर दुनिया मे उसका कुछ भी स्थान नहीं है।

बालक की यह बात सुनकर पिता का गर्व शान्त हो गया। उसने सोचा—बालक की इस भोलेपन की बात में कितना महान् तथ्य छिपा हुआ है? मैं जिस पर गर्व करता हू, वह दुनिया की दृष्टि में नगण्य है—तुच्छ है।

ज्ञानियों ने यह स्पष्ट कह दिया है कि लोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहा यह जीव जन्म—मरण न कर चुका हो। इस जीव ने सम्पूर्ण लोक में अनन्त चक्कर काटे हैं फिर भी यह जैसा का तैसा है। अतएव ममता त्याग कर समता धारण करना ही सार है।

आप कहेंगे—हम क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि नक्शे में आपका घर न होने से आप नक्शा बनाने वाले पर दावा नहीं करते हैं। इतनी निस्पृहता एवं उदारता आप में है ही। इस निस्पृहता और उदारता को आगे बढाओ। जैसे थोडे से जीवन के लिए घर बनाते हो वैसे ही अनन्त जीवन के घर की सोच करो। इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा था—

पासाएकारइत्ताणं वद्धमाणगिहाणिय।
दालग्गपोइयाओय तओ गच्छसिखत्तिया।।

उत्तराध्ययन 9 वा अ.

अर्थात्—पहले आप ऐसा घर बनाइए जिससे सारा संसार देखें फिर दीक्षा ले लेना।

इसके उत्तर मे राजर्षि नमि ने कहा–

ससयखलुसोमकुणई, जोमग्गेकुणइघर।
जत्थेवगन्तुमिच्छेजा, तत्थकुविज्जसासय।।

उत्तराध्ययन ९ वा अ॰

मित्र! तुम्हारा कहना ठीक है परन्तु जिसे यहा से परलोक जाने मे सशय हो वह भले यहा घर बनावे। जिसे परलोक जाने का विश्वास है–परलोक के घर के सबध मे सशय नही है वह यहा घर क्यो बनावे ? वह वही अपना घर क्यो न बनावें? यहा थोडे दिन रहना है तो घर बनाने की क्या आवश्यकता है? घर तो कहीं बनाना ही है सो ऐसी जगह घर बनाना होगा जहा सदैव रह सके–जिसे छोडकर फिर भटकना न पड़े। राह चलते, रास्ते मे घर बनाना बुद्धिमत्ता नही है।

मित्रो! एक अल्पकालीन जीवन के लिए घर बनाते हो तो जहा जाना हे–सदा रहना है वहा भी तो घर बना लो। साधु–सन्त और सतिया वहीं का घर बना रही है। आप भी वहा घर बनाने की अभिलाषा रखते हैं। मगर वह घर बनाने के लिए त्याग चाहिए। जीवन की आशा भी छोड देनी होगी। ऐसा त्यागी ही वहा घर बना सकता है। जब जाना निश्चित है और यह जानते हो कि शरीर नाशवान् और आत्मा अविनाशी है तो अविनाशी के लिए अविनाशी घर क्यो नही बनाते?

सराय दुनिया है कूच की जा।
हर एक को खोफ दम बदम है।।
रहा सिकन्दर यहा न दारा।
न है करीदा यहा न जम है।।
मुसाफिराना थके हो जागो।
मुकाम फिरदो सही दुरम है।।
सफर है दुशवार खुवाब कब तक।
बहुत बडी मजिले अदम है।।
नसीम जागो कमर को बाधो।
उठावो बिस्तर के रात कम है।।

ससार सराय है इसमे स्थायी रूप से नही रह सकते। आप किसी मकान को ही सराय समझते हैं मगर वास्तव मे सारा ससार ही सराय है। इसमे आज तक कोई स्थायी न रहा न रहेगा। सिकन्दर एक बडा बादशाह हुआ है जिसने थोड़े से हिन्दुस्तान के सिवाय ओर अनेको दश जीत लिये थ।

जब वह मरने लगा तब उसने कहा—मेरे हाथ कफन से बाहर रखना। उसका जनाजा निकला। लोग सोचने लगे— शाही उसूल के खिलाफ इस बादशाह के हाथ कफन से बाहर क्या निकले हैं? चलते—चलते जब एक मैदान आया तब शाही चोबदार एक टीले पर खडा होकर कहने लगा— अपने बादशाह की अन्तिम बात सुनिये। सब लोग उत्सुक होकर अपने मृत बादशाह की अंतिम बात सुनने के लिए व्यग्र हो उठे। सन्नाटा छा गया। चोबदार ने कहा—आपके बादशाह कह गये है—कि मैंने जीवित अवस्था मे आप लोगो को अनेक उपदेश दिये हैं लेकिन एक उपदेश देना बाकी रह गया था जो अब देता हू। मृत्यु के समय ही इस उपदेश का मुझे खयाल आया। मैंने हजारो—लाखो मनुष्यो के गले काट कर यह सल्तनत खडी की और काबू मे रक्खी है। मुझे इस सल्तनत पर बडा नाज था और इसे मैं अपनी समझता था। लेकिन यह दिन आया। मेरे तमाम मन्सूबे मिट्टी मे मिल गये। सारा ठाट यही रह गया और मैं चलने के लिए तैयार हू। मेरी मुसाफिरी म साथ देने वाला कोई नही है। मुझे अकेले ही जाना होगा। मैं आया था—हाथ बाधकर और जा रहा हू खुले हाथ। अर्थात जो कुछ लाया था वह भी यही रह गया। मेरे साथ सिर्फ नेकी—बदी जाती है शेष सारा वैभव यही रहा जाता है।

यह बात चाहे कोई भी क्यो न कहे यह निश्चित है कि एक दिन जाना होगा। जब जाना निश्चित है तो समय रहते जाग कर जाने की तैयारी क्यो नही करते? साथ जाने वाली चीज के प्रति घोर उपेक्षा क्यो सेवन कर रहे हो? समय पर जागो और अपने हिताहित का विचार करो।

भगवान महावीर को वन्दना करने के लिए जो परिषद् गई थी उसे भगवान ने धर्मदेशना दी। भगवान ने लोकालोक का स्वरूप बतलाया और जिस धर्म से आत्मा मोक्ष का अधिकारी बनती है उस धर्म का स्वरूप निरूपण किया। धर्मदेशना सुनकर और यथाशक्ति धर्म धारण करके सब लोग अपने—अपने स्थान को चले गये।

प्रकृत शास्त्र का मूल वक्ता कौन है? श्रोता कौन है? इस प्रकार गुरुपर्वक्रम दिखलाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—

गौतम स्वामी का वर्णन

मूल—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इदभूई नाम अणगारे गोयमगुत्ते ण सत्तुस्सेहे समचउरससठाणसठिए वज्जरिसहनारायसघयणे

कणयपुलयनिग्घसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे, तत्ततवे, हातवे ओराले, घोरे घोरगुणे घारतवस्सी, घोरबभचेरवासी, उच्छुढसरीरे, सखित्तविउलतेयलेस्से, चौद्दसपुव्वी चउनाणोवगए, सव्वक्खरसन्निवाई, सगणस्स भगवओ महावीरस्स अनुरसामते उड्ढजाणू, अहोसिरे, झाणकोट्ठोवगए, सजमेण तवसा अप्पाण भावे माणे विहरई।(2)

सस्कृत–छाया–तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूतिर्नामाऽनगार, गौतमगोत्र, सप्तोत्सेध समचतुरस्रसस्थानसस्थित, वज्रर्षभनारायसहनन, कनकपुलकनिकषपक्ष्म–पद्म) गौर, उग्रतपा, दीप्ततपा, तप्ततपा, महातपा उदार घोर घारे गुण घोरतपव्सी घोरब्रह्मचर्यवासी, उच्छ्ढशरीर सक्षिप्तपुलतेजोलेश्य, चतुर्दशपूर्वी, चतुर्ज्ञानोपगत, सर्वाक्षरसन्निपाती श्रमणस्स, भगवत महावीरस्य अदूरसामन्ते ऊध्र्वजातु अध शिरा ध्यानकोष्ठोगत, सयमेन तपसा आत्मन भावयन् विहरत्ति। (2)

शब्दार्थ–उस काल उस समय श्रमण भगवान् महावीर के पास (न बहुत दूर न बहुत पास) उत्कुटुकासन से, नम्र सिर किये हुए ध्यान रूपी कोठे मे प्रविष्ट भगवान्के ज्येष्ठ बडे शिष्य इन्द्रभूति नामक अणगार सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते है। वह गौतम गोत्र वाले सात हाथ ऊचे सम चौरस सस्थान वाले वज्र–ऋषभनाराच सहनन वाले सोने के टुकडे की रेखा समान पद्म–पराग समान वर्ण वाले उग्र तपस्वी दीप्ततपस्वी तप्त तपस्वी महातपस्वी उदार घोर घोर गुणों वाले, घोर तप वाले घोर ब्रह्मचर्य मे वास करने वाले शारीरिक सस्कार का त्याग करने वाले सक्षिप्त और विपुल तेजो लेश्यो वाले चौदह पूर्वो के ज्ञाता चार ज्ञान के धनी और सर्वाक्षर सन्निपाती समस्त अक्षरो के ज्ञाता है। (2)

व्याख्यान–श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं–इस काल और उस समय मे इत्यादि। यद्यपि काल तो वही है लेकिन समय का निर्धारण करने के लिए फिर काल का उल्लेख किया है। वह अवसर्पिणी नामक हीयमान काल था। और समय वह था जब भगवान् राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान मे पधारे है। परिषद् धर्मदेशना सुनकर गई है और भगवान् सुखासन पर विराजमान है। उसी समय की यह बात है।

समय का उल्लेख करने का तात्पर्य है कि उचित समय पर ही प्रश्न करना चाहिए। जिससे प्रश्न करना है वह अगर किसी अन्य कार्य मे व्यस्त

हो तो उस समय प्रश्न करना उचित नही है। ऐसे समय प्रश्न करने से उत्तर भी यथोचित नही मिल पाता है। अतएव किये जाते हुए कार्य से निवृत्त होने पर प्रश्न पूछना चाहिए।

श्री गोतम स्वामी ने जो भगवान के प्रथम और प्रधान शिष्य थे यह सूत्र भगवान से श्रवण किया और धारण किया। इस कथन से यह सूचित किया गया हे कि गोतम स्वामी सघ के नायक या अग्रेसर थे। उनका नाम इन्द्रभूति था। यह उनके माता–पिता का दिया हुआ नाम था।

नाम के बिना लोक–व्यवहार नही चलता। किसी से रुपया वसूल करने के लिए न्यायालय मे दावा करना है तो सर्वप्रथम नाम बतलाना होगा। इसी प्रकार खाने–पीने आने–जाने आदि के सम्बन्ध मे किसी की कोई बात कहनी है तब भी नाम बताये बिना काम नही चलता। जब छोटे कार्य मे भी नाम की आवश्यकता है तो जो मनुष्य बडा कार्य करने वाला है उसका पता बिना नाम के कैसे चल सकता है? इसी उद्देश्य से यहा नाम का उल्लेख किया गया है–उनका नाम इन्द्रभूति था, जो माता–पिता का दिया हुआ नाम है।

ज्येष्ठ अन्तेवासी कहने से यह भी समझा जा सकता है कि कोई बडा श्रावक होगा क्योकि भगवान् का शिष्य श्रावक भी कहला सकता हे और साधु भी कहला सकता है। एसी स्थिति म इन्द्रभूति श्रावक थे या साधु, यह स्पष्ट करन क लिए उन्हे 'अनागार विशेषण लगाया गया हे। अनागार का अर्थ है–घर रहित जिसके घर न हो अर्थात साधु। इस विशेषण से यह स्पष्ट हो गया कि इन्द्रभूति श्रावक नही साधु थ।

ससार म एक नाम क अनक व्यक्ति होते हैं अतएव जब तक गोत्र न बतलाया तब तक किसी व्यक्ति विशेष का समझन म भ्रम हो सकता हे। इस प्रकार का भ्रम न हो उस उद्देश्य से इन्द्रभूति अनागार का गोत्र गोतम था। व अपन गोत्र स प्रसिद्ध थ। जेसे आजकल मोहनदास करमचन्द कहने से कई लोग चक्कर म पड जाएग मगर गाधीजी कहन स कई लोग शीघ्र ही उन्हे पहचान जाएग। जैसे गाधीजी अपन गोत्र से प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार इन्द्रभूतिजी भी अपन गोतम गोत्र स ही प्रसिद्ध थ। अर्थात इन्द्रभूति कहने से तो समझन म किसी को अडचन भी हो सकती थी किन्तु 'गोतम स्वामी कह' दन स सब समझ जात थ।

इस प्रकार गोतम स्वामी क नाम–गोत्र का परिचय देने के पश्चात अब उनके शरीर का परिचय दिया जाता है।

यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।

सामुद्रिक शास्त्र बतलाता है कि जिसकी आकृति अच्छी होगी उसमे गुण भी अच्छे होगे। इस कथन के अनुसार ही गौतम स्वामी के शरीर का परिचय दिया गया है।

गौतम स्वामी का शरीर सात हाथ ऊचा था। यो तो सभी मनुष्य अपने-अपने हाथ से 3।। हाथ के होते हैं मगर यहा ऐसा नही समझना चाहिए। जैन शास्त्र मे नापने के परिमाणो का बहुत स्पष्ट वर्णन दिया गया है। अगुल तीन प्रकार के होते हैं-(1) प्रमाणागुल (2) आत्मागुल और (3) उत्सेघागुल। जो वस्तु शाश्वत है अर्थात् जिसका नाश नही है वह प्रमाणागुल से नापी जाती है। ऐसी वस्तु का जहा परिमाण बतलाया गया हो वहा प्रमाणगुल से ही समझना चाहिए। आत्मागुल से तत्कालीन नगर आदि का परिमाण बतलाया जाता है। इस पाचवे आरे को साढे दस हजार वर्ष बीतने पर उस समय के लोगो के जो अगुल होगे, उन्हे उत्सेघागुल कहते हैं। गौतम स्वामी का शरीर उत्सेघागुल से सात हाथ का था। इस प्रकार यद्यपि गौतम स्वामी के हाथ से उनका शरीर साढे तीन हाथ ही था। परन्तु पाचवे आरे के साढे दस हजार वर्ष बीत जाने पर यह साढे तीन हाथ ही सात हाथ के बराबर होगे। इस बात को दृष्टि मे रखकर ही गौतम स्वामी का शरीर सात हाथ लम्बा बतलाया गया है। गौतम स्वामी आकार मे सुडौल और सुगठित थे।

शरीर के मुख्य दो भाग माने जाते हैं। एक भाग नाभि के ऊपर का और दूसरा भाग नाभि के नीचे का। जिस मनुष्य के सम्पूर्ण अवयव अच्छे हो उनमे किसी प्रकार की न्यूनता न हो-प्रमाणोपेत हो उसे समचतुरस्रसस्थानवान कहते है।

अथवा-किसी एक अग को दृष्टि मे रखकर अन्यान्य अगो का तदनुसार जो परिमाण है अर्थात आख इतनी बडी है तो कान इतना बडा होना चाहिए कान इतना बडा है तो ललाट या नाक इतनी बडी होनी चाहिए इस प्रकार के परस्पर सापेक्ष परिमाण के अनुसार जो आकृति हो वह समचतुरस्रसस्थान कहलाती है।

अथवा-कोई मनुष्य समतल भूमि पर पालथी मार कर बैठ जावे उसके बीच मे से एक डोरी निकाल कर ललाट तक नापे। ललाट तक नापी हुई रस्सी से दोनो घुटनो के अन्तर को तथा दाहिने कधे और बाये घुटने के अन्तर को और बाये कधे तथा दाहिने घुटने के अन्तर को नापे। अगर चारो जगह का नाप बराबर हो तो समचतुरससस्थान समझना चाहिए।

प्रश्न–सर्प भी समचतुरस्रसंस्थान वाला हो सकता है मगर पूर्वोक्त समचतुरस्रसंस्थान का लक्षण उसमे घटित नहीं होता। सर्प मे जितनी लम्बाई होती है उसके हिसाब से मोटाई नही पाई जाती। इसलिए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस योनि मे जो जन्मा हो उसके परिमाण के अनुसार जो सुडोल और सुन्दर हो वह समचतुरस्रसंस्थान वाला कहलाता है। इस प्रकार कोन कितना ऊचा लम्बा आदि हो इसका हिसाब अलग–अलग हो जाता है। इस विषय का विचार शास्त्रो मे यथास्थान किया भी गया है।

गौतम स्वामी के शरीर की आकृति का वर्णन किया। आकृति सुन्दर होने पर भी हाड निर्बल हो सकते हैं। मगर गौतम स्वामी की हड्डिया कमजोर नही थी यह प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है–गौतम स्वामी वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले थे।

ऋषभ का अर्थ पट्टा है और वज्र का अर्थ कीली है। नाराच का अर्थ है दोनो ओर खीचकर बधा होना। यह तीनो बाते जहा विद्यमान हो उसे वज्र–ऋषभ–नाराचसंहनन कहते हैं। जैसी लकडी मे लकडी जोडने के लिए पहले लकडी की मजबूती देखी जाती है फिर कीली देखी जाती और फिर पत्ती देखी जाती है।

कहा जा सकता है कि हाड मे कीली होने की बात आधुनिक विज्ञान से सगत नही है तब यह क्या कही गई है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकारो ने कहा है कि यह सब उपमा–कथन है। पट्टा कीली और बधन होने से मजबूती आ जाती है और मजबूती को सूचित करना यहा शास्त्रकार का प्रयोजन है। साराश यह है कि गौतम स्वामी का शरीर हाडो की दृष्टि से भी सुदृढ और सबल है। जिस का शरीर बलवान होता है उसकी आत्मा भी प्राय बलवान होती है।

आकृति की सुन्दरता और अस्थियो की सुदृढता होने पर भी शरीर का वर्ण निन्दनीय हो सकता है। पर गौतम स्वामी के विषय मे यह बात नही थी। यह स्पष्ट करने के लिए उन्हे कनक पुलकनिकषपक्ष्मगौर विशेषण लगाया गया है। कनक का अर्थ है सोना। सोने के टुकडे को काट कर कसौटी पर घिसने से जो उज्ज्वल रेखा बनती है उस रेखा के समान सुन्दर गौतम स्वामी के शरीर का वर्ण था अथवा पद्म–कमल के केसर जैसा पीतवर्ण होता है वैसा ही गौर वर्ण गौतम स्वामी का था।

वृद्ध आचार्यों का यह भी कथन है कि सोने का सार निकाल कर कसौटी पर कसने से जैसी स्वर्ण रेखा बनती है वैसा ही गौतम स्वामी के

शरीर का था। सोने का सार निकाल कर कसौटी पर घिसने से होने वाली रेखा का वर्ण और भी अधिक सुन्दर होता है। इस प्रकार गौतम स्वामी का अतीव उज्ज्वल गौर वर्ण अतिशय सुहावना था।

अथवा–सोना तपाने पर गल जाता है गले हुए सोने के बिन्दु का जो रग होता है वैसा ही वर्ण गौतम स्वामी के शरीर का था।

यहा तक गौतम स्वामी की शरीर–सम्पत्ति की विशेषता से ही किसी पुरुष की महत्ता नही है। मनुष्य की वास्तविक महत्ता उसके सद्गुणो पर निर्भर है। हाड से ही लाड करने वाले बहिरात्मा कहलाते हैं। अतएव यह देखना चाहिए कि गौतम स्वामी मे क्या गुण थे? शास्त्रकार बतलाते हैं कि गौतम स्वमी हीन चारित्र वाले नही थे किन्तु उग्र तप करते थे। उनका तप इतना उग्र है कि कायर पुरुष उसका विचार करके ही काप उठेगा।

शारीरिक गठन और शारीरिक सौन्दर्य उसी का प्रशस्त है जिसमे तप की मात्रा विद्यमान है। सुन्दरता हुई मगर तपस्या न हुई तो वह सुन्दरता किस काम की? तपहीन सुन्दर शरीर तो आत्मा को और चक्कर मे डालने वाला है।

जिसमे तप होता है उसी की महिमा का बखान किया जाता है। गौतम स्वामी घोर तपस्वी थे इसी कारण साधु, साध्वी श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध सघ उनका गुणगान करता है।

गुण अरूपी और शरीर रूपी है। निराकार का ध्यान साकार के अवलम्बन से किया जाता है। गौतम स्वामी के गुणो का ध्यान करने के लिए उनका शरीर का ध्यान करना पडता है। गौतम स्वामी के शरीर का ध्यान करते हुए ही यह कहा गया है कि वह ऐसे गौर वर्ण और सुन्दर थे कि उनके सामने देवता भी लज्जित हो जाते थे।

ध्यान कई प्रकार से किया जाता है। एक पिण्डस्थ ध्यान है जिसमे पिण्ड का चिन्तन किया जाता है। रूपस्थ भी एक ध्यान है जिसमे वास्तविक रूप का ध्यान करना पडता है।

यहा यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब पिण्ड का ध्यान किया जाता है तो फिर भगवान की मूर्त्ति बना कर भगवान् का ध्यान करने मे क्या हानि है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अगर मूर्त्ति से केवल ध्यान का ही काम लिया जाये तो कोई हानि नही है लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि गौतम स्वामी के शरीर को भी शरीर कहा है चैतन्य नही कहा है। यद्यपि शरीर और चैतन्य साथ है एकमेक हैं फिर भी शरीर चैतन्य न कहकर शरीर ही कहा और शरीर का वर्णन किया अब अगर कोई शरीर को ही घार तप आदि कह

दे अर्थात शरीर से गुणो का अभेद कहने लगे तो वह कथन ठीक कैसे माना जा सकता है? राजा प्रदेशी शरीर और आत्मा को अभिन्न कहता था इसी कारण उसे नास्तिक कहते थे क्योकि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है। जैसे आत्मा को देखने और जानने के लिए शरीर को देखना और जानना आवश्यक है उसी प्रकार यदि ईश्वर को जानने के लिए मूर्त्ति मानी जाती है तो हानि नहीं है बशर्ते कि यह समझ कर मूर्त्ति का अवलोकन किया जाये कि ईश्वर और मूर्त्ति अलग-अलग हैं मैं केवल ईश्वर पर दृष्टि जमाने के लिए मूर्ति को देखता हू। इस प्रकार विचार रखकर मूर्त्ति को देखा जाये और ईश्वर को मूर्ति से भिन्न माना जाये तब तो कोई गडबड ही न हो, लेकिन आज तो लोग मूर्ति को ही भगवान् माने बैठे हैं।

मूर्ति को भगवान् मानना जड को चेतन मानना है। यद्यपि शरीर और आत्मा निकटवर्ती है फिर भी दोनो एक नही है। शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है। गीता मे कहा है -

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय ।अ 2।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।2।।

अर्थात-हे अर्जुन! आत्मा वह है जो शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। शरीर जन्मता और मरता है परन्तु आत्मा जन्म नहीं और मरण नहीं हो उपचार से आत्मा और शरीर के साथ अवश्य जन्मती-मरती है मगर यह उपचार है वास्तविकता नही। आत्मा न भूतकाल मे बनी है न वर्तमान मे बनी रही है और न भविष्य मे बनेगी ही। आत्मा भूतकाल मे थी वर्तमान मे है और भविष्य मे भी रहेगी।

अतीत काल कितना है इसका विचार करो। आज कल विक्रमीय संवत 1988 है। विक्रम राजा को हुए 1988 वर्ष व्यतीत हो गये। परन्तु उससे भी पहले काल था या नहीं? इस अनन्त काल का माप करके भी आप आत्मा को भूल रहे हैं। आत्मा ने अनन्त काल मापा है। मापने वाला बडा होता है और जिसे मापा जाता है वह उससे छोटा होता है। रत्न बडा नहीं होता उसका मूल्यांकन करने वाला बडा होता है। कदाचित तुम यह समझो कि हम इसके पहले नहीं थे तो यह तुम्हारी भूल होगी। आपने ऐसे-ऐसे अनेक शरीर ग्रहण करके त्यागे हैं। आत्मा सदा से है सदा रहेगी। आप शरीर के पीछे आत्मा को भूल बैठे हैं यही बुराई है। इसी प्रकार लोग मूर्ति के पीछे ईश्वर को भूल बैठे हैं। मूर्ति को ऐसा पकडा कि और कोई बात याद न रही। यही बुराई है।

एक आदमी वृक्ष की शाखा का सहारा लेकर चन्द्रमा को देखता है और दूसरा शाखा के सहारे के बिना ही उसे देखता है। बिना शाखा के सहारे के चन्द्रमा को देखना तो उत्तम है ही और शाखा का सहारा लेकर चन्द्रमा को देखना भी बुरा नही है। लेकिन शाखा को ही चन्द्रमा मान बैठना भूल है। इसी प्रकार मूर्ति के सहारे ईश्वर का स्मरण करना बुरा नहीं है लेकिन लोग तो मूर्ति को ही ईश्वर मान बैठे हैं। यह भयकर भूल है।

अगर कोई आदमी बिना शाखा का अवलम्बन लिये ही चन्द्र देखता है तो क्या हानि है? फिर किसी को यह कहना कि तुम मूर्ति को क्यो नही मानते पूजते हो कैसे उचित कहा जा सकता है।

अगर कोई यह कहे कि हम ईश्वर की मूर्ति से ईश्वर का ध्यान करते हैं तो इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि समता भाव मूर्ति पूजने वालों मे अधिक है या न पूजने वालो में? अगर अमूर्ति पूजको की अपेक्षा मूर्ति पूजको मे समता भाव की अधिकता नही है। तो फिर उनका यह कथन सत्य कैसे माना जाता है कि वे मूर्त्ति का अवलम्बन करके ईश्वर का ध्यान करते हैं?

ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को भूलकर और केवल मूर्त्ति को ही ईश्वर समझ कर उसकी विनय भक्ति करना उचित नही कहा जा सकता। वीतराग की मूर्त्ति देखकर वीतरागता का भाव लाना चाहिए–वीतराग बनने का प्रयास करना चाहिए मगर यहा तो उल्टी गगा बहती नजर आती है। वीतराग बनने की बात तो दूर रही स्वकीय राग–भाव से प्रेरित होकर लोग वीतरागता की मूर्त्ति को ही सराग बनाने की चेष्टा करते है। अगर साधु को कुडल एव हार पहनाओ तो क्या वह विवेकपूर्ण भक्ति कहलाएगी? नही ।

साधु को देखकर और साधुता का चिन्तन करके आपको वैराग्य भाव होना चाहिए था वही सच्ची साधुभक्ति कहलाती लेकिन साधु को ही मुकुट कुडल पहना देना उचित नही समझा जा सकता। मूर्त्ति पर मुकुट कुण्डल रखने से कौन कहेगा कि यह वीतराग की मूर्त्ति है? भगवान तो निर्ग्रन्थ थे मुक्त थे। उनकी इस भावना को छोडकर सराग भावना मे कैसे पडते है? वीतराग भावना छोडकर सराग भावना मे मूर्त्ति देखकर पडना वृक्ष की शाखा को ही चन्द्रमा मानने के समान भूल है। यदि मूर्त्ति से विकार के भाव मिट जाते हो तो मूर्त्ति देखकर ईश्वर का ध्यान करने मे कोई आपत्ति नही मगर वीतराग को ही सराग बना डालना अवश्य आपत्तिजनक है।

छद्मस्थ को शारीरिक (पिण्डस्थ) ध्यान करना पडता है लेकिन शारीरिक ध्यान के साथ आत्मिक गुणो का सबध अवश्य होना चाहिए। गौतम

स्वामी के शरीर के साथ उनके आत्मिक गुणो का भी सबध है इसी कारण उनके शरीर का ध्यान किया जाता है और आत्मिक गुणो का सबध बताने के लिए ही उनके तप का भी उल्लेख कर दिया है।

गोतम स्वामी का ऐसा शरीर तप के प्रभाव से है। दीपक मे जो प्रकाश होता है वह अग्नि का होता है पात्र का नही। अग्नि मे ही ऐसी शक्ति है कि वह पात्र प्रकाशित कर देती है। इसी प्रकार तप के प्रताप से ही गोतम स्वामी का शरीर प्रकाशमान है। जिस शरीर से तप विद्यमान है वह शरीर भी वदनीय है।

आज गोतम स्वामी नही है और न उनके तप की समानता करने वाला ही कोई मोजूद है लेकिन उनका आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित है। इसी आदर्श से अनुप्राणित होकर महात्मा लोग बडे-बडे तप करते हैं। साधुजन तप का केवल वर्णन ही नहीं करते वरन् आचरण करके भी बतलाते हैं। इससे यह सिद्ध है कि शारीरिक दुर्बलता के इस जमाने मे भी इतनी तपस्या की जा सकती है तो सबल सहनन वाले प्राचीन काल मे कितनी तपस्या की जाती होगी।

गोतम स्वामी का तप शक्त्यानुसार साधु करते हैं तो क्या आनन्द और कामदेव का तप श्रावक करके नही दिखला सकते?

तप से शरीर क्षीण हो जाता है यह धारणा भ्रमपूर्ण है। तपस्या करने से शरीर उल्टा निरोग और अच्छा रहता है। अमरिका वालो ने बारह करोड पौंड या रुपये केवल उपवास चिकित्सा की खोज और व्यवस्था मे व्यय किये हैं। उन्होने जान लिया है कि उपवास मन शरीर बुद्धि आदि के लिए अत्यन्त लाभदायक है। उन्होने अनेक रोगो के लिए उपवास-चिकित्सा की हिमायत की है। आपने डाक्टर पर भरोसा करके अपना शरीर डाक्टरो की कृपा पर छोड दिया है आपको उपवास पर विश्वास नही है इसी कारण इतने रोग फैल रहे हैं। शारीरिक लाभ के सिवाय उपवास से इन्द्रियो का निग्रह भी होता है और सयम पालन मे भी उससे सहायता मिलती है।

तप बडो ससार मे जीव उज्ज्वल होवे रे।
कर्मारा ईंधन जले शिवपुर नगर सिधावे रे ।।तप0।।
तपस्या तो कीनी श्री महावीरजी कठिन कर्म जो भागा रे।
धन्न मुनीश्वर तप तप्या स्वार्थ सिद्ध तई लागा रे ।।तप0।।

ससार मे तप बडी चीज है। तप का प्रभाव अदभुत और अपार है। जिस काल मे जिस देश मे और जिस समाज मे तप का आदर है [illegible]

की शरण मे गया है उसे आनन्द–मगल प्राप्त हुआ है । तप से अशाति और अमगल दूर हो जाते हैं।

तपस्या से देव सेवा करे, मारे लक्ष्मी पिण आवे रे।
ऋद्धि वृद्धि सुख सम्पदा, आवागमन मिटावे रे ।।तप0।।

यह ससार तपोमय है। तप से देवता भी काप उठते हैं और तप के वशवर्ती होकर तपस्वी के चरणो का शरण ग्रहण करते हैं। ऋद्धि–सिद्धि, सुख सम्पत्ति भी तप से ही मिलती है। तीर्थकर की ऋद्धि समस्त ऋद्धियो मे श्रेष्ठ है। वह ऋद्धि भी तपस्वी के लिए दूर नही है। भगवान् महावीर ने नन्द राजा के भव मे ग्यारह लाख, पच्चीस हजार मास–खमन का तप किया था। इसी तप के प्रभाव मे वह महावीर हुए। इस चरम भव मे भी भगवान् महावीर ने साढे बारह वर्ष का घोर तप किया था।

भगवान ने नौ बार चौमासी तप किया था–वह भी 120 दिन का चौविहार तप। एक छह मास का तप किया था और एक तेरह बोल युक्त छहमास का अभिग्रह तप किया था। इन अभिग्रहो के पूरा होने का वर्णन किया तो मालूम हुआ कि जैन सघ मे कैसी–कैसी महान् शक्तियो ने जन्म लिया था। भगवान् महावीर ने ऐसे कठिन अभिग्रह किये तो देवी चन्दनबाला मिली ही। किसकी प्रशसा की जाये भगवान् महावीर की या देवी चन्दनबाला की? आज तो लोग यह भी कहने का साहस कर सकते हैं कि धर्म करने से चन्दनबाला पर ऐसे कष्ट आये मगर चन्दरनबाला ने कष्ट न झेले होते तो महावीर जैसे तपस्वी के पवित्र चरण उसके यहा कैसे पडते?

भगवान् महावीर का तप तो पाच मास पच्चीस दिन तक चला था, लेकिन चन्दनबाला ने तो तेला ही किया था। फिर भी चन्दनबाला के तेले की शक्ति ने भगवान महावीर को खीच लिया। भगवान् दीर्घतपस्वी थे। पाच मास पच्चीस दिन तक उपवास करना उनके लिए बहुत बडी बात न थी मगर चन्दनबाला राजकुमारी थी। राजकन्या होकर बिक जाना, अपने ऊपर आरोप लगने देना सिर मुडवाना प्रहार सहन करना क्या साधारण बात है ? तिस पर उसके हथकड़ी–बेडी डाली गई और भौंयरे मे बद कर दी गई। फिर भी धन्य है चन्दनबाला महासती को जो मुस्कुराती रही और अपना मन मैला न होने दिया।

भगवान् ने अन्यान्य मार्गों के विद्यमान रहने पर भी तप का ही मार्ग ग्रहण किया अतएव हमे भी यह मार्ग नही त्यागना चाहिए। परिस्थिति कैसी भी हो अगर क्षमा के साथ तप किया जाये तो अवश्य ही कल्याण होगा।

भगवान महावीर सदृश महान तपस्वी के प्रधान शिष्य गौतम तपस्वी न हो यह कैसे हो सकता है? यही कारण है कि गौतम स्वामी भी घोर तप के धारक थे। साधारण मनुष्य जिसकी कल्पना भी नही कर सकता उसे उग्र कहते हैं। इस प्रकार के तप को उग्र तप कहते हैं। गौतम स्वामी ऐसे उग्र तप से सुशोभित हैं कि साधारण पुरुष जिसके स्वरूप का चिंतन भी नहीं कर सकते।

भगवान् गौतम मे उग्र के साथ दीप्त तप भी हैं। दीप्त का अर्थ है–जाज्वल्यमान। अग्नि की तरह जाज्वल्यमान तप को दीप्त कहते हैं। गौतम स्वामी का जाज्वल्यमान तप कर्म रूपी वन को भस्म करने मे समर्थ हैं अतएव उन का तप दीप्त कहलाता है।

भगवान् गौतम दीप्त तप के साथ ही तप्त तप के भी धारक हैं। जिस तप से कर्मों को संताप उत्पन्न हो कर्म ठहर न सके उसे तप्त तप कहते हैं। अथवा गौतम स्वामी ने अपने आपको आराम मे न रख कर अपने शरीर को तप रूपी अग्नि मे डाल दिया इस कारण वह तप्त–तपस्वी हैं। आपने आपको तप की अग्नि मे डालने से यह लाभ हुआ कि जैसे अग्नि को कोई हाथ नहीं लगाता उसी प्रकार तप की अग्नि मे पड़ी हुई आत्मा को पाप या कर्म स्पर्श नहीं कर सकता।

गौतम स्वामी महा तपस्वी हैं। किसी कामना से अर्थात स्वर्ग–प्राप्ति वैरी–विनाश या लब्धिलाभ आदि की आशा से किया जाने वाला तप महातप नही कहला सकता। गौतम स्वामी का तप महातप है क्योंकि वह निष्काम भावना से किया गया है। उन्हे किसी प्रकार की कामना नहीं थी यह गौतम स्वामी के तप का वर्णन हुआ।

तपो–वर्णन के पश्चात कहा गया है कि गौतम स्वामी ओराल हैं। ओराल का अर्थ है भीम अर्थात गौतम स्वामी का तप भय उत्पन्न करता है। उनका तप पार्श्वस्थ (पासत्थ) लोगों को जिन्हे ज्ञान दर्शन–चरित्र मे रुचि नहीं है जिनके ज्ञान आदि मंद हैं जिन्हे इन पर श्रद्धा नही है भय उत्पन्न करने वाला है।

गौतम स्वामी का तप पासत्थों के लिए भयंकर है यह गौतम [illegible] समझना न्याय या अगुण? गौतम स्वामी सब को निर्भय बनाने वाले हैं प्राणी मात्र को अभयदान देने वाले हैं फिर उनके तप से किसी को भय क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर एक उदाहरण से समझना ठीक होगा। [illegible] एक चोर चोरी करने गया। [illegible] राजा [illegible]

गया, जिससे डर गया। यह डर राजा या राजकर्मचारी से उदभूत हुआ है या चोर के पास से पैदा हुआ है? वास्तव मे इस भय के लिए राजा या राजकर्मचारी उत्तरदायी नही है चोर का पाप ही उसे डरा रहा है। राजा या राजकर्मचारी ने उसे डराया नही है, उसका पाप ही उसे डरा रहा है, यद्यपि राजा या कर्मचारी उसमे निमित्त बन गया है। फिर भी यह राजा का गुण ही गिना जायेगा कि पापी उससे डरते हैं। इसी प्रकार यद्यपि गौतम स्वामी पासत्थो को डराते नही हैं तथापि उनके तप को देख कर वे अपनी शिथिलता अनुभव करते हैं और अपनी शिथिलता से आप ही डरते हैं। इस प्रकार गौतम स्वामी के तप को निमित्त बनाकर वे भयभीत होते हैं। यह गौतम स्वामी का अवगुण नही गिना जा सकता। सच्चे धर्मात्मा मे ऐसा प्रभाव अवश्य होना चाहिए कि उसके बिना कुछ कहे ही पापी लोग उससे कापने लगे। ऐसा धर्मात्मा ही तेजस्वी कहलाता है।

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—मैंने गौतम स्वामी के साथ विहार किया है। उनके तप के प्रभाव से शिथिलाचारी पासत्थे कापने लगते थे। यह पासत्थे अपने पासत्थेपन के कारण ही भयभीत होते थे। अगर उनमें पासत्थापन न होता तो उन्हे गौतम स्वामी अतिशय प्रिय लगते। परन्तु पासत्थेपन के कारण उन्हे गौतम स्वामी उसी प्रकार प्रिय नही लगते जैसे चोरो को चादनी प्रिय नही लगती पासत्थो को तप प्रिय नही है अतएव वे गौतम से डरते है।

ओराल का अर्थ भीम या भयकर है और उदार अर्थ भी है। उदार प्रधान को कहते हैं। गौतम स्वामी प्रधान होने के कारण उदार कहलाते हैं।

गौतम स्वामी घोर है अर्थात् दया या घृणा से रहित हैं। उन्हे परीषह रूपी शत्रुओ को नाश करने मे दया नही है। परिषह—शत्रु को जीतने मे वह दया नही दिखलाते। अथवा—इन्द्रियो पर और विषय—कषाय पर वे कभी दया नही करते। इस अपेक्षा से गौतम स्वामी को 'घोर' कहा है।

दुर्गुणो पर और विशेषत अपने ही दुर्गुणो पर दया दिखाने से हानि ही होती है। इसलिए इन्द्रियो को और दुर्गुणो को उन्होने निर्दय होकर जीत लिया है। विजय वीरता से प्राप्त होती है। लौकिक युद्ध की अपेक्षा लोकोत्तर—आत्मिक युद्ध मे अधिक वीरता अपेक्षित है। गौतम स्वामी ने आन्तरिक रिपुओ को—काम क्रोध आदि को वीरता के साथ निर्दय होकर जीता था।

दूसरे आचार्यो ने घोर का अर्थ यह किया कि गौतम स्वामी आत्मा की अपेक्षा—रहित हैं अर्थात वे आत्मा की ओर से निस्पृह हैं। उन्हे अपने प्रति तनिक भी ममता नही हैं अतएव उन्हे 'घोर' कहा गया है।

गौतम स्वामी घोर गुण वाले हैं। उनके मूल गुण ऐसे हैं कि दूसरा कोई नही पाल सकता। अहिसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अकिचनता रूप पाचो महाव्रतो का वे इस प्रकार पालन करते हैं कि इस प्रकार से पालन करना दूसरों के लिए कठिन है।

गौतम स्वामी का तप मूल गुणो के साथ ही साथ लगा है। मूल गुण अहिसा का जितने प्रशस्त रूप मे पालन होगा तप वैसा ही प्रशस्त होगा। बिना अहिसा तप नही होता। सत्य भी जितना घोर होगा तप भी उतना ही घोर होगा। गोतम स्वामी मे यह समस्त गुण तप के साथ हैं इसलिए उन्हे घोर गुण कहा है।

गौतम स्वामी घोर ब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मचर्य सब तपो मे उत्तम तप है। गौतम स्वामी के गुणो और व्रतो के वर्णन मे यद्यपि ब्रह्मचर्य का समावेश हो जाता है तथापि ब्रह्मचर्य की महत्ता प्रकट करने के लिए उसका अलग उल्लेख किया है।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या लम्बी है लेकिन ब्रह्मचर्य का सक्षिप्त अर्थ है–इन्द्रिय और मन पर पूर्ण रूप से आधिपत्य स्थापित करना। जो पुरुष अपनी इन्द्रिया पर ओर मन पर आधिपत्य जमा लेगा वह आत्मा मे ही रमण करेगा बाहर नही। गोतम स्वामी ब्रह्मचर्य का इतनी दृढता से पालन करते हैं कि और लोग उनके ब्रह्मचर्य की बात सुनकर ही काप जाते हैं। इसलिए उनका ब्रह्मचर्य घोर है।

गौतम स्वामी पूर्ण ब्रह्मचारी हैं यह कैसे प्रज्ञात हुआ ? इसका उत्तर यह है कि गौतम स्वामी इस प्रकार रहते हैं मानो उन्होने शरीर फेंक दिया हो। शरीर की उन्हे जरा भी चिन्ता नहीं रहती। उसकी ओर उनका ध्यान कभी नहीं जाता। इस प्रकार रहन–सहन के कारण उन्हे उच्छूढ शरीर कहा है। जो शारीरिक सुखों की तरफ से सर्वथा निरपेक्ष हो जाता है–शरीर के सुख के प्रति उदासीन बन जाता है वही पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। शरीर को सवारने वाला शरीर सम्बन्धी टीमटाम करने वाला ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता।

एक गुण दूसरे गुण पर अवलम्बित रहता है। जिसका ब्रह्मचर्य पूरी भली भाति नहीं पलता है उनके अन्यान्य मूल गुण भी स्थिर नहीं रह पाते। इस प्रकार मूल गुणो की स्थिरता के लिए जैसे ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए शरीर सत्कार के त्याग की भी आवश्यकता है। ऐसा किये बिना ब्रह्मचर्य व्रत नहीं पल सकता। अगर शरीर

गोतम स्वामी घोर गुण वाले हैं। उनके मूल गुण ऐसे हैं कि दूसरा कोई नही पाल सकता। अहिसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अकिचनता रूप पाचो महाव्रतो का वे इस प्रकार पालन करते हैं कि इस प्रकार से पालन करना दूसरों के लिए कठिन है।

गौतम स्वामी का तप मूल गुणो के साथ ही साथ लगा है। मूल गुण अहिसा का जितने प्रशस्त रूप मे पालन होगा तप वैसा ही प्रशस्त होगा। बिना अहिसा तप नही होता। सत्य भी जितना घोर होगा तप भी उतना ही घोर होगा। गोतम स्वामी मे यह समस्त गुण तप के साथ हैं इसलिए उन्हे घोर गुण कहा है।

गोतम स्वामी घोर ब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मचर्य सब तपो मे उत्तम तप है। गोतम स्वामी के गुणो और व्रतो के वर्णन मे यद्यपि ब्रह्मचर्य का समावेश हो जाता है तथापि ब्रह्मचर्य की महत्ता प्रकट करने के लिए उसका अलग उल्लेख किया है।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या लम्बी है लेकिन ब्रह्मचर्य का सक्षिप्त अर्थ है—इन्द्रिय और मन पर पूर्ण रूप से आधिपत्य स्थापित करना। जो पुरुष अपनी इन्द्रिया पर और मन पर आधिपत्य जमा लेगा वह आत्मा मे ही रमण करेगा बाहर नही। गोतम स्वामी ब्रह्मचर्य का इतनी दृढता से पालन करते हैं कि और लोग उनके ब्रह्मचर्य की बात सुनकर ही काप जाते हैं। इसलिए उनका ब्रह्मचर्य घोर है।

गौतम स्वामी पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, यह कैसे प्रज्ञात हुआ ? इसका उत्तर यह है कि गौतम स्वामी इस प्रकार रहते हैं मानो उन्होने शरीर फेंक दिया हो। शरीर की उन्हें जरा भी चिन्ता नहीं रहती। उसकी ओर उनका ध्यान कभी नहीं जाता। इस प्रकार रहन–सहन के कारण उन्हे 'उछूढ शरीर' कहा है। जो शारीरिक सुखों की तरफ से सर्वथा निरपेक्ष हो जाता है—शरीर के सुख के प्रति उदासीन बन जाता है वही पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। शरीर को सवारने वाला शरीर सम्बन्धी टीमटाम करने वाला ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता।

एक गुण दूसरे गुण पर अवलम्बित रहता है। जिसका ब्रह्मचर्य गुण भली भाति नहीं पलता है उनके अन्यान्य मूल गुण भी स्थिर नहीं रह पाते। इस प्रकार मूल गुणो की स्थिरता के लिए जैसे ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए शरीर सत्कार के त्याग की परम आवश्यकता है। ऐसा किये बिना ब्रह्मचर्य व्रत नहीं पल सकता। अगर किसी

ककर को भी सवार कर अच्छे कपडे मे लपेट कर रास्ते मे डाल दिया जाये तो लोग उसे उठा लेगे। इसके विपरीत अगर मूल्यवान् हीरे को मैले–कुचेले फटे चीथडे मे बाधकर डाल दिया जाये तो उसे सहसा उठाने की कोई इच्छा न करेगा। यही शरीर की स्थिति है। शरीर का साज–सिगार करके उसे सुन्दर बनाया जाये तो ब्रह्मचर्य टिक नही सकता। गौतम स्वामी शरीर मे निवास करते हुए भी मानो शरीर से अतीत हैं। वे आत्मा मे ही रमण करते हैं–शरीर को जैसे भूले हुए है।

ऐसा तप करने वाले और ब्रह्मचर्य पालने वाले के लिए कोई भी लौकिक या लोकोत्तर लब्धि या शक्ति दूर नही–समस्त शक्तिया उसकी मुट्ठी मे रहती है। गौतम स्वामी की और लब्धियो का विचार न करके सिर्फ एक ही लब्धि का विचार कीजिए। उन्हे तेजोलेश्या नामक लब्धि प्राप्त हो गई थी।

गौतम स्वामी ने अपनी उत्पन्न हुई तेजोलेश्या को सक्षिप्त करके शरीर मे लीन कर ली है। उनकी तेजोलेश्या लब्धि बाहर नही है। यद्यपि उनकी तेजोलेश्या है विपुल विस्तार वाली मगर उन्होने सकुचित करके इतनी छोटी बना ली है कि शरीर के बाहर नही निकलने देते। उनकी तेजोलेश्या का विस्तार इतना बडा है कि अगर उसे बाहर निकाल दिया जाये तो हजारों कोस मे फैल कर चाहे जिसे भस्म कर डाले। इस तपोजनित लब्धि को गौतम स्वामी ने सिकोडकर अपने ही शरीर मे लीन कर लिया है।

अपनी विपुल शक्ति को दबा लेना और समय पर शत्रु पर भी उसका प्रयोग न करना बडे से बडा काम है। शक्ति उत्पन्न होना महत्व की बात है मगर उसे पचा लेना और भी बडी बात है। महान् सत्वशाली पुरुष ही अपनी शक्ति को पचा पाते हैं। सामान्य मनुष्यो को तो अपनी साधारण सी शक्ति का भी अजीर्ण हो जाता है।

कहा जा सकता है कि अगर शक्ति का उपयोग न किया जाये तो वह किस काम की? फिर तो उसका होना न होने के बराबर है। क्षत्रिय तलवार बाधता है लेकिन जब शत्रु सामने आया तब अगर तलवार न चलाई तो उसकी तलवार किस काम की? गौतम स्वामी मे ऐसी लब्धि है कि हजारो कोस तक फैल कर वह चाहे जिसे भस्म कर सकती है फिर भी अगर अपमान करने वाले को दड न दे सके तो वह लब्धि किस मर्ज की दवा है।

मै पूछना चाहता हू कि क्षत्रिय की तलवार किस पर चलनी चाहिए?

'शत्रु पर।

मित्र पर नही?

जी नहीं

मित्र पर तलवार चलाने से क्षत्रियत्व प्रकट होता है कि मित्र पर तलवार न चलाने से क्षत्रियत्व प्रकट होता है?

न चलाने पर।

स्वार्थ से प्रेरित होकर अपने मित्र को मार डालने वाला क्षत्रिय क्या वास्तव मे क्षत्रिय कहला सकता है?

कदापि नही।

क्षत्रिय के मित्र होते हैं और शत्रु भी होते हैं इसलिए वह मित्रों को बचाता है और शत्रुओ को मारता है लेकिन गौतम स्वामी का शत्रु कोई है ही नही उनके सभी मित्र ही मित्र हैं। उनका सिद्धान्त है –

मित्ती मे सव्वभुएसु।

जब उनका कोई शत्रु नही है, सब मित्र ही मित्र हैं तो वे तेजोलेश्या किस पर चलावे?

गौतम स्वामी की प्राणीमात्र पर मित्रता की भावना है यह इससे सिद्ध है कि उन्होंने तेजोलेश्या के होते हुए भी किसी पर उसका प्रयोग नहीं किया। आप कह सकते हैं कि जो अकारण ही ऊपर धूल फैंके उसे शत्रु समझना चाहिए लेकिन जिसमे शत्रु–मित्र का भेदभाव हो वही धूल डालने वाले को शत्रु समझता है। गौतम स्वामी इस भेदभाव से परे हो गये हैं उनकी दृष्टि मे शत्रु–मित्र का भेद नही है वे समस्त जीवो को मित्र ही मित्र मानते हैं। सम्मान करने वाला और अपमान करने वाला दोनो ही उनके आगे समान हैं।

सन्तो मे क्षमा गुण की विशेषता पाई जाती है इसीलिए वे वन्दनीय हैं। सम्मान के समय क्षमा की कसौटी नही होती। क्षमा की परीक्षा उसी समय होती है जब अप्रिय व्यवहार किया जाय निन्दा की जाय गुण होने पर भी दुर्गुणी बताया जाय। ऐसे अवसरो पर जिनके मनमहोदधि मे किंचित भी क्षोभ उत्पन्न नही होता जिनके चेहरे पर सिकुड़न नही आती जिनके नेत्र लाल होकर भौंह तन नही जाती वही पुरुषवर क्षमाशाली कहलाते हैं।

आप क्षमाशील को साधु मानते हैं या थप्पड़ के बदले घूंसा मारने वाले को? क्षमाशील को।

उन्होने अपनी तेजोलेश्या को इस प्रकार गोप रक्खा था कि उन्होने कोई कितना ही क्यो न सतावे वे उसका प्रयोग नही करते थे। इस अपूर्व क्षमा गुण के कारण ही गौतम स्वामी हमारे लिए वन्दनीय, पूजनीय हैं। दुष्टो पर क्षमाभाव रखकर उन्हे भी अपना मित्र मान लेना आसाधारण सामर्थ्य का परिचायक है। यह सामर्थ्य देवो के सामर्थ्य से भी कही उत्तम है। गौतम स्वामी के इस रूप का ध्यान करने से पापो का विनाश होगा।

गौतम स्वामी के शरीर, तप, लेश्या, और क्षमा का वर्णन किया गया। अब यह देखना है कि उनमे ज्ञान की मात्रा कितनी थी? इस सबध मे सुधर्मा स्वामी कहते हैं–गौतम स्वामी चौदह पूर्वो के ज्ञाता थे। वे चौदह पूर्वो के ज्ञाता ही नही वरन् उनके रचयिता थे। गौतम स्वामी श्रुत केवली थे। जो केवल ज्ञानी की तरह निस्सदेह वचन बोलता है वह श्रुत केवली कहलाता है।

गौतम स्वामी मे मति ज्ञान श्रुत ज्ञान अवधि ज्ञान और मन पर्याय ज्ञान है। अर्थात् केवल ज्ञान को छोड कर शेष चार ज्ञानो के धारक हैं।

यहा यह प्रश्न हो सकता है कि यद्यपि गौतम स्वामी चोदह पूर्वो के ज्ञाता और चार ज्ञानो के धनी थे लेकिन सम्पूर्ण श्रुत मे उनकी व्यापकता थी या नही? क्योकि चौदह पूर्वधारियो मे भी कोई अनन्त गुण हीन और कोई अनन्त गुण अधिक होता है। चौदह पूर्वधारी भी सख्यात भाग हीन असख्यात भाग हीन अनन्त भाग हीन सख्यात गुणहीन असख्यात गुणहीन अनन्त गुणहीन होते हैं। और सख्यात भाग अधिक असख्यात भाग अधिक अनन्त भाग अधिक सख्यात गुण अधिक असख्यात गुण अधिक और अनन्त गुण अधिक भी होते है। इस तरमता मे गौतम स्वामी का क्या स्थान था?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सव्वक्खरसन्निवाई विशेषण दिया गया है। सारे ससार का और तीनो कालो का साहित्य 52 अक्षरो से ही लिखा जाता है। जितने वाच्य पदार्थ हैं उतने ही वचन है। गौतम स्वामी को इन सब वचनो का ज्ञान प्राप्त है। वह सर्वाक्षरसन्निपाती है कोई भी अक्षर उनके ज्ञान से अज्ञात नही रहा है। वे सभी अक्षरो को जोडने वाले है।

अथवा– सव्व पद का श्रव्य रूप भी बन जाता है। श्राव्य का अर्थ है सुनने योग्य। गौतम स्वामी की वचन रचना श्रवण करने योग्य है अत वह श्राव्य–अक्षरसन्निपाती है। उनके मुख से कटुक कठोर या अप्रिय वचन निकलते ही नही है। उनके वचन अमृत के समान मधुर और जगत का परम कल्याण करने वाले है।

इतने गुणो के धारक होने पर भी गौतम स्वामी गुरु की शरण मे रहते थे? जो स्वय ही सब के गुरु होने योग्य हैं उनका भी कोई गुरु है? इस सबध मे सुधर्मा स्वामी का कथन है कि गौतम स्वामी ऐसे गुण और ज्ञान के धारक होने पर भी अपने गुरु भगवान् महावीर की शरण मे रहते थे। वे भगवान् का ऐसा विनय करते थे मानो विनय के साक्षात रूप ही हो। उनमें जो लब्धिया थी वे अभिमान चढाने या बढाने के लिए नही थी।

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कह रहे हैं कि ऐसे गौतम स्वामी भगवान् से न बहुत दूर न बहुत समीप आत्मा को सयम–तप से भावित करते हुए विचर रहे हैं। उन्हे यह विचार ही नही है कि–हम ऐसे ज्ञानी और गुणी है इसलिए अलग रहकर अपना नाम फैलावे क्योकि यहा रहेगे तो भगवान् के होते हम कोन पूछेगा? जहा केवल ज्ञानी विराजते हैं वहा दूसरा चाहे जितना बडा विद्वान क्यो न हो उसकी पूछ नही होती। कैसी भी प्रकाशमान सर्च लाइट क्या न हो सूर्य की बराबरी नही कर सकती। गौतम स्वामी ने अपना अलग सघ बनाने का कभी विचार नहीं किया। वह इतने विनीत हैं कि भगवान् के चरण कमलो के भ्रमर बने रहते हैं और तप एव सयम की साधना करते है।

सयम और तप मोक्ष के प्रथम अग हैं। सयम और तप मे अन्तर यह है कि सयम नये कर्म नही बधन देता और तप पुराने कर्मो का नाश करता है। जब नये कर्मो का बन्ध बद हो जाता है और पुराने कर्म क्षीण हो जाते हैं तो मुक्ति के अतिरिक्त और क्या फल हो सकता है? इसी कारण गौतम स्वामी सयम और तप की आराधना करते हुए भगवान् के समीप विचर रहे हैं।

हमे सुधर्मा स्वामी का कृतज्ञ होना चाहिए जिन्होने गौतम स्वामी जैसे महान पुरुष के महान् गुणो का वर्णन करके हमारे सामने एक श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित किया है। उन्होने ऐसा न किया होता तो हम गौतम स्वामी का परिचय कैसे प्राप्त करते?

गौतम स्वामी के सद्गुणो को जानकर हमे कर्त्तव्य का विचार करना चाहिए। हमारा कर्त्तव्य है कि उनके गुणो को जानकर हममे जितनी भी शक्ति हैं वह सब दूसरे कामो मे न लगाकर ऐसे काम मे लगावे जिसमे गौतम स्वामी के गुणो की आराधना हो। गौतम स्वामी ने अनेक गुणो से विभूषित होकर भी भगवान के शिष्य रहने मे लघुता मे ही महत्ता देखी। उन्हे अपनी गुरुता का ध्यान नहीं आया। अपनी गुरुता का भूलने मे ही महान गुरुता है। एक कवि ने कहा है––

पर कर मेरु समान, आप रहे रज कण जिसा।
ते मानव धन जान, मृत्यु लोक मे राजिया।।

राजिया कवि कहता है कि मनुष्यलोक मे धन्यवाद का पात्र वही है जो दूसरो को मेरु के समान उच्च बनाकर आप स्वय रज–कण के समान रहता है। जिसमे दूसरो को मेरु के समान उच्च बनाने की शक्ति है वह स्वय कितना ऊची श्रेणी का होना चाहिए? दूसरो की दृष्टि मे चाहे जितना ऊचा हो परन्तु वह अपने आपको रज के कण के समान तुच्छ ही समझता है। वास्तव मे ऐसा महापुरुष महान् है और धन्य है।

जो लोग अच्छे–अच्छे, मूल्यवान् एव सुन्दर वस्त्राभूषण पहन कर निकलते हैं उनकी भावना यही होती है कि लोग उन्हें अच्छा और बड़ा आदमी समझे। मगर यदि अच्छे कर्त्तव्य के साथ अच्छे गहने–कपडे हो तब तो कदाचित् ठीक भी है। अगर भीतरी दुर्गुणो को छिपाने के लिए ही बढिया वस्त्र और आभूषण धारण कर लिए भीतर पाप भरा रहा तो ऐसा मनुष्य धिक्कार का पात्र ही गिना जायेगा। बल्कि ऐसे आदमियो की प्रशसा करने वाला भी मूर्ख समझा जायेगा। धन्य तो वही है जो बडा होकर के भी रज कण बना रहता है।

गाधीजी के विषय मे अमेरिका के एक पादरी ने लिखा था कि ससार मे सब से बडा मनुष्य मोहनदास करमचद गाधी है। यद्यपि ससार मे बडे–बडे बादशाह है एक से बढकर एक धनवान् हैं, वे मनुष्य भी हैं फिर गाधीजी को ही सब से बडा क्यो बतलाया है? जिन्हे ससार के सब मनुष्यो मे बडा बतलाया जा रहा है वे बडे हो करके भी रहन–सहन मे भिखारी की तरह रहते हैं। क्या इस उदाहरण से कवि का कथन सत्य साबित नही होता?

स्मरण रखिए, आप अपने को बडा दिखाने के लिए जितनी चेष्टा करते हैं उतनी ही चेष्टा अगर बडा बनने के लिए करे तो आप मे दिखावटी बडप्पन के बदले वास्तविक बडप्पन प्रकट होगा। तब अपना बडप्पन दिखाने के लिए आपको तनिक भी प्रयत्न न करना होगा यही नही बल्कि आप उसे छिपाने की चेष्टा नही करेगे। यह बडप्पन इतना ठोस होगा कि उसके मिट जाने की भी आशका न रहेगी। ऐसा बडप्पन पाने के लिए महापुरुषो के चरित्र का अनुसरण करना चाहिए और जिन सद्गुण रूपी पुष्पो से उनका जीवन सौरभमय बना है उन्ही पुष्पो से अपने जीवन को भी सुरभित बनाना चाहिए।

बाहरी दिखावट ऊपरी टीमटाम और अभिमान यह सब तुच्छता की सामग्री है। इससे महत्ता बढती नही हैं प्रत्युत पहले अगर आशिक महत्ता हो

तो वह भी नष्ट हो जाती है। तुच्छता के मार्ग पर चलकर महत्ता प्राप्त करने की आशा मत करो। विष पान करके कोई अजर-अमर नही बन सकता।

लोग दुकान सजाते हैं। दुकान सजाने का एक उद्देश्य यह है कि लोग भभके म आ जावे और उन्हे ठगा जाये। क्या ऐसा करना अच्छा काम है? यह उद्देश्य प्रशस्त है? दुकान की सजावट के साथ अगर प्रामाणिकता हो तब तो ठीक है मगर केवल चालबाजी के लिए सजाना कैसे ठीक कहा जा सकता है।

आज अधिकाश मनुष्य राजा से रक तक प्राय इसी चालबाजी मे पडे है। सभी यह चाहते है कि हमारे दुर्गुण भले ही बने रहे मगर लोग हमारी प्रशसा करे। मगर एक बार अपनी आत्मा से पूछो। सोचो- हे आत्मन! तू चाहता तो बडाई है मगर अपने दुर्गुणो से आप ही पतित हो रहा है।

अपने को आप भूल कर हैरान हो गया ।
माया के जाल मे फसा वीरान हो गया ।।

लोग चाहते क्या है और करते क्या है? वाहवाही चाहते हैं मगर शू ग्
के काम करते है। यह देखते नही कि हमारे काम कैसे हैं? आज गाधीजी की
[illegible] हो रही है तो क्या उन्होने वाहवाही के लिए किसी प्रकार का ढोग
किया है? नहीं। उन्होने काम ऐसे किये जिससे उनकी वाहवाह हो रही है।
अगर आप ऐसे अच्छे काम नही कर सकते तो कम से कम झूठ वाहवाह पाने की लालसा तो न रखिए।

कोई गोटा कोई किनारी पहनकर नखरा दिखावे भारी ।
न हुक्म रब का कोई माने खुदा की बाते खुदा ही जाने ।।

हमारे यहा आत्मा ही खुदा है। जो खुद ही बना हो वह खुदा कहलाता है। क्या आत्मा स्वय ही नहीं बना है? फिर क्या आत्मा की बात आत्मा ही नहीं जानता? तुम्हारी बात तुमसे छिपी नहीं है। हे आत्मा! तू नखरेबाजी से ससार को रिझाना चाहता है लेकिन यह देख कि तेरे मे परमात्मा की आज्ञा पालन की कितनी शक्ति है? जिस कार्य के करने से और अधिक पतन होता है वह कार्य करने से क्या लाभ है?

सो क्या वह मनुष्य नही हैं? सारी सुकुमारता क्या आपके ही हिस्से आई? और क्या आप गौतम स्वामी के शिष्य नही हैं? गौतम स्वामी उच्छूढ शरीर थे भोगी शरीर वाले नही थे। आपके गुरु शरीर को भी त्याग दें और आप पाप को बढाने वाले और ससार को रुलाने वाले कपडे भी नही त्याग सकते? अगर ऐसे कपडे भी आपसे नही छूट सकते तो आप 'उच्छूढ शरीर का पाठ कैसे पढेगे? जिस सेना का नायक वीर हो उसके सैनिक कायर क्यो हों?

गाढा (खद्दर) पहनने से यदि आपको गर्मी होती है तो क्या ससार मे आप से बढ कर अमीर नही हैं? अगर हैं और वे गाढा पहन कर देश की सेवा करते हैं तो क्या आप ऐसा नही कर सकते? अगर आप धर्म को दिपाने वाली छोटी–छोटी बातो का भी पालन नहीं कर सकेगे तो बडी बातो का पालन करके कैसे धर्म दिपावेगे? मिल के कपडे त्याज्य हैं इस विषय मे किसी का मतभेद नही है। अगर आप इन्हे भी नही छोड सकते तो धर्म के बडे काम कैसे कर सकोगे?

मिल के वस्त्रो की ही भाति विदेशी वस्त्र और विदेशी औषधिया भी त्याज्य है। क्योकि इनमे अक्सर मास–मदिरा चर्बी आदि का मेल रहता है। अधिकाश ऐलोपैथिक दवाइयो मे मास के सत और ब्राडी का मिश्रण रहता है।

मित्रो! आप अपना जीवन त्यागमय बनाओ जिससे गौतम स्वामी का नाम लेने लायक बन सको। गौतम स्वामी का जीवन ऐसा त्यागमय और सरल था कि बेले–बेले पारणा करके भी स्वय गोचरी लेने जाते और एक बालक जिधर ले जाता उधर ही चले जाते थे। गाधीजी की सादगी का उदाहरण इसलिए दिया है कि गौतम स्वामी दूर है और गाधीजी समीप है। अन्यथा जैन साहित्य मे ऐसे–ऐसे उदाहरण मौजूद हैं कि जिन की तपस्या के सामने गाधीजी का तप–त्याग न कुछ सिद्ध होगा। जैन चरितानुयोग के ज्योति स्तम्भ अपने आपमे निराले है।

मित्रो! मिल के वस्त्र दूषित है। शरीर पर रहने से खराबी पेदा करते हैं। इसलिए इन्हे त्यागो। अगर आप विलायती और मिल के वस्त्र नही त्याग सकते तो कम से कम हम साधुओ को तो नही ही देना। हम केवल यही चाहते हैं कि किसी भी श्रावक के शरीर पर मिल के वस्त्र न दिखे।

बिना त्याग के जीवन शुद्ध नही बनता। त्याग सीखो और खान पान एव रहन–सहन से अपने जीवन को शुद्ध बनाओ। इसी मे तुम्हारा और ससार का कल्याण है।

भगवान महावीर समवरण मे विराजमान हैं और गौतम स्वामी उनसे न ज्यादा दूर न ज्यादा पास बेठे हैं। गौतम स्वामी किस आसन से बेठे हैं यह भी सुधर्मा स्वामी ने बतलाया है। गौतम स्वामी के घुटने ऊपर को उठे हैं और सिर नीचे की ओर किंचित झुका हुआ है। गो दुहने के समय जो आसन होता है उसी आसन म बेठे हुए गौतम स्वामी धन रूपी कोठे मे पविष्ट हैं।

अनाज अगर सुरक्षित स्थान में नही रक्खा जाता तो वह इधर उधर बिखरा रहता है जिससे खराब होता है और उसका असली गुण भी कम हो जाता है। अतएव रक्षा की दृष्टि से अनाज मिट्टी की कोठियों मे भर दिया जाता है। इससे वह बिखरा हुआ नही रहता और उसमे जीव जन्तु भी नही पडने पाते। वह सुरक्षित रहता है जिससे कुटुम्ब का जीवन सुख से बीतता है।

लोक व्यवहार के इस दृष्टान्त को ध्यान मे रखकर ही गौतम स्वामी के संबंध म यह कहा गया है कि वे ध्यान रूपी कोठे मे तल्लीन हुए बैठे हैं। जैसे कोठे म नही भरा हुआ अनाज इधर-उधर बिखरा रहता है उसी प्रकार बिना ध्यान के मन और इन्द्रिया इधर-उधर बिखरी रहती हैं जिससे खराब होकर विपत्ति म पड जाती हैं। अतएव मन और इन्द्रिया को खीच कर ध्यान रूपी कोठा म बद कर दिया जाता है। ऐसा करने से उनकी शक्ति सुरक्षित रहती है।

इन्द्रिया का और मन का एकाग्र करके उनका सगठन करना ध्यान कहलाता है। ध्यान की व्याख्या करत हुए दार्शनिका न और योगशास्त्र न यही बतलाया है कि चित्तवृत्ति का निरोध करना ध्यान है। जैसे बिखरी हुई सूर्य की किरणा स अग्नि उत्पन्न नहीं होती परन्तु काच क बीच म रखने से किरणें एकत्र हो जाती हैं और उस काच क नीचे रुई रखन से आग उत्पन्न हो जाती है। अगर बीच म काच न हो तो किरणों से जो काम लेना चाहते हैं वह नही लिया जा सकता। इसी प्रकार मन और इन्द्रिया को एकत्र करने से आत्म ज्योति प्रकट होती है। ध्यान रूपी काच क द्वारा बिखरी हुई इन्द्रिय रूपी किरणें एकत्र हो जाती है और आत्म-ज्योति प्रकट होकर अपार और अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

है। कभी–कभी पूर्वभव की बाते भी स्वप्न मे दिखने लगती हैं, और कभी आगे होने वाली घटनाए दिखने लगती है।

शालिवाहन राजा के सबध में एक कथा है। एक रात वह सो रहा था। उसने स्वप्न मे देखा कि मै कनकपुर पट्टन नामक नगर को गया हू। वहा के राजा की पुत्री हसावली पर मैं मुग्ध हो गया हू और उसके साथ मेरा विवाह हो रहा है। विवाह होने के पश्चात् मैं उससे वार्त्तालाप करता हुआ विश्राम कर रहा हू।

राजा स्वप्न मे इस आनन्द मे इतना विभोर हो गया कि सवेरा होने पर भी नही उठा। लोग आश्चर्य करने लगे। अन्त मे प्रधान ने जाकर उसे जगाया। प्रधान के जगाने पर राजा जाग तो गया मगर उस पर बहुत रुष्ट हुआ। कहने लगा– प्रधान! तुमने मेरा आनन्द भग कर दिया है, इसलिए तू वध ा के योग्य हो।

राजा तलवार लेकर मत्री को मारने के लिए उद्यत हुआ। मन्त्री चतुर था। उसने राजा से कहा– मैं आपके अधीन हू। कही जाता नही हू। आप जब चाहे तभी मुझे मार सकते है। लेकिन मेरी एक प्रार्थना है। पहले मेरी प्रार्थना सुन लीजिए फिर चाहे तो प्राण ले लीजिए। मगर आप मेरी प्रार्थना सुनने से पहले ही मुझे मार डालेगे तो आपको पश्चात्ताप होगा कि मन्त्री न जाने क्या कहना चाहता था।

राजा ने मन्त्री की यह बात स्वीकार की। कहा–'बोलो क्या कहना चाहते हो?

मन्त्री ने कहा– मै अनुमान करता हू कि आप इस समय कोई स्वप्न देख रहे थे और उसी के सुख मे तल्लीन हो रहे थे। मैने आकर आपको जगा दिया और आपका सुख–स्वप्न भग हो गया। यही बात है न?

राजा बोला– हा बात तो यही है।

मन्त्री ने कहा–आप स्वप्न मे जो सुख भोग रहे थे वह सुख अगर आप मुझे सुना दे तो मै जिम्मेवारी लेता हू कि उसे प्रत्यक्ष कर दिखाऊगा। स्वप्न का सुख तो क्षणिक था थोडी देर बाद वह नष्ट हो ही जाता। मगर मैं स्वप्न का वही सुख वास्तविक कर दिखाऊगा।

राजा ने अपना स्वप्न मत्री को कह सुनाया। अन्त मे कहा–'सुख–समय मे जगाकर तुमने मेरा सुख भग किया है। अब अपनी प्रतिज्ञा याद रखना।

मत्री ने कहा– इस सुख को प्रत्यक्ष कर दिखाना कौन बडी बात है ? कनकपुर पट्टन भी और हसावली नामक राजकुमारी भी वहा है। यह मुझे मालूम है। मै हसावली को आप से अवश्य मिला दूगा।

यह किस्सा है। इसमे प्रयोजन नही। इसका उल्लेख करने का आशय यह है कि स्वप्न मे ऐसी बात देखी–सुनी जाती है जो कभी देखी–सुनी नही है।

कई लोग कहते हैं–बैठे–बैठे स्वर्ग का हाल कैसे मालूम हो जाता है? लेकिन उनसे पूछा–जाने पर इस प्रकार की बाते कैसे मालूम हो जाती हैं? जैसे स्वप्न मे अनदेखी और अनसुनी बात मालूम हो जाती है उसी प्रकार स्वर्ग का हाल भी मालूम हो जाता है।

क्षायिक गुण की तो बात ही क्या क्षायोपशमिक गुण मे भी इतनी शक्ति है कि जो बात कभी देखी नही वह भी देखने को मिल जाती है।

निद्रा मे जो सहज रीति से और थकावट से उत्पन्न होती है मे इतनी शक्ति है तो पराक्रम और योग की शक्ति से इन्द्रिय–वृत्ति का निरोध कर [illegible] ध्यान से प्रकट होने वाले ज्ञान का कहना ही क्या है? इसीलिए [illegible] स्वामी इन्द्रिय और मन को इधर–उधर न जाने देकर ध्यान रूपी कोठे मे [illegible] रहता है।

[illegible] स्वामी को उस ध्यान मे क्या लहर पैदा हुई यह बात सुधर्मा स्वामी आगे चलकर बताएगे।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को गौतम स्वामी के ध्यान विचार आदि का वर्णन क्यो सुनाया? इसलिए कि जम्बू स्वामी को और आगे की परम्परा को शिक्षा देनी थी। जब सासू यह चाहती है कि मेरी बहू सुधर जाय और [illegible] न करना पडे तो वह अपनी लडकी को ससुराल जाते समय शिक्षा देती है कि –बेटी ऐसा काम करना कि सब तेरी और मेरी प्रशंसा करे। तू चाहे तो मुझे धन्यवाद दिला सकती है और तू चाहे तो धिक्कार भी दिला सकती है।

अगर न बन ता यही आ जाना। दामाद को यही बुलाकर दुकान करा दूगी। बटी का एसी शिक्षा दन स क्या बहू न समझेगी? वह भी यही सोचेगी कि ननद उस घर की बहू ह ता मैं इस घर की बहू हू। जो बात उसके लिए कही गई है वही मर लिए भी है।

इसी प्रकार सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी को गौतम स्वामी की बात सु[illegible] रह हैं। सुधर्मा स्वामी का शिष्य–परम्परा सुधारनी है इसी उद्देश्य से वह गौ[illegible] स्वामी की विनय आदि की बात सुना रहे हैं, जिससे जम्बू स्वामी स[illegible] कि गौतम स्वामी क गुरु भगवान महावीर हैं और वे भगवान् का इतना [illegible] करत हैं ता मुझ भी अपन गुरु का इतना ही विनय करना चाहिए। [illegible] जेस महान् पुरुष जा तपस्वी हैं सघ क नायक हैं, अनेक ऋद्धियो [illegible] हैं और दवता भी जिन्ह नमस्कार करत है, वे भी अपने गुरु का [illegible] हैं ता हम उनक सामन किस गणना म हैं?

सुधर्मा स्वामी क कथन स जम्बू स्वामी तो समझ ही [illegible] वर्णन शास्त्र म क्या लिखा गया है? इसे लिपिबद्ध करने [illegible] के हित पर दृष्टि रखकर उसकी सुन्दर परम्परा को कायम [illegible] इसलिए किया गया है कि जिस तरह गौतम स्वामी ने [illegible] स्वामी न सुधर्मा स्वामी स विनय पूर्वक प्रश्न किये थे [illegible] चाहिए।

का पालन करना पड़ेगा। वैद्य की दवा कदाचित इस शरीर के रोग को मिटावेगी लेकिन शास्त्रश्रवण तो भव–परम्परा के रोग मिटाता है? फिर वैद्य से दवा लेने के समय विनीत आचरण करो और शास्त्रश्रवण के समय अविनय सेवन करो तो क्या यह उचित कहलाएगा?

खयाल आता है मुझे दिलजान तेरी बातो का।
खबर तुझको है नही आगे अधेरी रातो का ।।
जोबन तो कल ढल जायगा दरियाव है बरसाई का।
नोर कोई न खायेगा उस रोज तेरे हाथो का।।

दिलजान का अर्थ है–दिल से बधा हुआ। दिलजान कह देना और दिलजान का–सा बर्ताव करना और बात है। दुनिया मे धनजान मकानजान और रोटीजान भी हैं। जो धन दे वह धनजान जो रोटी वह दे रोटीजान और जो मकान दे वह मकानजान। इस प्रकार कई तरह की मैत्री होती है लेकिन दिलजान का दोस्ताना निराला ही है।

दिल परमात्मा का घर है परमात्मा जब मिलेगा तब दिल मे ही अगर दिल मे न मिला तो फिर कही नही मिलेगा। जो दिलजान बन जाता है उसे हर घड़ी खौफ रहता है कि कही मेरे दिलजान का दिल न दुख जावे? लोग खुशामद के मारे अच्छा खाने को मिलने से दिलजान कहते हैं लेकिन ईश्वरीय विश्वास पर जो दिलजान बनता है वह इसलिए कि दिल परमात्मा का घर है। यह बात भली भाति समझ लेता है कि किसी का दिल दुखाना ईश्वर को दुखाना है। इसी का नाम दया या अहिंसा है। दूसरे के दिल को रज पहुचाना ईश्वर को रज पहुचाना है।

यह आदर्श है। कोई इस आदर्श पर चाहे पहुच न सके मगर आदर्श यही रहेगा। आदर्श उच्च महान और परिपूर्ण होना चाहिए। अगर आदर्श गिरा हुआ होगा तो व्यवहार कैसे अच्छा होगा?

का कुछ नही बिगाड सकते। कदाचित् तुम्हारे सामने ऐसा मौका आवे भी तो कम से कम इतना करो कि दूसरे का हक छीनने के लिए उसका दिल न दुखाओ। अपने हक का लेने मे दूसरे का दिल दुखाना उतना पाप नहीं है जितना पाप दूसरे का हक छीनने के लिए दिल दुखाने मे है। अधिकाश लोग एक दूसरे का हक छीनने के लिए उसका दिल दुखाते हैं। दूसरे का हक हडप जाना और दूसरे का हक देना नही, यह भावना ससार मे फैल रही है इसी कारण ससार अशान्ति का अडडा बना हुआ है।

मित्रो! अपने जीवन को उन्नत बनाना हो तो गौतम स्वामी के गुणो का चिन्तन–मनन करके उन्हे अपने जीवन मे अधिक से अधिक मात्रा मे चरितार्थ करने की चेष्टा करो। इसी मे आपका कल्याण है।

प्रश्नोत्थान।

मूल–तए ण से भगव गीयमे जायसड्ढे जायससए जायकोऊहल्ले, उप्पणसड्ढे, उप्पण्णससए, उप्पण्णकोऊहल्ले सजासयड्ढे सजायससए, सजायकोऊहल्ले समुप्पण्णसड्ढे, समुप्पण्णससए, समुप्पण्णकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठाए उट्ठित्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेइ, वदइ, नमसइ। नमसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे नगसमाणे अभिमुहे विणएण पजलिऊडे पज्जुवासमाणे एव व्यासी।(3)

सस्कृत–छाया–तदा स भगवान् गौतमो जातश्रद्ध जातसशय जातकुतूहल, उत्पन्नश्रद्ध, उत्पन्नसशय, उत्पन्नकुतूहल, सजातश्रद्ध सजातसशय, सजातकुतूहल, समुत्पन्नश्रद्ध, समुत्पन्नसशय, समुत्पन्नकुतूहल, उत्थया उत्तिष्ठति। उत्थया उत्थाय येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैव उपगच्छति, उपागम्य श्रमण भगवन्त महावीर त्रिकृत्व आदक्षिणप्रदक्षिण करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, नमस्ययित्वा नात्यासन्न नातिदूर, शुश्रूषमाण, नमस्यन् अभिमुखो विनयेन कृतप्राञ्जली पर्युपासीन एवमवादीत्। (3)

मूलार्थ–तत्पश्चात् जातश्रद्ध–प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले जातसशय, जातकुतूहल सजातश्रद्ध, सजातसशय सजातकुतूहल समुत्पन्न श्रद्धा वाले समुत्पन्न सशय वाले समुत्पन्न कुतूहल वाले भगवान् गौतम उत्थान से उठते हैं। उत्थान से उठकर जिस ओर श्रमण भगवान महावीर है उस ओर आते हैं। आ करके श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके प्रदक्षिणा करते है प्रदक्षिणा करके वदन करते हैं नमस्कार करते हैं। नमस्कार

करके न बहुत पास न बहुत दूर भगवान के सामने विनय से ललाट पर हाथ जोड़ कर भगवान के वचन सुनने की इच्छा करते हुए भगवान को नमस्कार करते और उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले (3)

व्याख्या—श्री सुधर्मा स्वामी ने गौतम स्वामी के गुणो का वर्णन किया। अब भगवती सूत्र मे वर्णित प्रश्नोत्तर किस जिज्ञासा से हुए है यह वर्णन प्रारंभ कर ही सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी को सुनाने लगे। उन्होने कहा —हे जम्बू ! जब गौतम स्वामी ध्यान रूपी कोठे मे विचरते थे उस समय उनके मन मे एक श्रद्धा उत्पन्न हुई।

जायसड्ढे अर्थात जातश्रद्ध । 'जात' का अर्थ प्रवृत्त और उत्पन्न दोनो हो सकता है। यहा 'जात' का अर्थ प्रवृत्त है। अर्थात् श्रद्धा मे प्रवृत्ति हुई।

जात का अर्थ प्रवृत्त हुआ। रहा श्रद्धा का अर्थ। विश्वास करना श्रद्धा कहलाता है लेकिन यहा श्रद्धा का अर्थ इच्छा है। तात्पर्य यह हुआ कि गौतम स्वामी की प्रवृत्ति इच्छा हुई। किस प्रकार की इच्छा मे प्रवृत्ति? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कहा गया है कि जिन तत्वो का वर्णन किया जायेगा उन्हे जानने की इच्छा मे गौतम स्वामी की प्रवृत्ति हुई। इस प्रकार तत्व जानने की इच्छा मे जिसकी प्रवृत्ति हो उसे 'जातश्रद्ध' कहते है।

जातसंशय अर्थात संशय मे प्रवृत्ति हुई। यहा इच्छा की प्रवृत्ति का कारण बतलाया गया है। गौतम स्वामी की इच्छा मे प्रवृत्ति होने का कारण यह था कि उनकी संशय मे प्रवृत्ति हुई क्योकि संशय होने से जानने की इच्छा होती है। जो ज्ञान निश्चयात्मक न हो जिसमे परस्पर विरोधी अनेक वस्तु मालूम पडती हो वह संशय कहलाता है। यथा— यह रस्सी है या सांप है? इस प्रकार का संशय होने पर उसे निवारण करने के लिए यथार्थता जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। गौतम स्वामी को तत्व—विषयक—इच्छा हुई क्योकि उन्हे संशय हुआ था।

संशयात्मा विनश्यति।

इस प्रश्न के उत्तर मे टीकाकार कहते हैं कि जो वस्तु तत्व पहले निश्चित नही था उसके सबध मे गौतम स्वामी को सशय उत्पन्न हुआ। गौतम स्वामी का यह सशय अपूर्व ज्ञान–ग्रहण होने से आत्मा का घातक नहीं है।

भगवान् गौतम स्वामी को किस वस्तु तत्व के जानने के सबध मे सशय हुआ? इसके लिए टीकाकार स्पष्ट करते हैं कि–भगवान् महावीर का सिद्धान्त यह है कि–

चलमाणे चलिए।

अर्थात्–जो चल रहा है वह चला।

सूत्रार्थ मे चलने वाले को चला कहा, इससे यह अर्थ निकलता है कि जो चलता है वही चला। जैसे एक आदमी कलकत्ता के लिए चला। इस चलते हुए 'गया' कहना यह एक अर्थ का बोधक है।

'चलता है यह कथन वर्तमान का बोधक है और 'चला' यह भूतकाल या अतीतकाल का बोधक है। चलता है' यह वर्तमान की बात है और 'चला' यह भूतकाल की बात है। अतएव सशय पैदा होता है कि जो बात वर्तमान की है वह भूतकाल की कैसे कह दी गई? शास्त्रीय दृष्टि से इस विरोधी काल के कथन को एक ही काल मे बतलाने से दोष आता है। ऐसी दशा मे यह कथन निर्दोष किस प्रकार कहा जा सकता है?

जमाली सशय से ही भ्रष्ट हुआ था और गौतम स्वामी सशय से ही ज्ञानी हुए थे। जमाली के सबध मे 'सशयात्मा विनश्यति' यह कथन चरितार्थ हुआ और गौतम स्वामी के विषय मे 'न सशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति' यह कथन चरितार्थ हुआ।

जो सशय निर्णयात्मक होता है अर्थात जिससे गर्भ मे निर्णय का प्रयोजन होता है वह लाभदाता है और जो सशय निर्णय के लिए नही अपितु हठ के लिए होता है वह नाश करने वाला होता है। जमाली का सशय हठ के लिए था निर्णय के लिए नही इस कारण वह पतित हो गया। इससे विरुद्ध गौतम स्वामी का सशय निर्णय करने की बुद्धि से वस्तु तत्व को बारीकी से समझने के प्रयोजन से था उसमे हठ के लिए गुजाइश नही थी इसलिए गौतम स्वामी की आत्मा शुद्ध और ज्ञानयुक्त हो गई।

'जायकोउहले' अर्थात जातकुतूहल । गौतम स्वामी को कौतूहल उत्पन्न हुआ अर्थात उनके हृदय मे उत्सुकता उत्पन्न हुई। उत्सुकता यह कि मैं भगवान से प्रश्न करूगा तब भगवान मुझे अपूर्व वस्तु तत्व समझावेंगे उस

समय भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए अमृतमय वचन श्रवण करने मे कितना आनन्द होगा? ऐसा विचार करके गौतम स्वामी को कौतूहल हुआ।

गौतम स्वामी का सशय दोषमय नही है क्योकि उन्हे अकेला सशय नही हुआ वरन् पहले श्रद्धा हुई फिर सशय हुआ फिर कौतूहल भी हुआ। अत उनका सशय आनन्द का विषय है। श्रद्धा पूर्वक की हुई शका दोषास्पद नही है वरन अश्रद्धा के साथ की जाने वाली शका दोष का कारण होती है। यहा तक जायसड्ढे जायससए और जायकोउहल्ले इन तीनो पदो की व्याख्या की गई। इससे आगे कहा गया है– उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नससए और उप्पन्नकोउहल्ले। अर्थात श्रद्धा उत्पन्न हुई सशय उत्पन्न हुआ और कौतूहल हुआ।

यहा यह प्रश्न हो सकता है कि 'जायसड्ढे' और 'उप्पण्णसड्ढे' मे क्या अन्तर है? यह दो विशेषण अलग–अलग क्यो कहे गये हैं? इसका उत्तर यह है कि श्रद्धा जब उत्पन्न हुई तब वह प्रवृत्त भी हुई। जो श्रद्धा उत्पन्न नही हुई उसकी प्रवृत्ति भी नही हो सकती।

इस कथन मे यह तर्क किया जा सकता है कि श्रद्धा मे जब प्रवृत्ति हुई है तब यह बात स्वय प्रतीत हो जाती है कि श्रद्धा उत्पन्न हो ही गई है। फिर प्रवृत्ति और उत्पत्ति का अलग–अलग कहने की क्या आवश्यकता थी? उदाहरण के लिए–एक बालक चल रहा है। चलते हुए उस बालक को देखकर यह तो आप ही समझ मे आ जाता है कि बालक उत्पन्न हो चुका है। उत्पन्न न हुआ होता तो चलता ही कैसे? इसी प्रकार गौतम स्वामी की प्रवृत्ति श्रद्धा मे हुई इसी से यह बात समझ मे आ जाती है कि उनमे श्रद्धा उत्पन्न हुई थी। फिर श्रद्धा की प्रवृत्ति बतलाने के पश्चात उसकी उत्पत्ति बतलाने की क्या आवश्यकता है?

इस तर्क का उत्तर यह है कि प्रवृत्ति और उत्पत्ति मे कार्यकारणभाव प्रदर्शित करने के लिए दोनो पद पृथक–पृथक कहे गये हैं। कोई प्रश्न करे कि श्रद्धा मे प्रवृत्ति क्यो हुई? तो इसका यह उत्तर होगा कि श्रद्धा उत्पन्न हुई थी?

भूषण है। इस समाधान को साक्षी पूर्वक स्पष्ट करने के लिए आचार्य साहित्य शास्त्र का पमाण देते है। कि–

प्रवृत्तदीपामप्रवृत्तभास्करा प्रकाशचन्द्रा बुबुधे विभावरीम्।

अर्थात्–जिस दीपको की प्रवृत्ति हुई है, सूर्य की प्रवृत्ति नही है, ऐसी चन्द्रमा के पकाश वाली रात्रि समझी।

इस कथन मे भी कार्यकारणभाव की घटना हुई है। प्रवृत्तदीपाम्' कहने से अप्रवृत्तभास्करा' का बोध हो ही जाता है क्योकि सूर्य की प्रवृत्ति होने पर दीपक नही जलाये जाते। अत जब दीपक जलाये गये हैं। तो सूर्य प्रवृत्त नही है यह जानना स्वाभाविक है, फिर भी यहा सूर्य की प्रवृत्ति का अभाव अलग कहा गया है। यह कार्यकारणभाव बतलाने के लिए ही है। कार्य–कारणभाव यह कि सूर्य नही है अत दीपक जलाये गये हैं।

आचार्य कहते है कि जैसे यहा कार्य–कारणभाव प्रदर्शित करने के लिए अलग दो पदो का ग्रहण किया गया है उसी प्रकार शास्त्र में भी सकार्य–कारणभाव दिखाने के लिए ही 'जायसड्ढे' और 'उप्पणसडढे' इन दो पदो का अलग प्रयोग किया है। श्रद्धा मे प्रवृत्ति होने से यह अवश्य जान गये कि श्रद्धा उत्पन्न हुई लेकिन वाक्यालकार के लिए जैसे उक्त वाक्य मे सूर्य नही है' यह दुबारा कहा गया है उसी प्रकार यहा श्रद्धा उत्पन्न हुई' यह कथन किया गया है।

जायसड्ढे' और उप्पण्णसड्ढे की ही तरह 'जायससए और उप्पण्णससए तथा जायकुऊहले और उप्पण्णकुऊहले' पदो के विषय मे भी समझ लेना चाहिए।

इन छह पदो के पश्चात् कहा है–सजायसडढे सजायससए सजायकोऊहले और समुप्पण्णसड्ढे समुप्पण्णससए और समुप्पण्णकुऊहले। इस प्रकार छह पद और कहे गये हैं।

अर्वाचीन ग्रन्थो मे और प्राचीन शास्त्रो मे शैली सम्बन्धी बहुत अन्तर है। प्राचीन ऋषि पुनरुक्ति का इतना खयाल नही रखते थे जितना ससार के कल्याण का ख्याल करते थे। उन्होने जिस रीति से ससार की भलाई अधिक देखी उसी रीति को अपनाया और उसी के अनुसार कथन किया। यह बात जैन शास्त्रो के लिए ही लागू नही होती वरन् सभी प्राचीन शास्त्रियो क लिए लागू है। गीता मे अर्जुन को बोध देने के लिए एक ही बात विभिन्न शब्दो द्वारा दोहराई गई है। एक–सीधे सादे उदाहरण पर विचार करन स यह बात समझ मे आ जायेगी। किसी का लडका जोखिम लकर परदश जाता हो तो उस

घर मे भी सावधान रहने के लिए चेतावनी दी जाती है घर से बाहर भी चेताया जाता है कि सावधान रहना और अन्तिम बार विदा देते समय भी चेतावनी दी जाती है। एक ही बात बार-बार कहना पुनरुक्ति ही है लेकिन पिता होने के नाते मनुष्य अपने पुत्र को बार-बार समझाता है। यही पिता-पुत्र का सम्बन्ध सामने रखकर महापुरुषो ने शिक्षा की लाभप्रद बातो को बार-बार दोहराया है। ऐसा करने मे कोई हानि नही है वरन् लाभ ही होता है।

गोतम स्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वो के धनी थे। फिर भी उन्हे 'चलमाणे चलिए' के साधारण सिद्धान्त पर संशय और कुतूहल हुआ। यह एक तर्क है। इस तर्क का समाधान स्वय टीकाकार ने आगे किया है किन्तु थोडे से शब्दो मे यहा भी स्पष्टीकरण किया जाता है।

गुरु और शिष्य के संबध से सूत्र की निष्पत्ति होती है। श्रोता और वक्ता दोनो ही योग्य हो तभी बात ठीक बैठती है। भगवान् महावीर सरीखे वक्ता और गोतम स्वामी जैसे श्रोता खोजने पर भी अन्यत्र नही मिलेगे। ऐसा होने पर भी गोतम स्वामी ने वही बात पूछी जो सब की समझ मे आ जाय। गोतम स्वामी और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तरो मे यही विशेषता है। साधारण से साधारण जिज्ञासु भी इन बातो को समझ जाय वह उलझन मे न पडे इसी उद्देश्य से गोतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किये और भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त बना दिया।

भगवान महावीर और गोतम स्वामी दोनो ही इतनी उच्च श्रेणी के ज्ञानी थे कि उन्हे अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने की आवश्यकता नही थी। उनका एक मात्र ध्येय संसार का कल्याण था। इसी ध्येय को समझ रखकर गोतम स्वामी ने प्रश्न किये और जैसे प्रश्न किये गये वैसे ही उत्तर भी दिये गये।

भगवान् का मोक्ष जाना निश्चित है। अगर वे भाषण न करे तो भी उनका मोक्ष रुक नही सकता। लेकिन जिज्ञासु भव्य जीवो के हित के लिए उन्होने छोटी–छोटी बातो का भी निर्णय दिया है। यद्यपि भगवान् निर्णय दे रहे है। मगर उनका निर्णय समझने वाला कोई ज्ञानी होना चाहिए सो वह गौतम स्वामी है। जैसे बॉरिस्टर बॉरिस्टरी पास करता है उसी प्रकार गौतम स्वामी ने चार ज्ञान और चौदह पूर्व या सर्वाक्षर सन्निपात में पूर्ण योग्यता प्राप्त की है।

इस प्रकार भगवान् प्रधान न्यायाधीश और गौतम स्वामी बॉरिस्टर के स्थान पर है। फिर भी प्रश्न कितना सादा है। यह प्रश्न हमारे लिए है क्योकि हम छद्मस्थ उलझन मे पड जाते हैं और मतवाद के वादविवाद मे गिर जाते है। अतएव गौतम स्वामी ने बॉरिस्टर बनकर भगवान् महावीर से उन प्रश्नो का निर्णय कराया है। इस निर्णय (फैसले) की नकल सुधर्मा स्वामी ने ली है। सुधर्मा स्वामी ने भगवान् के निर्णय की जो नकल प्राप्त की थी वही जम्बू स्वामी प्रभृति उपकारी महापुरुष सुनाते आये हैं। इसी से हमे उसका किंचित् ज्ञान हुआ है। इन सब महर्षियो का हमारे ऊपर असीम उपकार है।

अन्तिम छह पदो मे से पहले के तीन पद इस प्रकार हैं –सजायसडढे सजायससए और सजायकोउहले। इन तीनो पदो का अर्थ वैसा ही हे जैसा कि जायसडढे जायससए और जायकोऊहले पदो का बतलाया जा चुका हे। अन्तर केवल यही है कि इन पदो मे जाय के साथ सम' उपसर्ग लगा हुआ है। जाय का अर्थ है–प्रवृत्त और 'सम्' उपसर्ग अत्यन्तता का बोधक हे। जैसे मैने कहा इसके स्थान पर व्यवहार मे कहते है–मैने बहुत कहा–खूब कहा मै बहुत चला मैने खूब खाया' आदि। इस प्रकार जैसे अत्यन्तता का भाव प्रकट करने के लिए बहुत या खूब शब्द का प्रयोग किया जाता हे उसी प्रकार शास्त्रीय भाषा मे अत्यन्तता बतलाने के लिए 'सम् शब्द लगाया जाता है। अतएव इन तीनो पदो का यह अर्थ हुआ कि बहुत श्रद्धा हुई बहुत सशय हुआ और बहुत कौतूहल हुआ।

'सम उपसर्ग बहुतता का वाचक है इसके लिए साहित्य का प्रमाण उद्धृत किया गया है–

सजातकामो बलभिद्विभूत्या
मानात् प्रजाभि प्रतिमाननाच्च ।।
ऐन्द्रैश्वर्य प्रकर्षेण जातेच्छ कार्तवीर्य

यहा सजातकाम पद मे 'सम' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। यहा 'सजातकाम' का अर्थ है अत्यन्त इच्छा वाला–प्रबल कामना वाला। जैसे इस जगह 'सम' पद अत्यन्तता का बोधक है उसी प्रकार उक्त पदो मे भी सम् पद अत्यन्तता का बोधक है।

सजायसड्ढे की ही तरह 'सजायसंसए और सजायकोउहल्ले पदो का अर्थ समझना चाहिए। और इसी प्रकार समुप्पणसड्ढे 'समुप्पण्णसंसए तथा समुप्पण्णकोउहल्ले पदो का भाव भी समझ लेना चाहिए।

यह बारह पदो का अर्थ हुआ। इस अर्थ मे आचार्यों का किंचित मतभेद है। कोई आचार्य इन बारह पदो का अर्थ अन्य प्रकार से भी कहते है। वे श्रद्धा पद का अर्थ पूछने की इच्छा संशय से उत्पन्न होती है और संशय कौतूहल से उत्पन्न हुआ। यह सामने ऊची सी दिखाई देने वाली वस्तु मनुष्य है या ठूठ है? इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय कहलाता है। इस प्रकार व्याख्या करके आचार्य एक का दूसरे पद के साथ संबध जोडते है। अर्थात श्रद्धा के साथ संशय का सम्बध जोडते है और संशय से कौतूहल का सम्बध जोडते है। 'कौतूहल' का अर्थ उन्होने यह किया है– हम यह बात कैसे जानेगे– इस प्रकार की उत्सुकता को कौतूहल कहते है।

इस प्रकार व्याख्या करके वह आचार्य कहते है कि इन बारह पदो के चार–चार हिस्से करने चाहिए। इन चार हिस्सो मे एक हिस्सा अवग्रह का है एक ईहा का है एक अवाय का है और एक धारणा का है। इस प्रकार इन चार विभागो मे बारह पदो का समावेश हो जाता है।

दूसरे आचार्य का कथन है कि इन बारह पदो का समन्वय दूसरी ही तरह से करना चाहिए। इसके मन्तव्य के अनुसार बारह पदो के भेद करके उन्हे अलग–अलग करने की आवश्यकता नही है। जात संजात उत्पन्न समुत्पन्न इन सब पदो का एक ही अर्थ है। प्रश्न होता है कि एक ही अर्थ वाले इतने पदो का प्रयोग क्यो किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर वह आचार्य देते हैं कि शब्द को बहुत स्पष्ट करने के लिए इन पदो का प्रयोग किया गया है।

कहकर श्री गौतम स्वामी की प्रशसा की है। अतएव बार–बार के इस कथन को पुनरुक्ति दोष नही कहा जा सकता। इसका प्रमाण यह है।

वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमना स्तुवस्तथा निन्दन् यत् पदमसकृद्
ब्रूते तत्पुनरुक्त न दोषाय'

अर्थात्–हर्ष या भय आदि किसी प्रबल भाव से विक्षिप्त मन वाला वक्ता किसी की प्रशसा या निन्दा करता हुआ अगर एक ही पद को बार–बार बोलता है तो उसमे पुनरुक्ति दोष नही माना जाता।

इस कथन के अनुसार शास्त्रकार ने गौतम स्वामी की स्तुति के लिए एक ही अर्थ वाले अनेक पद कहे हैं, फिर भी इस कथन में पुनरुक्ति दोष नही है।

जिन आचार्य के मन्तव्य के अनुसार इन बारह पदो को अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा मे विभक्त किया गया है, उसके कथन के आधार पर यह प्रश्न हो सकता है कि अवग्रह आदि का क्या अर्थ है? उस प्रश्न का उत्तर यह है।

इन्द्रियो और मन के द्वारा होने वाले मति ज्ञान के यह चार भेद हैं। अर्थात् हम जब किसी वस्तु को किसी इन्द्रिय द्वारा या मन द्वारा जानते हैं, तो वह ज्ञान किस क्रम से उत्पन्न होता है यही क्रम बतलाने के लिए शास्त्रो मे चार भेद कहे गये है। साधारणतया प्रत्येक मनुष्य समझता है कि मन और इन्द्रियो से एकदम जल्दी ही ज्ञान हो जाता है। वह समझता है मैंने आख खोली और पहाड देख लिया। अर्थात् उसकी समझ के अनुसार इन्द्रिय या मन की क्रिया होते ही ज्ञान हो जाता है ज्ञान होने मे तनिक भी देर नही लगती। मगर जिन्होने आध्यात्मिक विज्ञान का अध्ययन किया है उन्हें मालूम है कि ऐसा नही होता। छोटी से छाटी वस्तु देखने मे भी बहुत समय लग जाता है। मगर वह समय अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण हमारी स्थूल कल्पना शक्ति मे नही आता।

एक बलवान युवक सर्वथा जीर्ण वस्त्र को लेता है और दोनो ओर खीचकर चीर डालता है। वह समझता है कि इसके चीरने मे मुझे तनिक भी देर नही लगी। मगर ज्ञानी पुरुष कहते है कि इस बलवान युवक को कपडा फाडने मे बहुत काल लगा है। कपडा सूत के पतले–पतले तारो का बना होता है जब तक ऊपर का तार न टूटे तब तक नीचे का तार नही टूटता। इस प्रकार पहले ऊपर का तार टूटा फिर नीचे का तार। दोनो तार क्रम से टूटते हैं इसलिए पहला तार टूटने का काल अलग है और दूसरा तार टूटने का काल

अलग है। इसी क्रम से और भी तार टूटते हैं। अब समस्त तारों के टूटने के काल का विचार करना चाहिए। घडी मे सेकैंड तक के हिस्से किये जा सके हैं। अगर सारा कपडा फाडने मे एक सैकैंड लगा है तो कपडे मे जितने तार हैं उतने ही हिस्से सेकेण्ड के हो गये।

तात्पर्य यह कि स्थूल दृष्टि से लोग समझते हैं कि इन्द्रिय या मन से ज्ञान होने म देर नही लगती परन्तु वास्तव म बहुत काल लग जाता है। इन्द्रिय या मन से ज्ञान होने मे कितना काल लगता है यह बात नीचे बताई जाती है।

जब हम किसी वस्तु को देखना चाहते हैं तब सर्व प्रथम दर्शनोपयोग होता है। निराकार ज्ञान को जिसमे वस्तु का अस्तित्व मात्र प्रतीत होता है [illegible] दर्शन या दर्शनोपयोग कहते हैं। दर्शन हो जाने के अनन्तर अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह दो प्रकार का है (1) व्यजनावग्रह और (2) अर्थावग्रह। मान लीजिए कोई वस्तु पडी है परन्तु उसे दीपक के बिना नही देख सकते। जब दीपक का प्रकाश उस पर पडता है तब वह वस्तु को प्रकाशित कर देता है। इसी प्रकार इन्द्रियो द्वारा होने वाले ज्ञान म जिस वस्तु को जिस इन्द्रिय से [illegible] होता है उस वस्तु के परिमाणु इन्द्रिय से लगते हैं। उस वस्तु का और इन्द्रिय का सम्बन्ध व्यजन कहलाता है। व्यजन का वह अवग्रह व्यजनावग्रह [illegible] है। यह व्यजनावग्रह आख और मन से नही होता क्योकि आख और मन का वस्तु के परमाणुओ के साथ सबध नही होता। यह दोनो इन्द्रिया पदार्थ का स्पर्श किये बिना ही पदार्थ को जान लेती है। अर्थात अप्राप्यकारी है। शेष चार इन्द्रियो से ही व्यजनावग्रह होता है। आख और मन को छोडकर शेष चार इन्द्रियो से पहले व्यजनावग्रह ही होता है।

होता लेकिन तार टूटते अवश्य हैं। तार न टूटे तो कपडा फट नही सकता। इसी प्रकार अवग्रह ज्ञान स्वय मालूम नही पडता मगर वह होता अवश्य है। अवग्रह न होता तो आगे के ईहा अवाय धारणा आदि ज्ञानो का होना सभव नही था। क्योकि बिना अवग्रह के ईहा बिना ईहा के अवाय और बिना अवाय के धारणा नही होती। ज्ञानो का यह क्रम निश्चित है।

अवग्रह के बाद ईहा होती है। यह क्या है इस प्रकार का अर्थावग्रह ज्ञान जिस वस्तु के विषय मे हुआ था उसी वस्तु के सबध मे भेद के विचार को ईहा कहते हैं। यह वस्तु अमुक गुण की है इसलिए अमुक होनी चाहिए इस प्रकार का कुछ–कुछ कच्चा–पक्का ज्ञान ईहा कहलाता है।

ईहा के पश्चात् अवाय ज्ञान होता है। जिस वस्तु के सबध मे ईहा ज्ञान हुआ उसके सबध मे किसी निर्णय–निश्चय पर पहुच जाना अवाय है। 'यह अमुक वस्तु ही है' इस ज्ञान को अवाय कहते हैं। उदाहरणार्थ–'यह खडा हुआ पदार्थ ठूठ होना चाहिए इस प्रकार का ज्ञान ईहा कहलाता है और यह पदार्थ अगर मनुष्य होता तो बिना हिले–डुले एक ही स्थान पर खडा न रहता इस पर पक्षी निर्भय होकर न बैठते इसलिए यह मनुष्य नही है ठूठ ही है। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान अवाय कहलाता है। अर्थात् जो है उसे स्थिर करने वाला और जो नही है उसे उठाने वाला निर्णय रूप ज्ञान अवाय है।

चौथा ज्ञान धारणा है। जिस पदार्थ के विषय मे अवाय हुआ है उसी के सबध मे धारणा होती है। धारणा स्मृति और सस्कार यह एक ही ज्ञान की शाखाए है। जिस वस्तु मे अवाय हुआ है उसे कालान्तर मे स्मरण करने के योग्य सुदृढ बना लेना धारणा ज्ञान है। कालान्तर मे उस पदार्थ को याद करना स्मरण है और स्मरण का कारण सस्कार कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा का ज्ञानगुण मूलत एक ही है। वह जब किसी वस्तु का इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करता है तो पहले–पहले अत्यन्त सामान्य रूप मे होता है। फिर धीरे–धीरे विकसित एव पुष्ट होता हुआ निर्णय रूप बन जाता है। उत्पत्ति से लेकर निश्चयात्मक रूप धारण करने मे ज्ञान का बहुत काल लग जाता है। मगर वह काल इतना सूक्ष्म है कि हमारी स्थूल कल्पना मे आना कठिन होता है। निश्चयात्मक रूप धारण करने मे ज्ञान को अनेक अवस्थाओ मे से गुजरना पडता है। यह अवस्थाए इतनी अधिक होती है कि हम उनकी ठीक–ठीक कल्पना भी नही कर सकते। तथापि सहज रीति से सब समझ मे आ जाए इस प्रयोजन से शास्त्रकारो ने उन सभी अवस्थाओ का मुख्य चार विभागो मे वर्गीकरण कर दिया है। ज्ञान की इन मुख्य चार

अवस्थाओं को ही अवग्रह ईहा अवाय और धारणा कहते हैं। मगर यह नहीं समझना चाहिए कि हमारा ज्ञान सीधा अवग्रह से आरंभ होता है। अवग्रह से भी पहले दर्शन होता है। दर्शन में महासामान्य अर्थात सत्ता का प्रतिभास होता है। सत्ता का प्रतिभास हो चुकने पर अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह में भी पहले व्यंजनावग्रह फिर अर्थावग्रह होता है। अवग्रह के पश्चात संशय का उदय होता है। तब संशय को हटाता हुआ ईहा ईहा के अनन्तर अवाय और अवाय के पश्चात धारणा ज्ञान होता है। इस प्रकार अवग्रह ईहा अवाय और धारणा क्रमपूर्वक ही होते हैं। पहला ज्ञान हुए बिना दूसरा आगे वाला ज्ञान नहीं हो सकता।

पहले आचार्य का कथन है कि गौतम स्वामी को प्रथम श्रद्धा संशय और कौतूहल में प्रवृति हुई। यह तीनों अवग्रह ज्ञान रूप हैं। प्रश्न होता है कि [illegible] मालूम हुआ कि गौतम स्वामी को पहलेपहल अवग्रह हुआ? इसका [illegible] है कि—पृथ्वी में दाना बोया जाता है। दाना पानी का संयोग पाकर [illegible] में गीला होता है—फूलता है और तब उसमें से अंकुर निकलता है। अंकुर [illegible] पृथ्वी से बाहर नहीं निकलता तब तक दीख नहीं पड़ता। मगर जब अंकुर पृथ्वी के बाहर निकलता है तब उसे देखकर हम यह जान लेते हैं कि यह अंकुर पहले छोटा था जो दीख नहीं पड़ता था मगर था वह अवश्य। अगर वह छोटे रूप में न होता तो अब बड़ा होकर कैसे दीख पड़ता? इस प्रकार बड़े को देखकर छोटे का अनुमान करना ही चाहिए। कार्य को देखकर कारण को मानना ही न्यायसंगत है। बिना कारण के कार्य का होना असंगत है। अगर बिना कारण के कार्य का होना मान लिया जाय तो संसार का नियम ही बिगड़ जायगा।

जो मति ज्ञान होता है वह इन्दिय और मन से होता है। और इन्द्रिय तथा मन से होने वाले ज्ञान मे बिना अवग्रह के ईहा नही होती।

साराश यह है कि पहले 'जायसड्ढे, जायससए और जायकोऊहले यह तीन पद अवग्रह है।' उप्पणसड्ढे, उप्पण्णससए और उप्पण्णकोऊले यह तीन पद ईहा हैं। सजायसड्ढे, सजायससए और सजायकोऊहले तथा समुप्पणकोऊहले, यह तीन पद धारणा हैं।

इसके आगे गौतम स्वामी के सबध मे कहा है कि–उट्ठाए उट्ठेए। अर्थात् गौतम स्वामी उठने के लिए तैयार होकर उठते हैं।

प्रश्न–यहा 'उट्ठाए उट्ठेइ यह दो पद क्यो दिये गये हैं?

उत्तर–दोनो पद सार्थक हैं। पहले पद से यह सूचित किया है कि गौतम स्वामी उठने के अभिमुख हुए अर्थात् उठने को तैयार हुए। दूसरे पद से यह सूचित किया है कि वे उठ खडे हुए। अगर दो पद न दिए होते और पहला ही पद होता तो उठने के प्रारम्भ का ज्ञान तो होता परन्तु उठकर खडे हुए यह ज्ञान न होता। जैसे 'बोलने के लिए तैयार हुए' इस कथन मे यह सदेह रह जाता है कि बोले या नहीं? इसी प्रकार एक पद रखने से यहा भी सन्देह रह जाता।

शास्त्र मे गुरु और शिष्य के बीच मे साडे तीन हाथ की दूरी रहने का विधान है। इस विधान मे अनेक उद्देश्य हैं। गुरु को शरीर फैलाने मे दिक्कत नही होती और गर्मी आदि भी नही लगती। इस कारण शिष्य को गुरु से 3।। हाथ दूर रहना कहा है। गुरु के चरण–स्पर्श आदि किसी कार्य के लिए अवग्रह मे जाना हो तो गुरु से आज्ञा लेनी चाहिए। अगर गुरु आज्ञा दे तो जाना चाहिए अन्यथा नही जाना चाहिए यह नियम है। आज इस नियम के शब्द तो सुधर्मा स्वामी की कृपा से मिलते है लेकिन इसमे प्रवृत्ति कम देखी जाती है।

गौतम स्वामी अपने आसन से उठ खडे हुए और चलकर भगवान के समीप आये। भगवान् के समीप आकर उन्होने भगवान को तीन बार प्रदक्षिणा की।

कई लोग प्रदक्षिणा का अर्थ हाथ जोड कर अपने कान के आसपास हाथ घुमाना ही समझते हैं लेकिन यह प्रदक्षिणा का विकृत किवा संक्षिप्त रूप है। आसपास चारो ओर चक्कर लगाने का नाम ही प्रदक्षिणा है। प्राचीन काल मे इसी प्रकार प्रदक्षिणा की जाती थी।

प्रदक्षिणा करके गौतम स्वामी ने भगवान के गुणों का कीर्तन किया और पांच अंग नमा कर भगवान को वंदना की। वंदना करने के पश्चात गौतम स्वामी भगवान के सन्मुख बैठे। वचन से स्तुति करना वंदना है और काया से प्रणाम करना नमस्कार कहलाता है।

गौतम स्वामी भगवान के सन्मुख–भगवान की ओर मुंह करके किस प्रकार बैठे यह वर्णन भी शास्त्र मे है। संक्षेप में वह भी बतलाया जाता है।

गौतम स्वामी भगवान के आसन की अपेक्षा नीचे आसनपर न बहुत दूर न बहुत नजदीक अर्थात भगवान से साढे तीन हाथ दूर बैठे। बहुत दूर बैठने से शिष्य गुरु की बात भली भॉति नही सुन सकता। अथवा गुरु को जोर से बोलने का कष्ट उठाना पडता है। बहुत समीप बैठने से गुरु को किस प्रकार की दिक्कत होती है। अतएव गौतम स्वामी भगवान से साढे तीन हाथ की दूरी पर भगवान के वचनों को श्रवण करने की इच्छा करते हुए विराजमान हुए। गौतम स्वामी भगवान के सामने वैसी ही इच्छा लिये बैठे हैं जैसे बछडे को गाय का दूध पीने की इच्छा होती है।

इसके पश्चात गौतम स्वामी अंजलि करके अर्थात दोनों हाथ जोड कर उन्हें मस्तक से लगाकर प्रार्थना करते हुए भगवान के प्रति विनयपूर्वक बोले।

यह गौतम स्वामी के विनय का वर्णन सुधर्मा स्वामी ने सुनाया है। इससे प्रतीत होता है कि श्रोता को अपने गुरू के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। श्रोता कैसा होना चाहिए इस विषय में कहा गया है।

णिदा–विगहा परिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं।
भत्ति–बहुमाणपुव्वं उवउत्तेहिं सुणेयव्वं।।

कोई–कोई श्रोता जौंक के समान होता है। जौंक को अगर दूध भरे स्तन पर लगाया जाय तो यह दूध न पीकर रक्त ही पीती है। किसी कवि ने कहा है

अवगुण को उमगी गहे गुण न गहे खल लोक।
रक्त पिये पय ना पिये, लगी पयोधर जौंक।।

इसी प्रकार जो श्रोता वक्ता के छिद्र तो देखते हैं परन्तु वक्ता के मुख से निकलने वाली अमृतवाणी को ग्रहण नही करते, वे जौंक के समान हैं।

भगवान ने चौदह प्रकार के वक्ता कहे हैं मगर साथ यह भी कहा है कि श्रोता के वक्ता के दोष न देख कर गुण ही ग्रहण करना चाहिए। जहॉ अमृत मिल सकता है वहॉ रक्त ग्रहण करना उचित नही है।

विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करके गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी से स्वीकृति प्राप्त करके प्रश्न किये जिनका वर्णन आगे किया जाएगा।

।। इति।।

श्री भगवती सूत्र व्याख्यान

भाग–2

श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (पंचमांगम्)
द्वितीय भाग

प्रथम शतकः— प्रथम उद्देशक

मूल— से णूण भते! चलमाणे चलिए?उदीरिज्जमाणे उदीरिए?
वेइज्जमाणे वेइए?पहिज्जमाणे पहीणे? छिज्जमाणे छिण्णे?
भिज्जमाणे भिण्णे? डज्झमाणे दड्ढे? मिज्जमाणे मडे?
निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे?(3)

सस्कृत—छाया— तद् नून भगवन्! चलत् चलितम्? उदीर्यमाण उदीरितम? वेद्यमान वेदितम्? प्रहीयमाण प्रहीणम्? छिद्यमान छिन्नम्? भिद्यमान भिन्नम्? दह्यमान दग्धम्? म्रियमाण मृतम्? निर्जीर्यमाण निर्जीर्णम्?(3)

हे भगवन्! जो चल रहा हो, वह चला जो उदीरा जा रहा हो, वह उदीरा गया, जो वेदा जा रहा हो, वह वेदा गया जो नष्ट हो रहा हो वह नष्ट हुआ जो छिद रहा है वह छिदा, जो भिद रहा है वह भिदा, जो जल रहा है वह जला जो मर रहा है वह मरा, जो खिर रहा है वह खिरा, इस प्रकार कहा जा सकता है?(3)

व्याख्या— गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से उक्त नौ प्रश्न किये। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गौतम स्वामी ने इन प्रश्नो मे पहले चलमाणे चलिए? यह प्रश्न ही क्यो किया? दूसरा प्रश्न पहले क्यो नहीं किया। इस प्रश्न का समाधन यह है।

पुरुषार्थ चार है उनमे मोक्ष पुरुषार्थ मुख्य है। जितने भी पुरुषार्थ हैं वह सब मोक्ष के लिए ही होने चाहिए। और कोई काम ऐसे पुरुषार्थ का नही है जैसे पुरुषार्थ का काम मोक्ष प्राप्त करने का है। अतएव सब प्राणियो को उचित है कि वे दूसरे काम छोड कर मोक्ष—प्राप्ति के काम मे लगे।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करना सब कामो मे श्रेष्ठ है। मोक्ष प्राप्ति एक कार्य है तो उसका कारण भी अवश्य होना चाहिए क्योकि बिना कारण के कार्य नही हो सकता। बिना कारण क कार्य का होना मान लेने से बडी

गडबडी मच जायगी। अतएव प्राकृतिक नियम के अनुसार यही मानना उचित है कि कारण के होने पर ही कार्य होता है। इस नियम से जब मोक्ष साध्य है तो उसका साधन भी अवश्य होना चाहिए।

मान लीजिए कोई महिला रोटी बनाना चाहती है। रोटी बनाना साध्य है तो उसके लिए साधनो का होना अनिवार्य आवश्यक है। चकला बेलन आटा अग्नि आदि रोटी बनाने के साधनो को सामग्री कहते हैं। यह साधन सामग्री होगी तभी रोटी बनेगी। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य मे साधन की आवश्यकता है। जैसा मनुष्य का साध्य होगा वैसा ही उसे पुरुषार्थ भी करना पड़ता है। उसके अनुकूल ही साधन करने पडते हैं।

मोक्ष रूप साध्य के लिए सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप साधनों की आवश्यकता है। जैसे आटा अग्नि आदि सामग्री के बिना रोटी नही बन सकती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि सामग्री के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे यह साबित होता है कि मोक्ष रूप साध्य के साधन सम्यक–दर्शन सम्यक्–ज्ञान और सम्यक चारित्र हैं।

साध्य के अनुकूल साधन और साधन के अनुसार साध्य होता है। अन्य जाति का कारण अन्यजातीय कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। अगर किसी को खीर बनानी है तो उसे दूध शक्कर, चावल का उपयोग करना होगा। इसके बदले अगर कोई नमक–मिर्च इकट्ठा करने बैठ जाये तो खीर नहीं बनेगी। तात्पर्य यह है कि साध्य के अनुकूल ही साधन जुटाने चाहिए।

साध्य के अनुसार साधन जुटाने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। खीर बनाने वाले को जानकारी होनी चाहिये कि खीर के लिये दूध शक्कर आदि की आवश्यकता है और शाक बनाने वाले को जानना चाहिए कि उसके लिए नमक–मिर्च का उपयोग किया जाता है। ऐसा ज्ञान न होने से न खीर ही ठीक बन सकती है और न तरकारी ही। तात्पर्य यह है कि कार्य करने के लिए कर्त्ता को कारणो का यथावत ज्ञान होना चाहिए। यथावत ज्ञान के अभाव मे कार्य यथावत् नही हो सकता।

यहाँ मोक्ष साध्य है और सम्यग्ज्ञान आदि उसके साधन हैं। साध्य और साधन के व्यभिचार को हटाकर जो उनका जोड मिलाने की शिक्षा दे वह शास्त्र कहलाता है। श्रेष्ठ पुरुष इस बात की शिक्षा चाहते हैं कि साध्य (मोक्ष) और साधन (सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक–चारित्र) समान मिल जाए। इनमे व्यभिचार न हो। इसलिए श्रेष्ठ पुरुष शास्त्र श्रवण की इच्छा रखते हैं।

भगवती सूत्र शास्त्र है। इस शास्त्र मे कार्य कारण का व्यभिचार न होने देने की शिक्षा दी गई है। साध्य और साधन मे व्यभिचार न आने देने के लिए साध्य और साधन दोनो पर विचार करने की आवश्यकता है। अगर साध्य को भूलकर दूसरे ही कार्य के लिए साधन जुटाते रहे अथवा साधन को भूलकर साध्य दूसरे को ही मानते रहे तो कैसे कार्य होगा? साध्य है खीर और बना ली तरकारी। यहाँ साध्य का ज्ञान न होने से दूसरे ही कार्य के साधन जुटाये और उन साधनो से खीर की जगह तरकारी बन गई । भले ही तरकारी अच्छी बनी, मगर साध्य वह नही थी । साध्य तो खीर थी जो बनी नही। इसी प्रकार साध्य बनाया जाय मोक्ष और साधन जुटाए जाएँ ससार के तो मोक्ष कैसे मिलेगा? कारण कार्य मे व्यभिचार नही होना चाहिए। दोनो एक हो जावे। इस बात की शिक्षा देने वाला शास्त्र कहलाता है।

यहाँ कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र साधन हैं और मोक्ष साध्य है। इन साधनों के द्वारा मोक्ष को साधा जाय तो कोई गड़बड़ न होगी।

हमारे आत्मा की शक्तियाँ बन्धन में है। उन शक्तियो पर आवरण पडा है, उस आवरण को हटाकर आत्मा की शक्तियों को प्रकट कर लेना ही मोक्ष है। आत्मा में सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्–चारित्र की शक्ति स्वभावत विद्यमान है, लेकिन वह दब रही है। रत्नत्रय की इस शक्ति में आत्मा की अन्य सब शक्तियों का समावेश हो जाता है। ज्यो ज्यो इस शक्ति का विकास होता है, मोक्ष समीप से समीपतर होता चला जाता है।

तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना करेगा, वह मोक्ष की आराधना करेगा और जो मोक्ष की आराधना करेगा वह इन साधनो को अपनायेगा। जैसे खीर को दूध, चावल और शक्कर कहो या दूध चावल, शक्कर को खीर कहो एक ही बात है। इसी प्रकार सम्यक्–ज्ञान–दर्शन–चाारित्र की आराधना कहो या मोक्ष की आराधना कहो दोनो एक ही बात है।

सम्यक् ज्ञान–दर्शन–चारित्र मोक्ष के ही साधन हैं यह साधन मोक्ष को ही सिद्ध करेगे, और किसी कार्य को सिद्ध नही करेगे। मोक्ष को साधने वाला इन तीनो कारणो को ही साधेगा और इन्ही कारणो से मोक्ष सधेगा।

मोक्ष को वही जान सकता है जो इन शक्तियो के बन्धन को जानेगा। जो बन्धन को न जानेगा वह मोक्ष को क्या समझेगा? जो कैद या परतत्रता को जानेगा वही स्वतत्रता चाहेगा। आज जो भारतीय परतत्रता को जानत हैं वे ही स्वतत्रता को चाहते हैं। जिन्हे परतत्रता का ही ज्ञान नही है व स्वतत्रता

को नहीं समझ सकते। इसी प्रकार जो बन्धन को समझेगा वही मोक्ष को भी समझेगा।

वस्तु दो प्रकार से जानी जाती है– स्वपक्ष से और विपक्ष से। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होना स्वपक्ष से जानना है और उसके प्रतिपक्षी विरोधी वस्तु को जानकर और फिर उससे व्यावृत्त करके मूल वस्तु को जानना विपक्ष से जानना है। इसे विधिमुख से और निषेधमुख से जानना भी कहा जा सकता है। प्रकाश को जानने के लिए अन्धकार को जान लेना भी आवश्यक होता है। इसी प्रकार धर्म को जानने के लिए अधर्म को और अधर्म को जानने के लिए धर्म को जान लेना आवश्यक है। मोक्ष का प्रतिपक्ष बन्धन है। बन्धन है इसी से मोक्ष भी है। बन्धन न होता तो मोक्ष भी न होता। मोक्ष को जानने के लिए बन्धन को जानना पड़ता है।

आत्मा के साथ कर्मों का एकमेक हो जाना बन्ध है। जैसे दूध और पानी आपस में मिलकर एकमेक हो जाते हैं उसी प्रकार कर्मप्रदेशों का आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना बन्धन है। और इस कर्मबन्ध का नाश हो जाना मोक्ष है। मोक्ष के लिए कर्मबन्धन काटना अनिवार्य है।

मूल बात यह है कि गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से जो नौ प्रश्न किये हैं। उनमें पहले चलमाणे चलिए प्रश्न ही क्यो किया? इस प्रश्न का हल करने से पूर्व हम यह देखना चाहिए कि कर्म बन्ध का नाश क्रमश होता है या एक साथ?

प्रत्येक कार्य में क्रम देखा जाता है। एक सड़े–गले कपड़े को फाड़ने में भी पहले और पीछे के तार टूटने का क्रम है। कपड़े के सभी तार एक साथ नहीं टूटते। इस प्रकार संसार में किसी भी कार्य को लीजिए उसके सम्पन्न होने में क्रम अवश्य दिखलाई पड़ेगा जो सूक्ष्म दृष्टि से कार्य के क्रम को समझ लेगा वह गड़बड़ में नहीं पड़ेगा। जो मनुष्य बारीक नजर से किसी कार्य के क्रम को नहीं समझेगा उसका गड़बड़ में पड़ जाना स्वाभाविक है।

जैसे अन्यान्य कार्यक्रम क्रम से होते हैं उसी प्रकार कर्मबन्ध का नाश भी क्रम से होता है। इसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं होना चाहिए। अब देखना सिर्फ यही है कि कर्मबन्ध का नाश किस क्रम से होता है?

कर्मबध नही रहता। कर्मबध के नष्ट होने मे पहला क्रम 'चलमाणे चलिए' ही है। इसी कारण यह प्रश्न सब से पहले उपस्थित किया गया है।

अब यह देखना चाहिए कि कर्मबध के नाश का यह क्रम दिखाकर कौन–सी बात समझाई गई है और इन पदो का अर्थ क्या है? सब से पहले 'चलमाणे चलिए' इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर कर्म उदयावलिका में आतें हैं, आवलिका कहते हैं –चक्कर को । स्थिति पूर्ण होने पर कर्म अपना फल देने के लिए जिस चक्कर मे आते हैं उसे उदय–आवलिका कहते हैं। इस प्रकार कर्म का फल देने लिए सामने आना ही चलित होना है।

उदय–आवलिका का शास्त्र मे बहुत विस्तार पूर्वक वर्णन है, जिसे कहने का अभी समय नही है।

कर्मो को उदय–आवलिका मे आने मे असख्यात समय लगते हैं, असख्यात समय मे कर्म उदय–आवलिका मे आते हैं। जो समय असख्यात है उनकी आदि भी है, मध्य भी है और अन्त भी है। असख्यात मे आदि, मध्य और अन्त होता ही है। कर्म–पुद्‌गल अनन्त हैं और उनके उदय–आवलिका मे आने का क्रम है। इस समय मे अनन्त पुद्‌गलो का कितना दल चले, दूसरे समय मे कितना चले और तीसरे समय मे कितना दल चले, आदि? इस प्रकार क्रमपूर्वक कर्मपुद्‌गल उदयावलिका मे आते हैं। अत क्रम से चलते–चलते कर्मपुद्‌गलो को उदयावलिका मे आने मे असख्यात समय लग जाते हैं।

चलमाणे चलिए – जो चलता है वह चला।

इस सिद्धान्त के अनुसार पहले समय मे कर्मपुद्‌गलो का जो दल चला है उसे दृष्टि मे रखकर, आगे के असख्यात समयो मे जो दल चलेगा। उसके लिए भी चला' कहा जायगा। अर्थात पहले समय मे जो कर्मपुद्‌गलो का दल चला है उसे लक्ष्य करके कर्मपुद्‌गलो के सब दलो के लिए कहना चाहिए कि वे सब चले है ।

अब प्रश्न यह है कि जो कर्मपुद्‌गल चल रहे हैं वे वर्तमान मे हैं उन्हे चले इस प्रकार भूतकाल मे क्यो कहा? वर्तमान को भूतकाल मे क्यो कहा?

इस शका का समाधान युक्ति से किया जाता है। शास्त्रकार का कथन है कि ऐसा न मानने से सारा व्यवहार ही बिगड जायगा और जब व्यवहार बिगड जायेगा तो आत्मिक क्रिया भी नष्ट होगी ही। कल्पना कीजिए एक आदमी कपडा बुन रहा है। कपडा बुनने मे अनक तार डालने पडेगे। तभी कपड़ा पूरा बुना जायेगा। इस प्रकार कपडा बुनने मे असख्यात

समय लगेंगे। यद्यपि अभी कपड़ा पूरा बुना नहीं गया है बुना जायेगा लेकिन बुनने के लिए एक तार डालने पर भी कपड़ा बुना गया कहलाता है। इस प्रकार वर्तमान की बात भी भूतकाल मे बतलाई जाती है। यह नित्य के लोक–व्यवहार मे हम देख सकते हैं। हम देखते हैं कि पहले समय मे जो तार बुना गया है उसी के आधार पर 'कपड़ा बुना गया' ऐसा कहा जाता है।

इस प्रकार का लोक–व्यवहार भी निराधार नहीं है। वस्त्र की उत्पत्ति एक क्रिया है। अन्यान्य क्रियाओ की भॉति इस क्रिया में भी असख्यात समय लगते हैं। अतएव बुनने की क्रिया मे जितने समय लगेंगे उनके प्रारम्भिक समय मे ही 'कपड़ा बुना गया' यह कहा जायगा। अगर ऐसा न कहा जाय न माना जाय तो फिर कहना होगा कि अन्यान्य तार डालने पर भी कपड़ा उत्पन्न नही हुआ। जैसे एक तार डालने पर वस्त्र बुना गया नही कहा जा सकता उसी प्रकार दो, तीन चार, दस बीस और सौ तार डालने पर भी बुना गया नही कहलाएगा। ऐसी स्थिति मे पहला तार डालने की क्रिया निरर्थक हुई इसी प्रकार आगे के तार डालना भी निरर्थक होगा और फिर सभी तार निरर्थक हो जाएँगे। तात्पर्य यह है कि यदि पहला तार डालने की क्रिया करने पर भी कपड़ा उत्पन्न नहीं हुआ तो कहना होगा कि तार डालने की क्रिया निष्फल गई । जो चीज बनानी है क्रिया करने पर भी अगर वह नहीं बनी तो यही कहना चाहिए कि क्रिया निष्फल हुई । मगर इस प्रकार की निष्फलता स्वीकार करने से बड़ी गड़बड़ी होगी। फिर अगले तार डालने की क्रिया भी निरर्थक होगी और इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक तार डालना जब निरर्थक हुआ तो कपड़ा बुना ही नही गया। इस प्रकार प्रत्यक्ष से विरोध उत्पन्न होगा।

कपडे मे पडने वाले तार पूरक हैं और कपडा पूर्य है। जो सूत एक ही गाठ मे बँधा है, उस सबका कपडा बनेगा। इसलिए सब धागो मे समान शक्ति है। चाहे जिस धागे को पहले डाला जाय, चाहे जिसे पीछे डाला जाय। अगर पहले तार के डालने पर कपडे को उत्पन्न न कहोगे तो पिछला तार डालने पर कपडे को उत्पन्न क्यो कहोगे? सभी तार एक ही गाठ के हैं और समान शक्ति वाले हैं, फिर उनमे यह भेद–भाव क्यो किया जाता है? अगर पहले वाले तार को अत मे डाला जाय और अत मे डाले जाने वाले तार को पहले ही डाला दिया जाय तब तो कपड़े को उत्पन्न हुआ मानने मे कोई आपत्ति न होगी? अतिम तार डालने से ही अगर कपड़ा उत्पन्न हुआ कहलाता है तो अतिम तार को पहले ही डाल देने पर कपडा उत्पन्न हुआ ऐसा मानने मे आनाकानी नही होनी चाहिए। क्योकि आप अतिम तार से ही कपडे का उत्पन्न होना स्वीकार करते हैं। अगर इतने पर भी कपडे को उत्पन्न हुआ न मानो तो फिर दुराग्रह ही कहलाएगा। इस दुराग्रह के कारण क्रिया मे निरर्थकता आएगी। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पहला, दूसरा और तीसरा तार डालने से भी कपडा उत्पन्न हुआ है। अतएव यह मानना उचित है कि पहला धागा डालने से भी वस्त्र किचित उत्पन्न हुआ है। अगर ऐसा न माना जायगा तो फिर कभी भी वस्त्र उत्पन्न हुआ नही कहलाएगा।

यह हुआ तार की अपेक्षा वस्त्र को उत्पन्न माना जाना। काल की अपेक्षा भी यही बात मानना युक्ति सगत है। कपडा उत्पन्न करने मे जो काल लगता है उसके तीन स्थूल विभाग किये जा सकते हैं–प्रथम प्रारभकाल दूसरा मध्यकाल और तीसरा अतिम काल। अगर कपड़े के प्रारभकाल मे उसे उत्पन्न हुआ न माना जायेगा तो मध्यकाल और अतिमकाल मे उत्पन्न हुआ क्यो माना जायेगा? तीनो काल समान हैं और तीनो कालो मे वस्त्र उत्पन्न होता है– किसी एक काल मे नही । जैसे प्रारभकाल मे कपड़ा बना उसी प्रकार मध्यकाल मे भी और उसी प्रकार अतिमकाल मे भी। फिर क्या कारण है जिससे प्रारभ और मध्य के काल मे कपडे को उत्पन्न हुआ न मानकर अतिम काल मे ही उत्पन्न हुआ माना जाय?

प्रारभकाल मे एक तार डालने पर कपडे का एक अश उत्पन्न हुआ है या नही? अगर यह कहा जाय कि एक अश भी उत्पन्न नही हुआ तो इस का अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार सारा समय समाप्त हो गया और वस्त्र उत्पन्न नही हुआ। क्योकि जैसे प्रारभ काल मे उत्पन्न कपडे के अश का अनुत्पन्न माना जाता है उसी प्रकार मध्यकाल मे भी अनुत्पन्न मानना होगा

और अन्तिम काल मे भी एक अश ही उत्पन्न होता है इसलिए उस समय मे भी वस्त्र को उत्पन्न होना नहीं माना जा सकेगा। ऐसी स्थिति मे वस्त्रोत्पादक की सम्पूर्ण क्रिया और सम्पूर्ण समय व्यर्थ हो जायगा। इस दोष से बचने के लिए यह मानना ही उचित है कि आरम्भ काल मे भी अशत वस्त्र की उत्पत्ति हुई है।

तात्पर्य यह है कि जैसे एक तार पड जाने से ही वस्त्र का उत्पन्न होना मानना युक्ति सगत है उसी प्रकार कर्मो की उदय–आवलिका असख्यात समय वाली होने से पहले समय मे जो कर्म उदय–आवलिका मे आने के लिए चले है उन कर्मो की अपेक्षा उन्हे चला कहा जाता है। अगर ऐसा न माना जायगा तो जो कर्म उदय–आवलिका मे आने के लिये चले हैं उन कर्मो की चलन क्रिया वृथा हो जायेगी। और यदि प्रथम समय मे कर्मो का चलना नही माना जायगा तो फिर दूसरे तीसरे आदि समयो मे भी उनका चलना नही माना जा सकेगा। क्योकि पहले समय मे और पिछले समय मे कोई अतर नही है। जैसे पहले समय मे कुछ ही कर्म चलते हैं सब नही उसी प्रकार पिछले समय मे भी कुछ ही कर्म चलते हैं–सब नही। (क्योकि बहुत से कर्म पहले ही चल चुके हैं और जो थोडे से शेष रहे थे वही अतिम समय मे चलते हैं) इस प्रकार सब समय समान हैं। किसी मे कोई विशेषता नही है। अत प्रथम समय मे अगर कर्म चले ऐसा न माना जाय तो फिर किसी भी समय मे उनका चलना न माना जा सकेगा। इसलिए जिस प्रकार अतिम क्रिया से कर्म चले मानते हो उसी प्रकार प्रथम क्रिया से भी कर्म चले ऐसा मानना चाहिए।

कर्म की स्थिति परिमित है। चाहे वह अन्तर्मुहूर्त्त की हो या सत्तर कोड़ाकोडी सागरोपम की हो, लेकिन है परिमित ही। परिमित स्थिति वाले कर्म अगर उदय मे नही आवेगे तो उनका परिमितपन मिट जायगा और सारी व्यवस्था भग हो जायेगी। कर्मस्थिति की मर्यादा है और उस मर्यादा के अनुसार कर्म उदय आवलिका मे आते ही हैं। उदय–आवलिका मे आने के लिए सभी कर्म एक साथ नहीं चलते हैं प्रत्येक समय मे उनका कुछ अश ही चलता है। प्रथम समय मे जो कर्माश चला है उसकी अपेक्षा कर्म को 'चला' न माना जायगा तो प्रथम समय की क्रिया और वह समय व्यर्थ होगा। अतएव चलमान कर्म को चलित मानना ही उचित है। इसके सिवाय जो कर्मदल प्रारभ मे उदय आवलिका के लिए चला है वह अन्त मे फिर चलता नही है। अतएव इस समय यह कर्माश चला है और इस समय यह कर्माश चला है ऐसा मानने से ही कर्मो के चलने का क्रम रह सकता है। एक कर्मदल दूसरे कर्मदल से स्वतत्र होकर चलता है। अतएव प्रथम समय मे जो कर्मदल चला है उसके आधार पर 'चला' मानना युक्तिसगत है।

यह पहला प्रश्न और उसके सम्बन्ध का समाधान हुआ। दूसरा प्रश्न यह है कि–

उदीरिज्जमाणे उदीरिए?

अर्थात्– जो उदीरा जा रहा है वह उदीर्ण हुआ?

कर्म दो प्रकार से उदय मे आते हैं। कोई कर्म अपनी स्थिति परिपक्व होने पर उदय मे आता है और कोई कर्म उदीरणा से। किसी विशेष काल मे उदय होने योग्य कर्म को जीव अपने अध्यवसाय विशेष से स्थिति का परिपाक होने से पूर्व ही उदयावलिका मे खीच लाता है। इस प्रकार नियत समय से पहले ही प्रयत्न विशेष से किसी कर्म का उदय–आवलिका मे आ जाना 'उदीरणा' है। कर्म की उदीरणा मे भी असख्यात समय लगते हैं। परन्तु पहले समय मे उदीरणा होने लगी तो उदीर्ण हुआ कहना चाहिए। ऐसा न कहा जाय तो वही सब गडबड़ी होगी जिसका उल्लेख 'चलमाणे चलिए' के सम्बन्ध मे किया जा चुका है।

कई लोग कहते है कि कर्म जिस रूप मे बँधे है उसी रूप मे भोगने पडते है। दूसरी तरह से उनका नाश नही हो सकता। लेकिन ऐसा मान लेने पर तप आदि क्रियाएँ व्यर्थ हो जाएँगी। जब तप करने पर भी कर्म उदय मे आवेगा और तप न करने पर भी उदय मे आवेगा तो तप करने से क्या लाभ है? अतएव यह कथन समीचीन नही है कि कर्म का नाश दूसरे प्रकार से नही

हो सकता। स्थिति परिपक्व होने पर कर्म का उदय होना और हाय-हाय करके उन्हे भोगना यह तो अनादिकाल से चला आ रहा है। लेकिन कर्मों की उदीरणा करके उन्हे उदय-आवलिका मे ले आने से फिर कर्म नही बधते।

कुछ लोगो को यह भ्रम है कि आत्मा और कर्म का सबन्ध अनादि काल का है। अनादिकालीन होने से वह अनत काल तक रहना चाहिए। इस प्रकार कर्मो का नाश हो ही नहीं सकता। यह छिछोरों की बात है। ज्ञानी जनो ने इस विषय मे सत्य वस्तु तत्त्व प्रकट किया है। ज्ञानियो का कथन है कि कर्म और आत्मा का सबध प्रवाह की अपेक्षा अनादि होने पर भी व्यक्ति की अपेक्षा सादि है। अर्थात प्रत्येक कर्म किसी न किसी समय आत्मा मे बॅधता है अतएव सभी कर्म सादि हैं फिर भी कर्म सामान्य की परम्परा सदैव चालू है इस दृष्टि से वह अनादि है।

प्रवाह या परम्परा किसे कहते हैं? मान लीजिये, आप यमुना के किनारे खड़े होकर उसकी धारा देख रहे हैं धारा देखकर आप साधारणतया यह समझते हैं कि वह एक सी है इसमे वही पहले वाला पानी है लेकिन बात ऐसी नही है। धारा का जल प्रतिक्षण आगे-आगे बढता जाता है। एक मिनिट पहले जो जल आपने देखा था। वह चला गया है और उसकी जगह दूसरा नया जल आ पहुँचा है। इस प्रकार पहले वाले जल का स्थान दूसरा जल ग्रहण करता रहता है। इसी कारण धारा टूटती नजर नहीं आती और ऐसा जान पडता है मानो वही जल मौजूद है। लेकिन जैसे पानी ऊपर से आता न हो तो धारा खडित हो जायगी उसी प्रकार नये कर्म न आवे तो कर्मो की परम्परा भी विच्छिन्न हो जायेगी तात्पर्य यह है कि प्रतिक्षण अपूर्व-अपूर्व कर्म आते रहते हैं और इस प्रकार का कर्म प्रवाह अनादिकाल से चल रहा है।

हाँ तो कर्म स्थिति पूर्ण होने पर भी उदय-आवलिका मे आते है और उदीरणा से भी आते हैं। मान लीजिये आपको किसी का ऋण चुकाना है। आप दो तरह से ऋण चुका सकते हैं। एक तो आप नियत समय से पहले ही अदा कर दे। नियत समय पर कर्ज चुकाने मे कोई विशेषता नही है, मगर समय से पहले ही चुकाने मे गौरव है और आनन्द है। इसी प्रकार कर्म एक तो उदय की स्थिति पर भोग जाते हैं। और दूसरे स्थिति के पूर्व की उदीरणा करके क्षय किये जाते हैं।

है। जो कर्म करोडो भव करने पर भी नही छूटते वे कर्म धर्माग्नि, ध्यानाग्नि और तप की अग्नि मे एक क्षण भर मे भस्म किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रदेशी राजा को देखिए। उसने ऐसे घोर कर्म बॉधे थे कि एक एक नरक मे अनेक–अनेक बार जाने पर भी सब कर्म पूरे न भोगे जावे। उसने निर्दयता से प्राणियो की हिसा की थी। वह अपने मत की परीक्षा के लिए चोरो को कोठी मे बद कर देता था और कोठी को चारो ओर से ऐसी मूँद देता था कि कही हवा का प्रवेश न हो सके। वह मानता था कि जीव और काय एक है अलग नहीं। इसी बात को देखने के लिए वह ऐसा करता था। अगर जीव और शरीर अलग–अलग होगे तो चोर के मरने पर भी जीव दिखाई देगा। कोठी एकदम बद है तो जीव निकलकर जायेगा कहॉ? कई दिनो बाद वह चोर को कोठी से बाहर निकालता। चोर मरा हुआ मिलता। राजा प्रदेशी कहता – देखो, काया के अतिरिक्त आत्मा अलग नहीं है। यहा अकेला शरीर ही दिखाई दे रहा है।

कभी–कभी प्रदेशी राजा किसी चोर को चीर डालता और उसके टुकडे–टुकडे करके आत्मा को देखता था। जब आत्मा दिखाई न देता तो अपने मत का समर्थन हुआ समझता और कहता कि शरीर से अलग आत्मा नही है। तात्पर्य यह कि प्रदेशी राजा घोर हिसक था और महान् पाप करता था।

जो आत्मा अज्ञान अवस्था मे घोर पाप करता है, ज्ञान होने पर वही किस प्रकार ऊँचा उठ जाता है, इसके लिए प्रदेशी का उदाहरण मौजूद है।

धन धन केशी सामजी, सारया प्रदेशी ना काम जी।

केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा को समझाया तब वह जीव और शरीर को अलग–अलग मानने लगा। पहले वही प्रदेशी लोगो की आजीविका छीन लेता था। और साधु सन्तों के प्राण लेने मे सकोच नही करता था। चित नामक प्रधान ने केशी स्वामी से प्रार्थना की कि –महात्मन! आप सिताम्बिका नगरी मे पदार्पण कीजिये। वहा अतीव उपकार होने की समावना है। वहा के लोग बड़े धर्मात्मा हैं। वे बहुत प्रेम से आपका उपदेश सुनेगे। तब केशी श्रमण ने उत्तर दिया– हे चित्त! एक सुन्दर बगीचा है। उसमे तरह–तरह के फल लगे हैं। अत्यन्त आनन्द दायक वह बगीचा है। बताओ ऐसे उद्यान मे पक्षी आना चाहेगा कि नही?

चित्त–'क्यो नही महाराज! अवश्य आना चाहेगा।

केशी श्रमण– लेकिन उस उद्यान में एक पारधी धनुष चढ़ाकर पक्षियों को मार डालने के लिए उद्यत खड़ा है। ऐसी दशा में क्या कोई पक्षी जायेगा?

चित्त– अपने प्राण गँवाने कौन जायेगा?

केशी श्रमण–इसी प्रकार सिताम्बिका नगरी उद्यान की भाँति सुन्दर है किन्तु वहाँ का राजा प्रदेशी हम साधुओं के लिए पारधी के समान है। वह साधुओं के प्राण लिए बिना नहीं मानता। वह अपने अज्ञान से साधुओं को अनर्थ–की जड़ समझता है। ऐसी दशा में तुम्हीं बताओ हमारा वहाँ जाना उचित होगा?

चित्त–भगवन आपको राजा से क्या प्रयोजन? उपदेश तो वहाँ की जनता सुनेगी।

चित्त की बात सुनकर केशी श्रमण ने सोचा–आखिर चित्त वहाँ का प्रधान है। इसका आग्रह है तो जाने में क्या हानि है? सम्भव है राजा भी सुधर जाए। परीषह और उपसर्ग आएंगे तो हमारा लाभ ही होगा–कर्मों की विशेष निर्जरा होगी।

शास्त्र मे कहा है कि उसने समभाव धारण किया। इस प्रकार प्रदेशी ने अपने इन कर्मो का नाश कर दिया।

राजा प्रदेशी ने हती सूरीकन्ता नार।
इष्टकान्त वल्लभ धणी सरे शास्तर मे अधिकार।
निज स्वारथ वश पापिणी सरे, मार्यो निज भर्तार।

राजा प्रदेशी की सूरीकान्ता नाम की रानी थी। राजा को वह बहुत प्यारी थी। राजा ने जब केशी श्रमण के बारह व्रत धारण कर लिए और वह धर्मात्मा बन गया, तब सूरी–कान्ता ने सोचा–राजा धर्म के ढोग मे पडा रहता है। विषय भोग का आनन्द बिगड गया है। इसे मरवा कर और कुॅवर को राजसिहासन पर बिठलाकर राजमाता होने का नवीन सुख क्यो न भोगा जाय?

इस पकार दुष्ट सकल्प करके रानी ने अपने पुत्र सूरीकान्त को बुलवाया। रानी ने उससे कहा– बेटा तुम्हारा पिता ढोगियो के चक्कर मे पडकर राज्य को मटियामेट किये देता है। थोडे दिनो मे ही सफाया हो जायेगा। तब तुम क्या करोगे। अतएव अपने भविष्य को देखो और अपना भला चाहते हो तो राजा को इस ससार से उठा दो। मैं तुम्हे राजा बनाऊॅगी।

राजकुमार को अपनी माता का वचन जहर सा लगा। उसने पिता को मारने से इन्कार कर दिया मन ही मन सोचा तुम मेरे देव–गुरु के समान पिता को मार डालने को कहती हो। तुम माता हो तुमसे क्या कहूॅ? कोई दूसरा होता तो इस बात का ऐसा मजा चखाता कि वह भी याद रखता।

राजकुमार के चले जाने पर रानी ने सोचा यह बहुत बुरा हुआ। मुॅह से बात भी निकल गई और काम भी सिद्ध न हुआ। कही राजकुमार ने यह बात प्रकट करदी तो घोर अनर्थ होगा। मैं कही की नही रहॅूगी। अतएव बात फूटने से पहले ही राजा को मार डालना ही श्रेयस्कर है।

ऐसा भीषण सकल्प करके रानी पौषधशाला मे जहॉ राजा मौजूद था आई उसने राजा के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा–आप तो बस यही के हो गये हैं? किस अपराध के कारण मुझे भुला दिया है? आपके लिये तो और रानियॉ भी तो हो सकती हैं मगर मेरे लिए आपके सिवाय और कौन है? अतएव आज कृपा करके मेरे ही महल मे पधारिये और वही भोजन कीजिये।

राजा ने सोचा–स्त्री सुलभ पति भक्ति से प्ररित हो कर रानी उलाहना और निमत्रण दे रही है। उसने रानी के महल मे भोजन करना स्वीकार किया। रानी अपने महल मे लौट आई। उसने राजा के लिए विषमिश्रित भोजन बनाया।

जल में भी विष मिलाया और आसन आदि पर भी विष का छिड़काव किया। इस प्रकार विष ही विष फैलाकर रानी ने राजा को भोजन करने के लिए बैठाया और राजा के सन्मुख विषमिश्रित भोजन–पानी रख दिया। रानी पति–भक्ति का दिखावा करने के लिए खडी होकर पखा झलने लगी। ज्यो ही राजा ने भोजन आरभ किया उसे मालूम हो गया कि भोजन मे विष का मिश्रण किया गया है वह चुपचाप उठ कर पौषधशाला मे आ गया।

राजा किस प्रकार अपने कर्मों की उदीरणा करता है, यह ध्यान देने की बात है। इसे ध्यान से सुनिये और विचार कीजिए।

पौषधशाला मे आकर राजा विचारने लगा–रानी ने मुझे जहर नही दिया है। मैंने रानी के साथ जो विषयभोग किया है, यह जहर उसी के प्रताप से आया है।

यद्यपि प्रदेशी राजा चढे हुए जहर को उतार सकता था और रानी को दड भी दे सकता था, लेकिन जिन्हे कर्म की उदीरणा करनी होती है वे दूसरे की बुराइयो का हिसाब नहीं लगाते।

राजा प्रदेशी सोचने लगा–हे आत्मन्! यह विष तुझे नहीं मिला है, किन्तु तेरे कर्म को मिला है। तूने जो प्रगाढ कर्म बाधे हैं उन्हे नष्ट करने के लिए इस जहर की जरूरत थी। मैंने जीव और शरीर को अलग–अलग समझ लिया है। यह स्पष्ट हो रहा है कि यह जहर आत्मा पर नहीं शरीर पर अपना असर कर रहा है। आत्मा तो वह है कि–

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत ।।2/23
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ।।गीता–2/24

अर्थात– आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती। आत्मा छिदने योग्य नहीं है, सडने–गलने योग्य नही है सूखने योग्य नहीं है। वह नित्य है प्रत्येक शरीर मे रहता है स्थायी है अचल है और सनातन है।

राजा प्रदेशी सोचता है– हे आत्मा! यह विष तुझे मार नहीं सकता यह तेरे कर्मों को ही काट रहा है। इसलिए चिन्ता न कर। तू बैठा–बैठा तमाशा देख।

मित्रो! इसका नाम प्रशस्त परिणाम है। इसी से कर्मों की उदीरणा होती है। ऐसा परिणाम उदित होने पर कर्मों की ऐसी दशा होती है जैसे उन्हें जहर ही दे दिया गया हो।

राजा ने फिर सोचा–प्रिये! तू ने खूब किया। मेरे कर्मो को अच्छा जहर दिया। तू ने मेरी बडी सहायता की। ऐसा न करती तो मुझ मे उत्तम भावना न आती। पतिव्रता के नियमो का पालन तू ने ही किया है।

राजा ने प्रमार्जन प्रतिलेखन तथा आलोचना आदि करके अरिहत–सिद्ध भगवान की साक्षी से सथारा धारण कर लिया।

उधर रानी के हृदय मे अनेक सकल्प–विकल्प उठने लगे। उसने सोचा ऐसा न हो कि राजा जीवित रह जाए। अगर ऐसा हुआ तो भारी विपदा मे पडना पडेगा। अतएव इस नाटक की पूर्णाहुति करना ही उचित है। इस प्रकार सोचकर वह राजा के पास दौडी आई और प्रेम दिखलाती हुई कहने लगी– मैंने सुना आपको कुछ तकलीफ हो गई है?

राजा ने रानी से कुछ भी नही कहा। वह चुपचाप अपने आत्म चिन्तन मे निमग्न रहा। ससार का असली स्वरूप उसके सामने नाचने लगा। तब रानी ने राजा का सिर अपनी गोद मे ले लिया। और अपने सिर के लम्बे–लम्बे बालों से उसका सिर ढ़ॅक लिया । इस प्रकार तसल्ली करके चारो और निगाह फेरकर उसने राजा का गला दबोच दिया।

रानी ने जब अपने पति का राजा का गला दबाया तो वह सोचने लगा रानी मेरा गला नही दबा रही है मेरे शेष कर्मो का नाश कर रही है।

राजा प्रदेशी ने इस प्रकार कर्मो की उदीरण की। इस उदीरणा के प्रताप से वह सूर्याभ विमान मे देव हुआ। उदीरणा ने उसे नरक का अतिथि होने से बचा लिया और स्वर्ग–सुख का अधिकारी बनाया। राजा प्रदेशी ने अल्पकालीन समाधिभाव से ही अपना बेड़ा पार कर लिया। अगर वह दूसरे का हिसाब करने बैठता तो ऐसा न होता।

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने उदीरणा के प्रताप से न जाने कितने भवो का पाप क्षय करके आत्मा को हल्का बना लिया। इस प्रकार उदीरणा के द्वारा करोडो भवो मे भोगने योग्य कर्म क्षण भर मे ही नष्ट किये जा सकते है। दूसरा प्रश्न इसी उदीरणा के सबध मे है।

गौतम स्वामी ने तीसरा प्रश्न किया–

वेइज्जमाणे वेइए?

अर्थात् जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया?

आत्मा को सुख–दुख होना यही कर्म वेदना है। जब कर्म की स्थिति पूर्ण हो जाती है तब वे उदय–आवलिका मे आते हैं। मान लीजिए किसी ने तीस क्रोडाक्रोडी सागरोपम की स्थिति वाले कर्म बाधे। जब तक वह

स्थिति काल पूर्ण न हो जायेगा तब तक वह कर्म फल नही देगे -सत्ता मे विद्यमान रहगे। जब यह काल पूर्ण हो जायगा। तब कर्म उदय–आवलिका म आवेगे। उदय–आवलिका मे आये हुए कर्मो के फल को भोगना निर्जरा कहलाता हे क्योकि फल भोग के पश्चात कर्म खिर जाते है। जब तक कर्मो की निर्जरा नही होती तभी तक कर्म भोगने पडते है। और जब तक कर्म भोगने पडते है तभी तक वेदना है। जब तक कर्म उदय–आवलिका मे नही आये थे तब तक वेदना नही थी और जब कर्म की निर्जरा हो जाती है तब भी उस कर्म की वेदना नही होगी। जब कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार सुख या दुख दगे वह वेदना काल कहलाएगा। अर्थात् कर्म के फलस्वरूप दुख या सुख का अनुभव होना वेदना है।

कर्म–वेदना दो प्रकार से होती है–(1) स्थिति के क्षय से और (2) उदीरणा से। यद्यपि वेदना दोनो तरह से होती तथापि जैसे समय पर कर्ज चुकाने म और समय से पहले ही महाजन को बुलाकर कर्ज चुकाने म अन्तर होता है। एसा ही अन्तर स्थिति क क्षय होने पर कर्म भोगने मे और उदीरणा करक कर्म भागन म हे। यद्यपि दाना अवस्थाआ म कर्ज चुकाना पडता है लकिन बुलाकर चुकाने म जिस प्रसन्नता से कर्ज चुकाया जाता हे उस प्रसन्नता स समय पूरा हान पर तकाजा हान पर नही चुकाया जाता। यही बात दाना प्रकार क कर्म भाग म भी है।

वदना किस प्रकार भागी जाती है इत्यादि विचार बहुत लम्बा है और विस्तृत विवचन की अपक्षा रखता हे। अतएव यहाँ उसका विचार नही किया जाता ।

यद्यपि वदना क समय असख्यात हैं लकिन एक ही समय म जो वदना हान लगी उस वदना हुई एसा मानना चाहिए।

गौतम स्वामी का चौथा प्रश्न है –

पहिज्जमाणे पहीणे?

युक्तियॉ प्रत्येक प्रश्न के सबध मे लागू होती हैं। उनका सबध सब के साथ जोड लेना चाहिए।

गौतम स्वामी का पॉचवा प्रश्न है–

छिज्जमाणे छिन्ने?

अर्थात– जो छेदा जा रहा है वह छिदा ऐसा कहा जा सकता है? छिज्जमाणे का अर्थ है वर्तमान काल मे जिसका छेदन किया जा रहा है। कर्म की दीर्घ काल की स्थिति को अल्पकाल की स्थिति मे कर लेना छेदन करना कहलाता है। यद्यपि कर्म वही है लेकिन उसकी स्थिति को कम कर लेना छेदन है। उदाहरणार्थ– एक मनुष्य बारह वर्ष के लिए जेल गया। लेकिन राजा के यहॉ पुत्र जन्म होने से या कोई अच्छा काम करने से कैद की मियाद घटा भी दी जाती है। इसी प्रकार कर्म की स्थिति बहुत है, लेकिन अपवर्त्तना नामक करण द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर लेना उसका छेदन करना कहलाता है।

उपकरण, उपाय या साधन को करण कहते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र मे करण के दो भेद बतलाए गये हैं। पहला भेद है उपकर्म अर्थात वस्तु को ज्यादा बना लेना। दूसरा भेद वस्तु–विनाश है यानि बहुत दिन टिकने वाली चीज को बिगाड़ देना या कम कर देना। तात्पर्य यह है कि जिस करण के द्वारा बहुत दिन टिकने वाली वस्तु बिगाड़ दी जाती है–कम कर दी जाती है वह वस्तुविनाशकरण है और जिसके द्वारा वस्तु ज्यादा बनाई जाती है वह उपकर्म करण कहलाता है।

करण के प्रकारान्तर से दो भेद हैं–(1) उद्वर्त्तनाकरण और (2) अपवर्त्तनाकरण। इनमे से अपवर्त्तनाकरण के द्वारा कर्म की स्थिति कम की जाती है। इस करण द्वारा स्थिति का कम हो जाना ही कर्म का छेदन करना कहलाता है।

अपवर्त्तना करण द्वारा होने वाली कर्म छेदन की इस क्रिया मे भी असख्यात समय लगते है मगर जो छीज रहे हैं उन्हे छीजे कहना चाहिए। अर्थात छिद्यमान को छिन्न कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का छठा प्रश्न है–

भिज्जमाणे भिण्णे?

अर्थात– जो भेदा जा रहा है वह भेदा गया ऐसा कहना चाहिए?

शुभ कर्म को अशुभ रूप मे और अशुभ को शुभ रूप मे परिणत करना कर्म का भेदन करना कहलाता है। जैसे कच्चा आम स्वाद मे खट्टा होता है

मगर उसे ठीक तरह रखकर पका लिया जाय तो मीठा हो जाता है। आम में यह मिठास ही बाहर से नहीं आती यह आम का भिद्यमान होना है। इसी आम को ज्यादा देर तक दबा रक्खा जाय तो वह सड जाता है। जैसे आम में नाना अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार कर्म मे भी अनेक अवस्थाएँ उत्पन्न ओर विनिष्ट होती रहती हैं। मान लीजिए किसी जीव ने शुभ कर्मो का बंध किया लेकिन बाद मे ऐसा कुछ हो गया कि वे शुभ कर्म अशुभ हो गये। इसी प्रकार अशुभ कर्म उपकरण द्वारा शुभ हो गये। ऐसा होना कर्म का भिद्यमान होना कहलाता है। तात्पर्य यह है कि बुरे का अच्छा हो जाना और अच्छे का बुरा हो जाना भेदन करना कहलाता है।

बंधे हुए कर्मो मे तीन प्रकार से भेदन होता है रसघात स्थिति घात और प्रदेशघात। तीव्र रस को मंद रस मंद रस को तीव्र रस रूप परिणत करना अल्पकालीन स्थिति को दीर्घकालीन करना और दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करना बहुत प्रदेशो को अल्प प्रदेश रूप और अल्प प्रदेशो को बहुत प्रदेश रूप मे परिणत करना यह सब कर्मो का भिद्यमान होना है। यह भेदन रस प्रदेश और स्थिति तीनो मे होता है।

कर्म मे यह परिवर्तन कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे राजा प्रदेशी का हुआ था और जैसे कुण्डरीक तथा पुण्डरीक का हुआ था। प्रदेशी का वृत्तांत बतलाया जा चुका है। कुण्डरीक ने हजार वर्ष तक तपस्या करके शुभ कर्म उत्पन्न किये थे। लेकिन तीन दिन के पाप से वे शुभ कर्म भिद्यमान होकर अशुभ हो गये। मगर उसी के भाई पुण्डरीक ने हजार वर्ष तक राज्य करके जो अशुभ कर्म बाँधे थे वे तीन दिन की तपस्या से शुभ कर्म के रूप मे परिणत हो गये। करण की विशेषता कर्मो मे इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देती है। यह शुभ या अशुभ विशेषता उत्पन्न होना ही कर्म का भिद्यमान होना कहा जाता है। कर्म भेदन की इस क्रिया मे असंख्यात समय लगते हैं मगर प्रथम समय मे जो भिद्यमान हो रहा है उसे भेदा गया कहना चाहिए।

के साथ जो कर्म परमाणु लगे हुए हैं और सुख–दुख देने वाले कर्म कहलाते हैं उन्हे ध्यान रूपी प्रज्वलित अग्नि से फिर पुद्गल रूप बना देना अर्थात उन्हे अकर्म के रूप मे पहुँचा देना दग्ध करना कहा जाता है।

ध्यान की अग्नि से भस्म किये हुए कर्म फिर भोगने नही पडते। ध्यान – अग्नि से भस्म हुए कर्म कर्म ही नही रहते अकर्म रूप पुद्गल बन जाते हैं।

ध्यान रूपी अग्नि से कर्म को अकर्म रूप परिणत करने मे दग्ध करने मे, अन्त मुहूर्त्त काल लगता है इतने ही समय मे ध्यान के परम [illegible] कर्मभस्म हो जाते हैं मगर इस अन्त मुहूर्त्तकाल मे भी असख्यात समय होते हैं इन असख्यात समयो मे से पहले समय मे जब कर्म दग्ध होने लगते हैं तो उन्हे दग्ध हुए कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का आठवॉ प्रश्न है –

मिज्जमाणे मडे?

ठीक यही बात मृत्यु के संबध मे है। जीव ने जितने आयुकर्म के दलिक बाँधे हैं उनमे से थोडे-थोडे प्रतिक्षण उदय मे आकर क्षीण हो जाते हैं और आयुकर्म के दलिको का क्षीण होना ही मृत्यु कहलाता है। अगर यह कहा गया जिस समय समस्त आयुकर्म के दलिक क्षीण हो जाते है उसी समय मृत्यु होती है तो यह कथन ठीक नहीं क्योकि समस्त आयुकर्म के दलिक किसी भी समय क्षीण नही होते। अंतिम समय मे वे ही आयु के दलिक क्षीण होते है जो पहले क्षीण होने से बच रहते हैं-समस्त नही। मतलब यह है कि अंतिम समय मे भी जब समस्त दलिक क्षीण नही होते शेष रहे हुए कुछ दलिक ही क्षीण होते हैं और पहले भी कुछ दलिक क्षीण हुए हैं तो क्या कारण है कि अंतिम समय मे मृत्यु होना माना जाय और पहले (जीवित अवस्था मे) न माना जाय? आयु कर्म का क्षीण होना ही मृत्यु है। अतएव प्रतिक्षण मृत्यु मानना ही युक्ति संगत है। अगर प्रति क्षण मरना न माना जायगा तो जीव कभी नही मरेगा।

गौतम स्वामी का नवमा प्रश्न है -

निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे?

अर्थात - जो निर्जरता है वह निर्जीर्ण हुआ ऐसा माना जाय?

साधारणतया फल देने के पश्चात् कर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है किन्तु यहा निर्जरा का अर्थ मोक्ष प्राप्ति रूप है। कर्म फिर कभी कर्म रूप से उत्पन्न न हो उसे निर्जरमान कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करने वाले जो महापुरुष कर्मों की निर्जरा करते हैं उनके निर्जीर्ण कर्म फिर कभी कर्म रूप से उन्हे उत्पन्न नहीं होते। उन्हे फिर कभी कर्मों का भोग ना नही पडता। इस प्रकार कर्मों का आत्यन्तिक क्षीण होना यहा निर्जरा कही गयी है।

भगवान के उत्तर

श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी के समक्ष ये नौ प्रश्न किये। इन प्रश्नो के उत्तर मे भगवान ने फरमाया–

मूल–हत्ता गोयमा! चलमाणे चलिए, जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे।

सस्कृत छाया– हन्त गोतम! चलन चलित यावन्निर्जीर्यमाणे निर्जीर्ण।

–हॉ गौतम! जो चलता है वह चला से लेकर जो निर्जर रहा है वह निर्जरा ऐसा कहना चाहिए।

व्याख्या–भगवान महावीर के सामने गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किये है। इनके सबध मे एक तर्क किया जा सकता है। वह यह है–गौतम स्वामी के विषय मे यह प्रसिद्ध है कि वे द्वादशागी के प्रणेता है। भगवती सूत्र भी इसी द्वादशागी के अन्तर्गत है और इसकी आदि मे गौतम स्वामी प्रश्न करत है। यह कैसे सभव है? इसके अतिरिक्त प्रत्येक समझने और समझाने योग्य विषय को गौतम स्वामी सम्यक प्रकार से समझते हैं। उन्हे सर्वाक्षर सन्निपाती कहा गया है। ऐसी अवस्था मे उन्हे तो कोई सशय रहना ही नही चाहिए। फिर उन्होने भगवान से उक्त प्रश्न क्यो किये है? शास्त्रानुसार गौतम स्वामी केवली नही तथापि केवली सरीखे है और सब शास्त्रो के ज्ञाता है। शास्त्र म जिनकी इतनी महिमा बतलाई गई है वे इस प्रकार के प्रश्न क्यो करत हैं?

यद्यपि यह प्रश्न श्रोताओ के मस्तिष्क मे उत्पन्न होना चाहिए था। लेकिन ऐसा नही हुआ। अतएव वक्ता आप ही प्रश्न खडा करके उसका समाधन करता है।

छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ होने के कारण ज्ञान मे कुछ कमी रहती है। जिसके ज्ञान मे कुछ कमी न हो वह छद्मस्थ ही कैसा? अतएव छद्मस्थ के लिए कुछ भी अनाभोग न रहे यह सभावना नही की जा सकती। ज्ञान को ढँकने वाला ज्ञानावरण कर्म छद्मस्थता के कारण विद्यमान रहता है। अगर छद्मस्थ म अज्ञान की जरा भी मात्रा नही है तो फिर ज्ञानावरण ने किसे ढँक रक्खा है? ज्ञानावरण कर्म क्या व्यर्थ है? नहीं। जब ज्ञानावरण कर्म है तो किन्ही अशा म अज्ञान भी अवश्य है। ऐसी अवस्था म गौतम स्वामी ने अगर भगवान महावीर से प्रश्न किये तो क्या आश्चर्य की बात है?

एक बात और है। यह नियम नहीं कि अनजान ही प्रश्न करे जानकार न करे। जो जानता है वह भी प्रश्न कर सकता है। कदाचित् गौतम स्वामी इन प्रश्नो का उत्तर जानते भी हो तब भी प्रश्न करना सभव है। आप पूछ सकते है कि जानी हुई बात पूछने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है – उस बात पर अधिक प्रकाश डलवाने के लिए अपना बोध बढाने के लिए। अथवा जिन लोगो को प्रश्न पूछते सकोच होता है या पूछना नही आता या जिन्हे इस विषय म विपरीत धारणा हो रही है उनके लाभ के लिए उन्हे यथार्थ बोध कराने के लिए गौतम स्वामी ने ये प्रश्न पूछे है। भले ही गौतम स्वामी उन्हे स्वय समझाने म समर्थ होग तथापि भगवान के मुखारविन्द से निकलने वाला प्रत्येक शब्द विशेष प्रभावशाली और प्रामाणिक होता है इस विचार से उन्होने भगवान के द्वारा ही इन प्रश्नो का उत्तर प्रकट करवाया है।

केशी स्वामी को स्वय कोई सदेह नही था लेकिन शिष्यो का सन्देह हरण करने के लिए गौतम स्वामी से उन्होने प्रश्न किये थे। उन प्रश्नो का रूप ऐसा है मानो उन्हे स्वय ही सदेह हो और स्वय ही प्रश्न करते हो।

साहू गोयम पण्णा ते छिण्णो मे ससओ इमो।।
अण्णोवि ससओ मज्झ त मे कहसु गोयमा।।उत्त 23/28

अर्थात्– हे गौतम! आपने मेरा यह सशय तो दूर कर दिया लेकिन

का उतना महत्त्व न समझ पाये, लेकिन सच्चा तत्त्व–जिज्ञासु इन वचनों को अमृत समझता है और इनका पान करके अपने आपको कृतार्थ समझता है। एक जगह किसी कवि ने कहा है–

ते न यहा नागर बडे जिन्ह नयननि तव आब।
फूल्यो अनफूल्यो रह्यो, गँवई गाँव गुलाब ।।

आज श्रेणिक कामदेव और आनन्द जैसे जिज्ञासु श्रोता नही रहे इसी कारण इन वचनो का सम्मान कम है। यह लोग साधु तो क्या श्रावक से भी इन वचनो को सुनकर आनन्द की हिलोरो मे उतराने लगते थे। यह लोग गुलाब के पानी की चाह करने वाले नागरिको के समान थे। जो गँवार है उन्हे गुलाब की कद्र का क्या पता? वे उसे कटीला वृक्ष समझकर काट फैंकेगे।

तात्पर्य यह है कि गौतम स्वामी जानते हुए भी अनजानो की वकालत करने के लिए अपने ज्ञान मे विशदता लाने के लिए शिष्यो को ज्ञान देने के लिए और अपने वचन मे प्रतीति उत्पन्न करने के लिए यह सब प्रश्न कर सकते हैं।

अपने वचन मे प्रतीति उत्पन्न करने का अर्थ यह है कि मान लीजिए किसी महात्मा ने किसी जिज्ञासु को किसी प्रश्न का उत्तर दिया। लेकिन उस जिज्ञासु को यह सदेह उत्पन्न हुआ कि इस विषय मे भगवान न मालूम क्या कहते? उसने जाकर भगवान से वही प्रश्न पूछा। भगवान ने वही उत्तर दिया। श्रोता को उन महात्मा के वचनो पर प्रतीति हुई। इस प्रकार अपने वचनो की दूसरो को प्रतीति कराने के लिए भी स्वय प्रश्न किया जा सकता है।

इसके सिवाय सूत्र–रचना का क्रम गुरु–शिष्य के सवाद मे होता है। अगर शिष्य नही होता तो गुरु स्वय शिष्य बनता है इस तरह सुधर्मा स्वामी इस प्रणाली के अनुसार भी गौतम स्वामी और भगवान महावीर से प्रश्नोत्तर करा सकते है। यद्यपि निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि गौतम स्वामी ने उक्त कारणो मे से किस कारण से प्रेरित होकर प्रश्न किये थे तथापि यह निश्चित है इन प्रश्नो के सबध मे उक्त तर्क को स्थान नही है। तर्क निर्मूल है।

भगवान ने उत्तर मे जो 'हन्ता' शब्द कहा है उसका अर्थ आमत्रण या सबोधन करना है और 'हॉ' भी है।

प्रश्न–'हता गोयमा!' इतना कहने से ही गौतम स्वामी के प्रश्नो का उत्तर हो जाता है। फिर भगवान ने 'चलमाणे चलिए जाव निज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे' इतने शब्द क्यो कहे हैं?

श्री

इस निराशा को रोकने का सर्वश्रेष्ठ साधन यही है कि फल की आशा ही न की जाय। 'न रहेगा बास न बजेगी बासुरी' आशा ही न होगी तो निराशा कहाँ से आएगी? आशा ही निराशा की जननी है। सफलता के लिए आशा त्याग की अनिवार्य आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से जैन शास्त्रो मे निदान शल्य को त्याज्य कहा है और इसीलिए गीता मे भी निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य? त्रायते महतो भयात्।

अर्थात–स्वल्प सा धर्म होने पर भी अपना कल्याण हुआ समझ घबरा मत उसी से तुझे निर्भयता प्राप्त होगी।

काल के हिस्से के हिस्से करने पर अन्त मे 'समय हाथ आता है। लकडी के दो चार आठ आदि टुकडे करते करते आखिर कभी न कभी यह होगा कि अब और टुकडे नही हो सकते। जिस टुकडे के फिर टुकडे नही हो सकते वह अतिम टुकडा परमाणु कहलाता है। इसी प्रकार काल के जिस अश के विभाग नही हो सकते वह अतिम विभाग समय कहलाता है।

प्रश्न हो सकता है कि स्वल्प धर्म होने पर ही कल्याण समझ लेने से बस हो गया इस तरह की निराशा क्यो नही उत्पन्न होगी? इसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति स्वल्प धर्म का भी महान फल देखता है वह आग के धर्म को कैसे भूलेगा? कलकत्ता की ओर एक डग भरने वाले के सबध मे भी कहा जाता है कि वह कलकत्ता गया कहते है मगर ऐसा कहने से वह जाने वाला अगर कलकत्ता जाने से रुक जाय तो मूर्ख गिना जायगा। जब कलकत्ता की ओर एक पैर भरने से ही कलकत्ता गया कहते है तो अधिक पैर भरने से क्या वह कलकत्ता से दूर होगा? थोडा सा उद्योग सफल होता देखकर हिम्मत नही हारनी चाहिए। सोचना चाहिए कि यह थाडी सी क्रिया भी निष्फल नही है तो अधिक क्रिया निष्फल कैसे हो सकती है? तब आरभ किये हुए कार्य को आगे बढाने से क्यो रोका जाय? चाह धर्म हो या राज्नीति सर्वत्र यह बात लागू होती है। ऐसा विचार करने वाला कभी निराश नही होगा बल्कि उसमे नई स्फूर्ति और नया उत्साह उत्पन्न होगा और वह आग बढता हुआ अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त करेगा।

कई लोग कहते हैं–'खादी पहनने से स्वराज्य नही मिलेगा किन्तु तलवार से मिलेगा। कुछ का कहना हैं–एक आदमी के विलायती वस्त्र और शराब छोड देने से क्या कल्याण होगा?

सर्वप्रथम पृथ्वी का उपकार हैं जो पृथ्वी का उपकार नही मानता वह कृतघ्न है।

सुना जाता है कि अमेरिका के थौर नामक डाक्टर के शरीर पर सॉप रेगते रहते हैं लेकिन उसे नही काटते। मधु–मक्खियॉ उसके शरीर पर बैठती रहती हैं। लेकिन उसे नही काटती। उसने भारतीय साहित्य का अध्ययन करके योग द्वारा साधना की है। एक बार वह अपने शिष्य के साथ जगल मे गया। शिष्य ने डाक्टर से पूछा–सब भूमियो मे कौन सी भूमि उत्तम है? डाक्टर थौर ने हॅसकर उत्तर दिया– जिस भूमि पर तू दो पैर रखकर खडा है उसे स्वर्ग की भूमि से भी अच्छी न माने तो तुझे उस पर पैर रखने का क्या अधिकार है? शिष्य ने कहा–क्या यह भूमि स्वर्ग की भूमि से भी अधिक महिमा वाली है? सुनते हैं स्वर्ग की भूमि रत्नमयी है फिर इस भूमि को स्वर्ग भूमि से बडी क्यो मानना चाहिए? डाक्टर ने उत्तर दिया–स्वर्ग की भूमि चाहे जैसी हो तेरे किस काम की? वहॉ के कल्पवृक्ष तेरे किस काम के? स्वर्ग की भूमि को बडा मानना तेरा जिस भूमि ने भार वहन किया और कर रही है उसका अपमान करना है। इस भूमि का अपमान करना घोर कृतघ्नता है। अपनी मातृभूमि का अपमान करने वाले के समान कोई नीच नही है।

सच्चे हृदय से सेवा करने वाली घर की स्त्री का अनादर करके वेश्या की प्रशसा करने वाला जैसे नीच गिना जाता है वैसे ही वह व्यक्ति भी नीच है जो भारत मे रहकर अमेरिका फ्रास आदि की प्रशसा करता है और भारतवर्ष की निन्दा करता है। अमेरिका और फ्रास की प्रशसा के गीत गाने वाले बिना पास पोर्ट लिए वहॉ जाकर देखे और वहॉ की नागरिकता के अधिकार प्राप्त करे तो सही। जिस देश मे पैदा हुए हैं उसकी निन्दा करके दूसरे देश की प्रशसा करने वाले गिरे हुए है भोग का कीडा है उससे किसी प्रकार का उद्देश्य सिद्ध नही हो सकता।

तात्पर्य यह है कि भोगो की लालसा से प्रेरित होकर आत्मिक कार्यो को छोड देना यही गुलामी है यही बधन है और इसीसे विविध प्रकार के दु:खो का उद्गम होता है।

भोगमय कपडे छोडकर त्याग को अपनाने वाले के लिए मुक्ति भी समीप है। भोगमय वस्त्रो का त्याग आनन्द श्रावक ने भी तो किया था। उसने कपास के बने एक युगलपट क्षोमवस्त्र का आगार रखकर शेष समस्त वस्त्रो का त्याग कर दिया था। क्या इस त्याग को मोक्ष का मार्ग न मानोगे? इस प्रकार भोगमय वस्त्रो का त्याग कर हम अपने आत्मा का भी कल्याण कर

न करें? इन पापमय भोगी कपड़ो का त्याग करना सामायिक का अंग क्यों न कहा जाय? बारह व्रत सामायिक के अंग हैं अतएव इन वस्त्रों का त्याग भी सामायिक है। त्याग द्वारा अपने भाइयों पर अनुकम्पा करना धर्म है। त्याग को जीवन में जितना स्थान मिलेगा जीवन उतना ही कल्याणमय होगा।

एकार्थ–अनेकार्थ

श्री गौतम स्वामी के प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत नौ प्रश्नो का उत्तर भगवान महावीर ने दिया। तत्पश्चात गौतम स्वामी भगवान के प्रति पुन प्रश्न करते है।

मूल–एएण भते! नव पया कि एगट्ठा? णाणा घोसा? णाणा वजणा? उदाहु णाणाट्ठा? णाणा घोसा? णाणा वजणा?

गौयमा! चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए वेइज्जमाणे वेइए पहिज्जमाण पहीणे, एएण चत्तारि पया एगट्ठा णाणा घोसा णाणा वजणा उप्पण्णपक्खस्स। छिज्जमाणे छिण्णे भिज्जमाणे भिण्णे दड्ढमाणे दड्ढेमिज्जमाणे मडे निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे एए ण पच पया णाणट्ठा णाणा घोसा णाणा वजणा विगयपक्खस्स।

–एतानि भगवन! नव पदानि किमेकार्थानि नानाघोषाणि नानाव्यञ्जनानि उताहो नानार्थानि नानाघोषाणि नानाव्यञ्जनानि?

गौतम! चलत चलितम उदीर्यमाणमुदीरितम वेद्यमान वेदितम प्रहीयमाण प्रहीणम् एतानि चत्वारि पदानि एकार्थानि नाना घोषाणि नानाव्यञ्जनानि उत्पन्नपक्षस्य। छिद्यमान छिन्नम भिद्यमान भिन्नम दह्यमान दग्धम म्रियमाण मृतम निर्जीर्यमाण निर्जीर्णम एतानि पचपदानि नानार्थानि नाना घोषाणि नानाव्यञ्जनानि विगतपक्षस्य।

मूलार्थ–भगवन! यह नौ पद क्या एक अर्थ वाल नाना घोष वाल और नाना व्यजन वाले है? अथवा नाना अर्थ वाले नाना घोष वाल और नाना व्यजन वाले है?

हे गौतम! जो चल रहा है वह चला जो उदीरा जा रहा है वह उदीरा गया जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया जो नष्ट हो रहा है वह नष्ट हुआ यह चार पद उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एक अर्थ वाले नाना घोष वाले और

नाना व्यंजना वाले हैं। तथा जो छिद रहा है वह छिदा जो भिद रहा है वह भिदा जो जल रहा है वह जला जो मर रहा है वह मरा जो गिर रहा है वह गिरा यह पाँच पद विगत पक्ष की अपेक्षा से नाना अर्थ वाले नाना घोष वाले और नाना व्यंजना वाले हैं।

व्याख्यान– गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि इन नौ पदों के घोष और व्यंजन तो निराले-निराले हैं ही परन्तु अर्थ भी इनका निराला निराला है या एक ही? अर्थात यह पद एकार्थक हैं या नानार्थक हैं?

एकार्थक पद दो प्रकार के होते हैं–प्रथम तो एक ही विषय की बात को एकार्थक कहते हैं दूसरे जिन पदों का मतलब एक हो उन्हें भी एकार्थक कहते हैं।

घोष तीन प्रकार के होते हैं-(1) उदात्त– जो उच्च स्वर से बोला जाय (2) अनुदात्त जो नीचे स्वर से बोला जाय और (3) स्वरित-जो न विशेष उच्च स्वर से न विशेष नीचे स्वर से बल्कि मध्यम स्वर से बोला जाए। इस विषय का विशेष ज्ञान स्वर-विज्ञान को समझने से हो सकता है।

शास्त्रकार ने एकार्थक और नानार्थक की एक चौभंगी बताई है–

(1) समानार्थक समान व्यंजन

(2) समानार्थक विविध व्यंजन

(3) भिन्नार्थक समान व्यंजन

(4) भिन्नार्थक भिन्न व्यंजन

कई पद समान अर्थ वाले और समान व्यंजन एवं समान घोष वाले होते हैं। जैसे क्षीर-क्षीर। इन दोनों पदों का अर्थ एक है घोष भी एक है और व्यंजन भी एक ही है। अतएव यह पद समानार्थक समान व्यंजन वाले पहले भंग के अन्तर्गत हैं।

अनेक पद ऐसे होते हैं जिनके व्यजन भी भिन्न–भिन्न होते हैं। और अर्थ भी भिन्न–भिन्न होता है। जैसे –घट पट, लकुट आदि। यहाँ न व्यजनो की समानता है न अर्थ की समानता है। यह पद चौथे भग के अन्तर्गत हैं।

गौतम स्वामी ने प्रश्न करते हुए यहाँ चौभगी के दूसरे और चौथे भग को ग्रहण किया है। अर्थात् उन्होने इन दो भगो को लेकर ही प्रश्न किया है। प्रश्न किया जा सकता है कि गौतम स्वामी ने उक्त चौभगी के प्रथम और तृतीय भग को क्यो छोड दिया? उनके विषय मे प्रश्न क्यो नही किया? इसका उत्तर यह है कि पहले और तीसरे भग का इन नौ पदो मे समावेश नही होता,क्योकि नव पदो के व्यजन भिन्न--भिन्न हैं यह स्पष्ट रूप से प्रकट है। इसमे प्रश्न को अवकाश ही नही है। इसी कारण गौतम स्वामी ने प्रथम और तृतीय भग को छोड कर दूसरे और चौथे भग को ग्रहण करके ही प्रश्न किया है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने फरमाया है कि–चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए वेइज्जमाणे वेइए और पहिज्जमाणे पहीणे इन चार पदो के व्यजन और घोष निराले–निराले हैं लेकिन अर्थ एक ही है। और आगे के पाँच पद भिन्न घोषो वाले, भिन्न व्यजनो वाले और भिन्न अर्थ वाले हैं।

यहा यह आशका होती है कि चलमाणे चलिए इत्यादि जिन चार पदो को एक अर्थ वाला बतलाया गया है उनका अर्थ भिन्न भिन्न प्रतीत होता है और पहले भिन्न–भिन्न अर्थ किया भी गया है। ऐसी स्थिति मे भगवान ने किस अपेक्षा मे चारो पदो का अर्थ एक फरमाया है?

इस सबध मे शास्त्रकार का कथन है कि जो भी बात कही जाती है वह किसी न किसी अपेक्षा से ही कही जाती है। यहा चारो पदो को उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एकार्थक बतलाया गया है।

वादी और प्रतिवादी के द्वारा बोला जाने वाला आदि वचन पक्ष कहलाता है। यहा इन चारो पदो को उत्पाद नामक पक्ष पर्याय को ग्रहण करके एक अर्थ वाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक चार पदो का अर्थ उत्पाद पर्याय की अपेक्षा एक ही अर्थ है और यह चारो एक ही काल मे होने वाले है एक ही अन्तर्मूहुर्त मे चलन–क्रिया उदीरणा–क्रिया वेदना–क्रिया और प्रहीण क्रिया भी हो जाती है। इन चारो की स्थिति एक ही अन्तर्मुहूर्त है। इस प्रकार तुल्य काल की अपेक्षा से भी यह चार पद एक अर्थ वाले कहलाते है।

अथवा—यह चारो पद एक ही कार्य को उत्पन्न करने के कारण एकार्थक कहलाते हैं। उदाहरणार्थ—पत्र लिखने में कागज कलम दवात और लिखने वाला यह चार हुए मगर यह सब मिलकर एक ही कार्य के साधक होते हैं अतएव एकार्थक हैं।

यह चारो मिल कर एक कार्य कौन-सा करते हैं जिस की अपेक्षा से इन्हे एकार्थक कहा गया है? इस प्रश्न का उत्तर है—केवलज्ञान का प्रकट करना। यह चारो मिलकर केवलज्ञान को प्रकट करने रूप एक ही कार्य के कर्त्ता होने से एक ही अर्थ वाले कहलाते हैं।

इन नौ पदो मे कर्म का विचार किया गया है और कर्म का नाश होने पर दो फल उत्पन्न होते हैं—पहला केवल ज्ञान और दूसरा मोक्षप्राप्ति। पहले के चार पदो ने मिलकर केवलज्ञान उत्पन्न किया। इस पक्ष की अपेक्षा चारो पदो का अर्थ एक बतलाया गया है।

आत्मा के लिए केवलज्ञान की प्राप्ति अपूर्व है। आत्मा को पहले कभी केवलज्ञान प्राप्त नही हुआ क्योकि केवलज्ञान एक बार उत्पन्न होने के पश्चात कभी मिटता नही है। जो वस्तु आकर फिर जाती है वह प्रधान नही है। प्रधान तो वही है जो आकर फिर कभी न जावे। केवलज्ञान ऐसी ही वस्तु है अतएव प्रधान है। प्रधान पुरुष इसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

शका—इन चार पदो से केवलज्ञान की ही उत्पत्ति क्यो मानी गई है? दूसरे ज्ञानो की उत्पत्ति क्यो नही मानी गई?

समाधान—सब ज्ञानो मे केवलज्ञान ही उत्कृष्ट है। वही क्षायिक ज्ञान है। कर्मो का क्षय होने से ही वह उत्पन्न होता है। इन चारो पदो से अन्य ज्ञानो की उत्पत्ति मानी जाय तो अनेक बाधाएं उत्पन्न होती हैं। अत इन पदो से केवलज्ञान की उत्पत्ति मानना ही समुचित है। और इसी अपेक्षा से इन चार पदो को समान अर्थ वाला बतलाया गया है।

होने से पहले ही उदय में लाये जाते हैं, उसे उदीरणा कहते हैं। दोनो ही जगह उदय तो समान ही है मगर एक जगह स्थिति का परिपाक होता है और दूसरी जगह नहीं। उदय या उदीरणा होने पर कर्म की वेदना होती है अर्थात कर्म के फल का अनुभव होता है।

जिस कर्म के फल का अनुभव हो गया वह कर्म नष्ट हो जाता है– आत्मा के प्रदेशो से पृथक् हो जाता है। उसे कर्म का पहीण होना कहते हैं।

इस प्रकार यह चारो पद आत्म प्रदेशो से कर्मो को हटा देते हैं तब केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान के इस उत्पन्न पक्ष को ग्रहण करके ही इन चारो पदो को एकार्थक कहा है।

टीकाकार आचार्य का कथन है कि यह व्याख्या भगवती सूत्र की प्राचीन टीका के आधार पर की गई है। अन्य आचार्यो का अभिप्राय इस सबध मे भिन्न प्रकार का है। उनका कथन है कि यह चार पद स्थितिबध विशेष रहित अर्थात सामान्य कर्म के आश्रित होने से एकार्थक हैं और केवलज्ञान की उत्पत्ति के साधक हैं। एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में यह केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए व्यापार करते हैं। अतएव इन्हे एकार्थक कहा गया है।

प्रश्न–पहले के चार पदो को एकार्थक बतलाने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि शेष अत के पॉच पद अनेकार्थक हैं। फिर उन्हे अलग अनेकार्थक क्यो कहा है ?

उत्तर–सूत्र की रचना दो प्रकार से होती है–एक विद्वत्तापूर्वक दूसरी दयापूर्वक। विद्वत्तापूर्वक जो रचना होती है उसमे सक्षेप का बहुत ध्यान रखना पड़ता है। वही अर्थ कायम रहे और रचना मे एक मात्रा की कमी हो जाय तो ऐसे लेखको को इतनी खुशी होती है मानो पुत्र की उत्पत्ति हुई हो। एक मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा यह कथन प्रसिद्ध है। मगर ऋषियो की रचना इस दृष्टि से नही रची जाती। वे अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए रचना मे सक्षेप करने की आवश्यकता नही समझते। अल्प से अल्प बुद्धि वाला भी जिस प्रकार वस्तु तत्त्व को समझ सके उसी प्रकार का यत्न वे करते हैं। चाहे अक्षर बढ जाऍ। यही कारण है कि शास्त्रकार ने पहले के चार पदो को एकार्थक बतलाकर भी अत के पाच पदो को अलग अनेकार्थक बतलाया है।

तात्पर्य यह कि 'छिज्जमाणे छिण्णे' से लगाकर 'निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे' तक पाच पद भिन्न–भिन्न व्यजन वाले विभिन्न घोष वाले और

भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं। यह बात विगत पक्ष की अपेक्षा से कही गई है। यहा इन पाच पदो का जरा विस्तार से विचार किया जाता है।

अंतिम पाच पदो मे छिज्जमाणे छिण्णे यह प्रथम पद है। यह पद कर्मो की स्थिति की अपेक्षा से है। केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के अनन्तर तेरहवे गुणस्थान वाले सयोग केवली जब अयोग केवली होने वाले होते हैं मन वचन काय के योग को रोक कर अयोगी अवस्था मे पहुँचने के उन्मुख होते हैं तब वेदनीय नाम गोत्र कर्म की जो प्रकृति शेष रहती है उसकी लम्बी लम्बी स्थिति को सर्वापवर्तन नामक करण द्वारा अन्तर्मुहूर्त की स्थिति बना लेते हैं। अर्थात लम्बी स्थिति को छोटी कर लेते हैं। यही कर्मो का छेदन करना कहलाता है।

यद्यपि कर्मो का यह छेदन असख्यात समयों मे होता है लेकिन प्रथम समय मे ही जब छेदन क्रिया होने लगी तभी छीजे-छिन्न हुए ऐसा कहना चाहिए।

यद्यपि कर्मो का यह छेदन होने मे और भेदन होने म अन्तर है। छेदन स्थिति बध के आश्रित है और भेदन अनुभागबध के आश्रित है। स्थिति का छेदन होना छिज्जमाण होना कहलाता है और कर्मो के रस का भेदन करना भिज्जमाण होना कहलाता है। तेरहवे गुणस्थानवर्ती सयोगी केवली स्थितिघात के साथ रसघात भी करते हैं।

स्थितिघात और रसघात का काल एक ही होता है लेकिन स्थितिघात के खडक मे रसघात के खडक अनन्त होते हैं। अर्थात स्थिति से कर्म के परमाणु अनन्त गुण हैं। स्थिति खड की क्रम रचना होती है कि इस समय इतने स्थिति खड का नाश होगा। अतएव यद्यपि कर्म स्थिति और कर्म रस का नाश एक ही समय होता है लेकिन स्थितिघात के पुद्गल अलग हैं और रसघात के अलग हैं इस कारण छिज्जमाण और भिज्जमाण पदो का अर्थ अलग-अलग है।

मोक्ष प्राप्त करने वाले महात्मा किस स्थिति से किस प्रकार आत्मिक विशुद्धि करके मुक्त होते हैं। इस बात को ज्ञानियो ने अपने ज्ञान मे देखा है और आज शास्त्र द्वारा उसे सुनकर हम पवित्र हुए हैं।

प्रदेश का अर्थ है–कर्म का दल। पॉच स्व अक्षर उच्चारण–काल जितने परिमाणवाली और असख्यात समययुक्त गुण श्रेणी की रचना द्वारा कर्म प्रदेश का क्षय किया जाता है। यद्यपि वह गुणश्रेणी है सिर्फ पॉच स्व अक्षर उच्चारण काल के बराबर काल वाली है, लेकिन इतने से काल मे ही असख्यात समय हो जाते हैं। वह गुणश्रेणी पूर्वरचित होती है। तेरहवे गुणस्थान से ही उस गुणश्रेणी की रचना होती है। इस गुणश्रेणी से समुच्छिन्न क्रिया नामक शुक्लध्यान का चौथा पाया उत्पन्न होती है। उसमे पहले समय से असख्य समय तक प्रतिसमय असख्य गुणा वृद्धि से कर्म पुदगल को दग्ध किया जाता है। अर्थात पहले समय मे जितने कर्म पुदगल दग्ध होते हैं उससे असख्यात गुणे दूसरे समय मे दग्ध होते हैं। इसी प्रकार तीसरे समय मे दूसरे समय की अपेक्षा भी असख्यात गुणे कर्मो को दग्ध किया जाता है इस प्रकार दग्ध करने का क्रम बढता जाता है। इसका कारण यह है कि ज्यो–2 कर्म पुदगल दग्ध होते हैं त्यों त्यो ध्यानाग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है और वह अधिकाधिक कर्मपुद्गलो को दग्ध करती है।

इस प्रकार भिद्यमान और दह्यमान पदो का अर्थ भी अलग–अलग है। पॉच स्व अक्षर उच्चारण करने मे असख्यात समय लगते हैं। इन असख्यात समयो मे से पहले ही समय मे जो कर्मपुद्गल दग्ध होते हैं उनकी अपेक्षा उन्हे दग्ध हुए ऐसा कहा जा सकता है।

यद्यपि जला देना दूसरी वस्तुओ के सबध मे भी लोक प्रसिद्ध है किन्तु यहॉ उसे ग्रहण नही करना चाहिए। यहॉ मोक्ष विचार का प्रकरण है अत कर्मो को जलाना अर्थ ही मानना उचित है।

चौथा पद है–'मिज्जमाणे मडे। अर्थात जो मर रहा है वह मरा। इस पद से आयु कर्म के नाश का निरूपण किया गया है। अन्य पदो से इस पद का अर्थ भिन्न है। आयु कर्म के पुदगलो का क्षय करना ही मरण है।

प्रत्येक योनि वाला ससारी जीव मरण को प्राप्त करता है। ससार मे कोई भी ऐसा प्राणी नही है जिसे लगातार जन्म–मरण न करना पडता हो। लेकिन यहा सामान्य मरण से अभिप्राय नही है। यहॉ उस मरण से तात्पर्य है कि जिसके पश्चात फिर कभी जन्म मरण न करना पडे– अर्थात वह मरण जो मोक्ष प्राप्त करने से पहले एक बार करना पडता है। पहले बंधे हुए

आयुकर्म का क्षय हो जाय और नया आयु कर्म न बंध पाए। मरण का कारण है।

यद्यपि मरण असंख्यात समय मे होता है लेकिन पहले समय मे ही जो मरने लगा उसे मरा कहा जा सकता है।

पॉचवा पद है– णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे। समस्त कर्मों को अकर्म रूप मे परिणत कर देना यहाँ निर्जरा करना कहा गया है। यह स्थिति संसारी जीव ने कभी नही प्राप्त की है। उसने कभी शुभ कर्म किये कभी अशुभ कर्म किये परन्तु समस्त कर्मों का नाश कभी नही किया। आत्मा के लिए यह स्थिति अपूर्व है। अतएव इस पद का अर्थ अन्य पदो से भिन्न है। इस प्रकार अन्त के पॉच पद भिन्न भिन्न अर्थ वाले हैं।

शंका– पहले के जिन चार पदो को एकार्थक कहा है उनमे भी काम अलग अलग हुआ है। और अन्त के जिन पॉच पदो को भिन्नार्थक कहा है उनमे भी काम अलग अलग हुआ है। ऐसी स्थिति मे चार को एकार्थक कहकर इन पाच पदो से और पॉच पदो को भिन्नार्थक कहकर पूर्ववर्ती चार पदों से अलग क्यो किया गया है?

उत्तर–पूर्ववर्ती चार पदो से केवलज्ञान की उत्पत्ति रूप एक ही कार्य हुआ है अतः उन्हे एकार्थक कहा है और पिछले पॉच पद विगत पक्ष की अपेक्षा भिन्न अर्थ वाले कहे गये हैं। 'विगत' का अर्थ है विनाश। वस्तु की एक पर्याय का नाश होकर दूसरी पर्याय होना विनाश है– अर्थात एक अवस्था से दूसरी अवस्था होना विनाश होना कहलाता है। एकान्त नाश किसी वस्तु का नही हो सकता क्योकि कोई भी पदार्थ सत से असत नही हो सकता। इस प्रकार वस्तु विनाश की अपेक्षा से पाच पदो को भिन्नार्थक माना गया है। इनकी भिन्नार्थकता इस प्रकार है–

व्याख्या से हो गया कि केवलज्ञान की उत्पत्ति और समस्त कर्मों के क्षय रूप मोक्ष का क्रम प्रतिपादन करने के लिए इन नौ पदो की चर्चा की गई थी। केवलज्ञान और मोक्ष दोनों ही परम मागलिक हैं। अतएव आरम मे इनकी चर्चा करना असगत नही है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के विषय मे प्रसिद्ध है कि उन्होने राजा विक्रमादित्य को बोध दिया था। कहते हैं कल्याणमन्दिर उन्ही की रचना है। इन आचार्य ने सम्मति तर्क नामक ग्रन्थ की भी रचना की है। उसमे आचार्य ने 'चलमाणे चलिए।' इत्यादि सूत्र को पुष्ट करते हुए कहा है–

उप्पज्जमाण काल उप्पण्ण विगयय विगच्छन्त।
दविय पण्णवयतो, तिकाल विसय विसेसेइ।।

अर्थात– उत्पद्यमान कालिक (वर्तमान कालीन) द्रव्य को उत्पन्न कालिक(भूतकालीन) तथा विगच्छत्त कालिक (वर्तमान कालीन) द्रव्य को विगत कालिक (भूत कालीन) प्ररूपण करने वाले भगवान ने द्रव्य को त्रिकाल विषयक प्रतिपादन किया है। तात्पर्य यह है कि वस्तु अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय से अतिम समय तक उत्पद्यमान होती है अत एव 'उत्पद्यमान पद से वर्तमान और भविष्य काल विषयक वस्तु का प्रतिपादन किया है और 'उत्पन्न पद से भूतकालीन वस्तु का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार विगच्छत पद से और विगत पद से तीनो कालो का निरूपण समझना चाहिए। इस तरह 'चलमाणे चलिए' आदि पदो से भगवान ने यह सूचित किया है कि वस्तु तीनो कालो मे विद्यमान रहती है।

श्रीसिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि 'चलमाणे' इस कथन से वर्तमान काल और भविष्यकाल का बोध होता है। अतएव गौतम स्वामी भगवान स प्रश्न करते है कि द्रव्य भूतकाल मे भी होगा या नही?

आरम्भिक क्रिया से लेकर अन्तिम समय की क्रिया तक वर्तमान और भविष्य का बोध होता है और 'उत्पन्न' कहकर भगवान ने भूतकाल का बोध कराया है। इस प्रकार पूर्वोक्त नौ पदो से यह सिद्ध होता हे कि द्रव्य भूत वर्तमान और भविष्य तीनो कालो मे विद्यमान रहता है। इस प्रकार इन पदो मे कर्म की चर्चा होने पर भी द्रव्य की चर्चा का भी समावेश हो जाता है।

किसी किसी आचार्य का अभिप्राय यह है कि इन नो पदो के विषय मे शास्त्र मे कही ऐसा उल्लेख नही है कि यह पद कर्म के विषय मे ही कहे गये है। ऐसी स्थिति मे इन्हे कर्म के सम्बन्ध मे ही मानने का कोई कारण नही

है। अतएव इन्हें कर्म के विषय में सीमित न रखकर वस्तु मात्र के विषय में लागू करना चाहिए।

पहले के चार पद उत्पत्ति के सूचक हैं और अन्त के पाँच पद विनाश के सूचक हैं। इन्हें प्रत्येक वस्तु पर घटाया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु उत्पाद और विनाश से युक्त है। मगर प्रश्न यह है कि इन्हें सामान्य रूप से [illegible] पर कैसे घटाया जा सकता है? इस व्याख्या में पहले के चार पद [illegible] नाना घोष वाले और एकार्थक का हिसाब कैसे बैठेगा?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे आचार्य कहते हैं कि हमारे अर्थ में [illegible] नाना घोष और एक अर्थ घटाने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि [illegible] में उत्पत्ति पक्ष और विगत पक्ष को स्पष्ट कर दिया है। नौ पदों को [illegible] में कहने का कारण यही है।

पहला पद है—चलमाणे चलिए। यह चलन अकेले कर्म में नहीं वरन् [illegible] में पाया जाता है। चलन का अर्थ है—अस्थिरता। अस्थिरता रूप [illegible] यहाँ पदार्थ की उत्पत्ति बतलाई गई है।

दूसरा पद है—उदीरिज्जमाणे उदीरिए। जो वस्तु स्थिर है उसे प्रेरणा [illegible] देने को उदीरणा कहते हैं। अतएव उदीरणा भी एक प्रकार की चलन क्रिया ही है।

तीसरा पद है—वज्जमाणे वेइए। वि उपसर्ग पूर्वक एज् धातु से व्यजन शब्द बना है। व्यजन का अर्थ है—काँपना। काँपना स्वरूप की अपेक्षा उत्पन्न होना ही है।

चौथा पद है पहिज्जमाणे पहीणे। अर्थात् जो प्रभ्रष्ट—भ्रष्ट हो रहा है वह भ्रष्ट हुआ। अपने स्थान से पतित होना गिर जाना भ्रष्ट होना कहलाता है। यह भी एक प्रकार की चलन क्रिया ही है। बिना चले कोई वस्तु अपने स्थान से गिर नहीं सकती इसलिए चलन है। इस प्रकार यह चारों पद उत्पादक ही हैं।

मे कर्म का भी समावेश हो जाता है तथा अन्य पदार्थों का भी समावेश हो जाता है मगर कर्म रूप विशेष पक्ष मे अन्य पदार्थो का समावेश नहीं होता है इसलिए सामान्य पक्ष ग्रहण करके इन पदो की व्याख्या करनी चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि शेष पॉच पदो की सगति किस प्रकार बिठलाई जायेगी? इस प्रश्न का समाधान यह है–

इन पॉच पदो का कर्म रूप विशेष पक्ष स्वीकार करके व्याख्यान किया गया है, मगर यह भी वास्तव मे सामान्य रूप ही है। कर्म को विशेष करने से यह पद विशेष हो गये हैं लेकिन वास्तव मे यह पद सामान्य हैं। 'छिज्जमाणे' आदि पद सामान्य रूप से क्रियावाचक हैं। छेदन चाहे कर्म का हो चाहे किसी अन्य वस्तु का सभी के लिए समान रूप से वह लागू हो सकते हैं इस प्रकार भेदन कर्म का भी होता है और अन्य वस्तुओ का भी। जलना मरना, जर्जरित होना आदि क्रियाएँ भी अकेले कर्मसे ही सबध नही रखती अपितु सभी से उनका सबध है। इससे यह स्पष्ट है कि यह पद भी सामान्य रूप ही है, विशेष रूप नही।

इन पदो को भिन्न अर्थ वाला क्यो कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि छेदन भेदन आदि भिन्न–भिन्न क्रियाएँ हैं जैसे कुल्हाडी से वृक्ष की शाखा को छेद डालना पृथक है और तीर से शरीर को भेद डालना पृथक् है। छेदन तो अलग अलग कर देता है और भेदन भीतर घुसने को कहते हैं इस प्रकार छेदन और भेदन मे अन्तर है। इसी प्रकार अग्नि से घास फूस को जलाना छेदन भेदन से पृथक् है। मरण–प्राण त्याग करने को अथवा वस्तु के बदल जाने को कहते है। अतएव यह भी छेदन भेदन और ज्वलन से भिन्न ही हुआ क्योकि जीव बिना छेदन–भेदन किये और बिना जलाये भी मर जाता है। अगर मरण इन क्रियाओ से भिन्न न होता तो ऐसा क्यो होता? इससे यह स्पष्ट हो जाता है। कि मरने की क्रिया पूर्वोक्त क्रियाओ से न्यारी है।

बहुत पुराने को जीर्ण कहते हैं। निर्जरना का अर्थ है–जर्जरित होना। पदार्थ बिना छेदे भेदे जलाये भी ऐसा जर्जरित हो जाता है कि दीखता तो है मगर हाथ लगाते ही बिखरने लगता है। अतएव निर्जीर्ण होना भी छेदन भेदन आदि से भिन्न समझना चाहिए। इस तरह उक्त पॉच पद भिन्नार्थक हैं। यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब यह पूछा जा सकता है कि विगत पक्ष का अर्थ क्या है? विगत का अर्थ है– विनाश होना। यह पांचो पद भिन्नार्थक है लेकिन विगत पक्ष का समावेश इन पाचो मे होता है। छेदन भेदन आदि से वस्तु का विनाश हो

नहीं है, कलकता सौ योजन दूर है। चला कम है और चलना अधिक है। ऐसी दशा मे उसे गया कैसे कहा जाय?

जो ऐसा प्रश्न करता है उसे व्यवहार का ज्ञान तो है पर निश्चय का ज्ञान नहीं है। ज्ञानी जन निश्चय नय की अपेक्षा जो कथन करते हैं उसका प्रश्नकर्ता को भान नही है। इस न जानी हुई बात को समझा देने का नाम ही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त और निश्चय नय की अपेक्षा चल रहे को चला कहना चाहिए।

व्यवहार नय की अपेक्षा जो कलकता जा रहा है उसे चलता माना जाता है गया नही माना जाता। निश्चयनय कहता है कि जो चलने लगा वह चला अर्थात जिसने गमन क्रिया आरभ कर दी वह गया ऐसा मानना चाहिए।

विशेषावश्यक भाष्य मे इस प्रश्न की विस्तार पूर्वक विवेचना की गई है। वहा जमाली के चलमाणे अचलिए इस मत पर विचार कर इसका सहेतुक खडन किया गया है। और चलमाणे चलिए इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है।

जो लोग यह कहते हैं कि मोक्ष की चर्चा ही तत्व है उन्हे यह भी समझना चाहिए कि क्या शास्त्र मे परमाणु की चर्चा काल की चर्चा क्षेत्र की चर्चा नही की गई है? अगर की गई है तो किस दृष्टि से? शास्त्र मे अगर पुण्य की बात कही है तो क्या पाप की बात नही कही है? बध का विवेचन है तो क्या निर्जरा का विवेचन नही है? शास्त्र मे सभी विषयो की यथोचित चर्चा है और ये सभी मोक्ष मे निमित्त होते हैं।

चलमाणे चलिए इस सिद्धान्त को स्वीकार न करने से अनेक दोष आते है। भगवती सूत्र मे आगे वर्णन आएगा कि गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया—प्रभो! एक मुनि भिक्षा—चर्या के लिए गया। मोहनीय कर्म के उदय से वहाँ उसे कोई दोष लग गया। दोष तो लग गया मगर बाद मे मुनि को पश्चात्ताप हुआ। उसने विचार किया कि मैं गुरु महाराज की सेवा मे उपस्थित होकर इस दोष की आलोचना करूगा। आलोचना करने का सकल्प करके उसने गुरु महाराज की सेवा मे प्रस्थान किया। किन्तु वहाँ पहुँचने से पहले ही मार्ग मे ही मृत्यु को प्राप्त हो गया ऐसी स्थिति मे दोष लगाने वाला वह मुनि आराधक कहलाएगा या नहीं?

भगवान ने उत्तर दिया—आराधक होगा।

है फिर आराधक कैसे हो गया?

भगवान ने फरमाया—चलमाणे चलिए अर्थात जो चलने लगा वह चला इस सिद्धान्त के अनुसार वह मुनि आराधक है। वह आलोचना करने चला मगर कार्य पूर्ण न हुआ तो यह उसके अधिकार की बात नहीं है।

अगर चलमाणे चलिए सिद्धान्त न माना जाय तो आराधक पद में भी कमी आ जाएगी और इस प्रकार मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

इस प्रकार निश्चय नय की अपेक्षा जो चलने लगा वह चला ऐसा मानना उचित है। लेकिन केवल निश्चय नय को ही मानकर बैठे रहने से और व्यवहार का त्याग कर देने से भी काम नहीं चल सकता। निश्चय और व्यवहार दोनों का यथायोग्य आश्रय लेना चाहिए। एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाला नय ही सम्यक होता है अन्य निरपेक्ष नय एकांत रूप होने से मिथ्या है। एकान्त व्यवहारवादी परमार्थ से दूर रहता है और एकान्त निश्चयवादी भी परमार्थ तक नहीं पहुंच सकता। इसीलिए कहा है—

निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत।

यहां एक शंका और होती है। वह यह कि चलमाण चलिए यह प्रश्न पहले क्या पूछा गया है? पहले इस शंका के विषय में कहा गया था कि यह पद मोक्ष के लिये है मगर अब तो वह मोक्ष के लिये नहीं रहा सामान्य रूप से सभी के लिए हो गया अतएव जहां पहले पद को मांगलिक कहा था। वहां अब यह मांगलिक न रहा तब फिर इस अमांगलिक पद को सर्वप्रथम स्थान देने का क्या प्रयोजन है?

इसका उत्तर दूसरे आचार्यों ने यह कह कर दिया है कि सर्वप्रथम नमो सुआय कहकर मंगल किया ही है, फिर बाद वाली सभी बातें मांगलिक ही होती हैं। इस चलमाण चलिए रूप तत्त्व जिज्ञासा का अंत मोक्ष है। अतएव यह पद भी मांगलिक ही है। इसमें मोक्ष प्राप्ति का विचार भी अन्तर्भूत हो जाता है।

मोक्ष की प्राप्ति जीव को ही होती। अतएव जीव का मूल स्वरूप समझ लेने पर ही मोक्ष का स्वरूप ठीक—ठीक समझ में आ सकता है। जीव का स्वरूप समझने के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि जीव कितने प्रकार के हैं। और वर्तमान में किस—किस स्थिति में हैं?

जीव के भेद बतलाने के लिए कहा गया है

नेरइया असुराई पुढवाई बेइंदियादओ चेव।
पंचिंदिय तिरिय नरा वितर जोइसिय वेमाणी।।

नय के मत के अनुसार जीव के चौबीस भेद हैं। इन चौबीस भेदो मे पहला दण्डक नारकी का है दस दण्डक असुर कुमार आदि के हैं पॉच दण्डक पृथ्वीकाय आदि के हैं तीन दण्डक दो–इन्द्रिय आदि के अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के हैं। एक दण्डक पचेन्द्रिय तिर्यच का है एक दण्डक मनुष्य का एक दण्डक व्यन्तर देवो का, एक दण्डक ज्योतिषी का और एक दण्डक वैमानिक का। इन चौबीस भेदो मे ही ससार के समस्त (अनन्तानन्त) प्राणियो का समावेश हो जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि अनन्तानन्त प्राणियो का चौबीस भेदो मे अन्तर्भाव करने का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब किसी वस्तु की गणना करना शक्य न हो तो वर्गीकरण का सिद्धान्त काम मे लाया जाता है। कल्पना कीजिए एक वन है। उसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे हैं। उन वृक्षो की गणना की जाय तो बडी ही कठिनाई उपस्थित होगी लेकिन उन्ही वृक्षो की कोटिया बना ली जाऍ तो सुगमता होगी। जब सख्यात की ही गणना करने मे कठिनाई आती है तो असख्यात की गणना किस प्रकार हो सकती है, यह सहज ही समझ मे आ सकता है। अतएव अनन्तानन्त जीवो का चौबीस श्रेणियो मे वर्गीकरण करने से उनका पता लग जाता है।

यहॉ यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी वस्तु को श्रेणी बद्ध करने के लिए कोई एक निश्चित नियम नही है। यह विभाजन की इच्छा पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। विभाजक अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी सदृश धर्म को आधार मानकर अभेद और विसदृश धर्म को आधार बनाकर भेद की कल्पना करता है, क्योकि वस्तुओ मे अनेक सदृश और विसदृश धर्म विद्यमान है। व्याख्या की सुगमता के लिए चौबीस भेदो की कल्पना की गई है यद्यपि इससे भी कम या अधिक की कल्पना की जा सकती है और अन्यत्र की भी गई है।

यहॉ इन चौबीस भेदो को दण्डक इसलिए कहा है कि इन स्थानो मे रहकर आत्मा ने घोर कष्ट सहन किये हैं। यह चौबीस दण्ड के स्थान हैं। अनादि काल से अब तक आत्मा इनमे निवास करके दण्ड भोग रहा है। यद्यपि इस जन्म मे कुछ सुख मिला है। लेकिन वह सुख स्थायी शान्ति देने वाला नही है अतएव इसे भी दण्डक कहा है। आत्मा ने नरक आदि पर्यायो मे रहकर किस प्रकार दुखमय स्थिति भोगी है। इस बात को दिखाने के लिए ही शास्त्रकारो ने नरक आदि के भेद दिखलाये हैं। उनका विवरण क्रम से आगे किया जायेगा।

नारकी जीवो का स्थित्यादि वर्णन

प्रश्न णेरइयाण भते! केवइय काल ठिई पण्णत्ता?

उत्तर- गोयमा! जहण्णेण दस वाससहस्साइ उक्कोसेण तेत्तिस सागरोवमाइ ठिई पण्णत्ता?

प्रश्न णेरइया ण भते! केवइ कालस्स आणमति वा? पाणमति वा? ऊससति वा? णीससति वा?

उत्तर- जहा ऊसासपए।

प्रश्न- णेरइया ण भते! आहारट्ठी?

उत्तर- जहा पण्णवणाए पढमाए आहारुद्देसए तहा भाणियव्व।

गाथा –

ठिई उस्सासाऽऽहारे कि वाऽऽहारेति सव्वओ वा वि।

कइभाग सव्वाणि व कीस व भुज्जो परिणमति।।

उत्तर– हे गौतम। जघन्य से दस हजार वर्ष की स्थिति कही है और उत्कृष्ट रूप से तेतीस सागरोपम की स्थिति कही है।

प्रश्न– हे भगवन्। नारकी कितने समय मे श्वास लेते हैं? और कितने समय मे श्वास छोडते हैं?

उत्तर–हे गौतम पन्नवणा सूत्र के उच्छ्वास पद के अनुसार समझना चाहिए।

प्रश्न–भगवन। नारकी आहारार्थी हैं?

उत्तर–हे गौतम। पण्णवणासूत्र के आहारपद के पहले उद्देशक के अनुसार समझना।

गाथार्थ–नारकी जीवो की स्थिति, उच्छ्वास तथा आहार सम्बन्धी कथना करना चाहिए। नारकी क्या आहार करते हैं? समस्त आत्मप्रदेशो से आहार करते हैं? समस्त आहारक द्रव्यो का आहार करते हैं? और आहार के द्रव्यो को किस रूप मे परिणमाते हैं?

–श्री गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं कि हे भगवन्। आपने जीव के चौबीस दण्डक कहे हैं, उनमे से नरक–योनि के जीव की स्थिति कितनी है? अर्थात् जीव नरक मे कितने समय तक बना रहता है?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया– हे गौतम। स्थिति दो प्रकार की होती है–एक जघन्य, दूसरी उत्कृष्ट। अर्थात् एक कम से कम और दूसरी ज्यादा से ज्यादा। जहा ऊच और नीच होता है वहा मध्यम होता ही है। नरक के जीवो की कम से कम स्थिति दस हजार वर्ष की है अर्थात नरक मे गया हुआ जीव कम से कम दस हजार वर्ष तक नरक मे रहता है और अधिक से अधिक तेतीस सागर की स्थिति है।

प्रश्न हो सकता है कि नरक किसे कहते हैं? इसका उत्तर व्युत्पत्ति के अनुसार यह है कि–जिसके पास से अच्छे फल देने वाले शुभ कर्म चले गये हैं जो शुभ कर्मो से रहित है उन्हे 'निरय' कहते है और 'निरय' मे जाते हो वे 'नैरयिक' कहलाते है।

जैसे– जिसके पास से सम्पत्ति चली जाती है उसे दरिद्र कहते हैं। जहा सम्पत्ति नही वहा दरिद्रता होती ही है और दरिद्रता वाले को दरिद्र कहते है। यह गुण गुणी का भेद है। दरिद्रता गुण है और गुणी वह प्राणी है जो दरिद्र हो। इसी प्रकार जो सुख से अतीत है और पुण्यफल से नष्ट है उसे नैरयिक कहते है।

आयु कर्म के पुद्गलों के रहने की मर्यादा स्थिति कहलाती है। अतः रूपी दीपक में आयु कर्म रूपी तेल के [illegible] की [illegible] मर्यादा का नाम स्थिति है।

जो जीव अशुभ कर्म बांधकर नरक योनि में जाते हैं वे वहां कम से कम दस हजार वर्ष अवश्य रहते हैं। कोई भी जीव दस हजार वर्ष पहले नरक से लौट कर नहीं आ सकता। इसी प्रकार नरक में अधिक से अधिक तेंतीस सागरोपम तक जीव रहता है। कोई भी जीव तेंतीस सागरोपम से अधिक समय तक नरक में नहीं रह सकता। यही नरक की जघन्य और उत्कृष्ट आयु कहलाती है।

सागरोपम किसे कहते हैं यह जान लेना आवश्यक है। यह संख्या [illegible] है। अंकों द्वारा उसे प्रकट नहीं किया जा सकता। अतः उसे समझाने [illegible] उपमा द्वारा ही उसकी कल्पना की जा सकती है। इसी [illegible] उसे उपमा-संख्या कहते हैं, और इसी कारण 'सागर' शब्द के बदले 'सागरोपम' का व्यवहार भी किया जाता है, सागरोपम का स्वरूप इस प्रकार है।

चार कोस लम्बा और चार कोस चौड़ा तथा चार कोस गहरा एक कूप हो। फिर, युगलिया के सात दिन के जन्मे बालक के बाल लिये जावें। युगलिया के बाल [illegible] बालों से 4096 गुने सूक्ष्म होते हैं। उन बालों के [illegible] में बारीक टुकड़े-काजल की तरह किये जावें। [illegible] दिखाई देने वाले टुकड़ों से असंख्य गुने छोटे टुकड़े हों। अथवा सूर्य की किरणों में जो रज दिखाई देती है उससे असंख्य गुने छोटे हों। ऐसे टुकड़े करके उस कुएं में ठसाठस भर दिये जावें। सौ-सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक-एक टुकड़ा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते निकालते जब वह कुआं खाली हो जाय तब एक पल्योपम होता है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी कुएं जब खाली हो जाएं तब एक सागरोपम होता है। एक करोड़ को एक करोड़ की संख्या से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है। ऐसे तेंतीस सागरोपम की या 330 कोड़ाकोड़ी पल्योपम की नरक की [illegible] स्थिति है। यह [illegible] स्थिति [illegible] है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि–भगवन्! नरक के जीव क्या श्वासोच्छवास भी लेते है? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर हा मे दिया है। तब गौतम स्वामी पूछते है कि उनका श्वासोच्छवास कितने समय मे होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि प्रज्ञापन्ना सूत्र मे इसका वर्णन किया है वहा से जान लेना चाहिए।

इस प्रश्नोत्तर मे आणमति' और पाणमति शब्द आये हैं। इनका क्रमश अर्थ है–श्वास लेना और छोडना। शरीर के भीतर हवा खीचने को आणमन या श्वास लेना कहते है और शरीर के बाहर हवा निकालने को प्राणमन या श्वास छोडना कहते है।

किसी किसी आचार्य के मत से श्वासोच्छवास दो प्रकार के होते है– एक आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास और दूसरा बाह्य श्वासोच्छवास आध्यात्मिक श्वासोच्छवास को आणमन और प्राणमन कहते और बाह्य को उच्छवास नि श्वास कहते है।

श्वास की क्रिया मे समस्त योग का समावेश हो जाता है। जो महाप्राण पुरुष श्वासोच्छवास को समझ लेता है और बाह्य श्वासोच्छवास का अभ्यन्तर कर लेता है अर्थात् श्वासोच्छवास पर अधिकार कर लेता है उसके लिए कोई कार्य कठिन नही रह जाता। जो लोग अधिक उम्र तक जीते है वे इसी क्रिया के प्रताप से। खाना–पीना आदि सब श्वास पर ही निर्भर है। अभी श्वास पर थोडा–सा काबू है। अगर इतना भी काबू न रहे तो शरीर मे मल–मूत्र भी टिकना कठिन हो जाये। शरीर मे मल–मूत्र का न टिकना श्वास पर अधिकार न होने का फल है। कई लोगो का दम उठने लगता है यह भी श्वास पर नियत्रण न होने के कारण ही। आप लोग अपने को सुखी मानते है लेकिन सारे सुख का आधार श्वास ही है। जिस समय श्वास पर से अधिकार उठ जाता है उसी समय सारे सुख हवा मे उड जाते है। श्वास की क्रिया बिगडने से आत्मा को कितनी असाता होती है यह तो भुक्तभोगी ही जान सकते है। वास्तव मे साता–असाता श्वास पर ही निर्भर है। योगीजन बाह्य श्वासोच्छवास को अभ्यन्तर कर लेते है अत उन्हे न रोग होता है न शोक होता है।

नरक के जीवो के श्वासोच्छ्वास का वर्णन करके यह दिखलाया गया है कि– 'हे पाणी! समझ ले पहले ही सावधान हो ले। देख नरक के जीवो को कितना कष्ट होता है।

नरक के दु खो का वर्णन देखकर आत्मा सचेत हो जाये इसीलिए श्री गौतम स्वामी ने नरक का वर्णन पूछा है और भगवान ने नरक का वर्णन किया है। भगवान् महावीर ने नरक का वर्णन ही नही किया है अपितु नरक को अपना पुराना घर बतलाया है। उन्होने गौतम से कहा है कि– हे गौतम! मै और तू दोनो नरक मे भी गये हैं और स्वर्ग मे भी गये हैं। ससार की कोई योनि शेष नही जिसमे ससारी जीव अनेक बार न भटक आया हो। असख्य काल ऐसी स्थितियो मे व्यतीत किया है। ऐसा विचार कर समय भर का भी प्रमाद न करो।

मित्रो! आपको भी यही बात सोचनी चाहिए। अगर आप इस ओर ध्यान न देगे तो याद रखिए नरक का द्वार अभी तक खुला हुआ है। वह बन्द नही हुआ है।

यहा एक बात लक्ष्य देने योग्य है। भगवान् ने प्रत्येक उत्तर के पारम्भ मे हे गौतम! इस प्रकार सबोधन किया है। सिर्फ उत्तर ही न दकर सम्बोधन करने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि भगवान ने ऐसा करके हमे शिष्य को उत्तर देने की विधि बतलाई है। जिस शिष्य ने प्रश्न पूछा है उत्तर देते समय उस शिष्य का नाम लेने से शिष्य के हृदय मे आदर–बुद्धि उत्पन्न होती है। शिष्य के प्रति यह मृदुतापूर्ण व्यवहार को सूचित करता है।

अगर कोई प्रश्न करे कि गुरु को शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये? तो इसका उत्तर होगा– जैसे भगवान महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी के प्रति किया था।

शिष्य को सम्बोधन करने से एक बात और होती है। इससे शिष्य का उत्साह बढता है और शिष्य बारम्बार प्रश्न पूछता है। गुरु शिष्य का नाम लेकर उत्तर देता है इससे प्रश्न का निर्णय भी ठीक घटता है और उसका आदर भी हो जाता है।

नहीं की तृप्ति न करी ज़िद पर उसकी जिज्ञासावृत्ति को जान कर प्रसन्न होता है।

किसी एम० ए० परीक्षोत्तीर्ण अध्यापक के पास अगर कोई छोटा बालक कुछ पूछने जाता है तब वह अध्यापक अगर उसे उच्च श्रेणी की शिक्षा सिखलाने लगे तो वह उस बालक के क्या काम की?

आज बालकों के दिमाग में उनकी शक्ति से अधिक शिक्षा भरी जाती है। बालक के संरक्षक चाहते हैं कि उनका बेटा शीघ्र से शीघ्र बृहस्पति बन जाए। मगर इस हवस का परिणाम जो हो रहा है वह स्पष्ट है। बालक के दिमाग पर अधिक बोझ लादने से उसकी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और वह अल्पायु हो जाता है। शास्त्रकारों ने इसीलिए कहा है कि जब तक बालक आठ वर्ष का न हो जाये, तब तक उसे अक्षर-ज्ञान न दिया जाये। प्राचीन काल में इस अवस्था तक बालक को वही ज्ञान दिया जाता था जो आँख और कान द्वारा दिया जा सके। आँख और कान द्वारा शिक्षा देने के लिए ही बालक के पास अठारह देश की दासियाँ रखी जाती थीं।

अगर एम० ए० अध्यापक किसी बालक को शिक्षा देना चाहेगा तो उसे भी उस बालक के साथ बालक बनना होगा। वह बालक से जो उच्चारण कराना चाहेगा वही उसे स्वयं करना होगा। भक्त तुकाराम ने कहा है

अर्भकाचे साठी, पन्तें हाथीं धरली पाटी।

अर्थात्– ईश्वर हमें उसी तरह ज्ञान सिखलाता है जिस प्रकार बालक के लिए अध्यापक स्वयं पट्टी उठाता है और स्वयं ही उच्चारण करता हुआ क ख लिखता है।

तात्पर्य यह है कि जब किसी बालक को सिखाना होता है तब सिखाने वाले को भी बालक की चाल चलनी पड़ती है। जब शिक्षक पहले बालक की चाल चलेगा तो आगे चलकर बालक भी शिक्षक की चाल चल सकेगा और तभी शिक्षक बालक को कुछ सिखा सकेगा।

माता पहले-पहल बालक की उँगली पकड़ कर उसे चलना सिखलाती है। तब वह स्वयं बालक की चाल में चलती है। अगर ऐसा न किया जाय और माता बालक को अपनी चाल में चलाने का प्रयत्न करे तो बालक नहीं चल सकेगा।

बातो का ज्ञान गौतम स्वामी को न देते तो आज यह हमारी समझ मे कैसे आती?

बच्चे को चलाने के लिए माता बच्चे की चाल मे चले फिर भी बच्चा अगर बैठ ही जाये– चले ही नही तो इसके लिए माता क्या करेगी? इसी पकार भगवान ने हम लोगो को यह ज्ञान दिया है लेकिन अगर हम लोग इसे अपने ध्यान मे ही न ले तो इसके लिए दूसरा कोई क्या कर सकता है? यह तो हमारा ही अपराध है।

भगवान महावीर ने गौतम स्वामी का नाम दोहराकर यह सिखाया है कि अगर दूसरो को शिक्षा देनी है तो सादे और सुगम बनो। साथ ही भगवान् ने शिष्यो को यह समझाने का प्रयत्न किया हे कि जो गुरु तुम्हारे लिए अपनी महत्ता का भी त्याग करते हैं उनकी बात पर ध्यान दो। भक्त तुकाराम ने एक जगह कहा है कि परमात्मा का वर्णन करने की ताकत मेरी जबान मे नही है। उसने बडी से बडी शक्ति को भी छोटी करके हमारे लिए व्यवहार किया है।

ससार मे पारस उत्तम और लोहा नीच माना जाता है लेकिन पारस अपना बडप्पन छोडकर लोहे का ससर्ग करके उसे सोना बना देता है। इसी मे पारस की महिमा है।

यही बात उन महात्मा के विषय मे कही जा सकती है जो तीन ज्ञान लेकर जन्मे ही थे और दीक्षा धारण करते ही उन्हे चौथा मन पर्याय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था और कुछ वर्षो बाद सर्वज्ञता प्राप्त हो गई थी जिनके दर्शन के लिए इन्द्र भी लालायित रहता था। इस प्रकार की लोकोत्तर महिमा से मडित श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ससारी जीवो के कल्याण के लिए ग्रामो और नगरो मे फिरते और उन्हे सुख का मार्ग दिखलाते थे नगर निवासियो का रहन सहन तो उच्च कोटि का होता है पर बेचारे ग्रामीणो का वश कहा? फिर भी भगवान ने उन ग्रामीणो से घृणा नही की और अपने गौरव की परवाह न करके उनका उद्धार करने हेतु उनके पास पहुचे।

कि नरक के जीवों को भी आहार की इच्छा होती है। अगर गौतम स्वामी पूछते हैं नरक के जीव आहार किस प्रकार लेते हैं? भगवान ने प्रज्ञापना सूत्र में आहार नामक अट्ठाईसवाँ पद है। उसके पहले उद्देशक में इस विषय का वर्णन किया गया है। उसमें नरक के जीवों के अतिरिक्त अन्यान्य जीवों के भी आहार का वर्णन किया गया है।

साधारणतया विचार करने से यह समझ में नहीं आता कि ऐसे ऐसे प्रश्नोत्तर करने से गौतम स्वामी और भगवान महावीर ने क्या लाभ सोचा होगा? उन नरक के जीवों के आहार को जानने एवं बताने की क्या आवश्यकता थी? लेकिन भगवान ने नरक के जीवों के आहार के 40 द्वार बतलाये हैं। यह उन महान पुरुष की असीम करुणा है। जिन जीवों के आहार का वर्णन किया है उनके बारे आपने आहार की बात इतनी स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होती। ज्ञानियों की दृष्टि से वह छिपी नहीं है। उन्होंने अज्ञानियों को समझाने के लिए यह सब वर्णन किया है।

प्रश्न- नारकी जीवों के आहार के संबंध में प्रज्ञापना सूत्र का जो [illegible] किया है उस पद का उल्लेख न करके सीधा आहारोद्देशक क्यों कहा गया है? पहले पद बतलाना उचित था फिर उसके साथ उद्देशक का कथन करना ठीक रहता।

उत्तर- यहाँ पद लोपी समास हुआ है। इस समास के कारण पद शब्द का लोप हो गया है तथापि पद शब्द का अर्थ निकाल लेना समझना चाहिए।

प्रज्ञापना सूत्र में आहार-विषयक जो वर्णन आया है उसका [illegible] दिग्दर्शन शास्त्रकार ने निम्नलिखित गाथा में किया है।

ठिई उस्सासाऽऽहारे किं वाऽऽहारेंति सव्वओ वावि।
कइभाग सव्वाणि व कीस वा भुज्जो परिणमंति?॥

इस संग्रह-गाथा में उन चालीस द्वारों का संक्षिप्त [illegible] किया गया है।

नरक दुर्गन्धमय है। वहा रक्त–पीव आदि घोर अशुचिमय पदार्थ भरे हुए है। वहा की भूमि इतनी त्रासजनक है कि उसका स्पर्श करते ही ऐसी वेदना होती है मानो एक साथ हजार बिच्छूओ ने काट खाया हो। ऐसी भूमि मे रहने वाले नारकी जीव क्या आहार करते होगे? भगवान से गौतम स्वामी ने इस अभिपाय से यह प्रश्न पूछा है कि–नरक मे ओर कोई वस्तु तो है नही फिर क्या जो अशुचिमय वस्तु नरक मे है उसी को नारकी जीव खाने की इच्छा करता है? इस पश्न के उत्तर मे भगवान कहते हैं–हा गोतम ! नरक के जीव खाने की इच्छा करते है। नारकी इस कनिष्ठ अवस्था मे पडे हुए हैं और नरक मे रक्त पीव आदि वस्तुए ही है तथापि वे इस आहार के लिए पार्थना करते है।

सुसस्कारी पुरुष जिस वस्तु से घृणा करते है उसी को सस्कार विहीन या नीच प्रकृति के लोग बडे उत्साह से खाते–पीते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। जब मनुष्य–लोक मे ही इतना महान रुचि–वैचित्र्य देखा जाता है तो नरक का क्या पूछना है? वहा के जीव निकृष्ट वस्तुआ के आहार की याचना करे यह अस्वाभाविक नही कहा जा सकता।

मै एक बार पनवेल गया था। वहा जब जगल जाता ता जिन मछलियो को मारकर सुखाया गया था उनकी दुर्गन्ध आती थी। दुर्गन्ध इतनी उग्र थी कि खडा रहना कठिन होता था।

डाक्टर कहते है–खान–पान मे सावधान रहो गदगी मत होने दो ओर दूसरे खराब परमाणुओ को अपने शरीर मे प्रवेश मत होने दो। यद्यपि डाक्टर को रोग मिटाना अभीष्ट है लेकिन वह गदगी से बचने की बात कहता है। इससे यह स्पष्ट है कि शरीर मे गदगी जाती है। ऐसा न होता तो डाक्टर को मनाही करने की क्या आवश्यकता होती?

यद्यपि गदगी खाने की इच्छा कोई करता नही है तथापि किसी न किसी कारण से गदगी खाने मे आ ही जाती है। इसी पकार इच्छा न होने पर भी शरीर के आसपास घूमने वाले परमाणु आहार मे आ जाते हैं।

इसी आधार पर अन्यान्य क्रियाओ पर विचार करने से पतीत होता है किस पकार इच्छा के अभाव मे भी अनेक कार्य होते रहते हैं।

गौतम स्वामी का मूल प्रश्न है–आहार के समय की मर्यादा का पर भगवान ने फरमाया– आहार दो प्रकार का होता है। इन दोनो प्रकार के आहारो मे से अनाभोगआहार तो निरन्तर–प्रतिक्षण होता रहता है। एक समय भी ऐसा व्यतीत नही होता जब यह आहार न होता हो। यह आहार बुद्धिपूर्वक–सकल्प द्वारा नही रोका जा सकता। दूसरा इच्छापूर्वक जो आहार होता है उसकी इच्छा कम से कम असख्यात समय मे होती है।

पश्न–असख्यात समय कहने से काल की कोई निश्चित मर्यादा नहीं पतीत होती। एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल मे भी असख्यात समय होते है और आख बद कर खोलने मे भी असख्यात समय होते है। ऐसी अनिश्चित सख्या बतलाने से क्या समझना चाहिए?

उत्तर–यहा असख्यात समय एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण लेना चाहिए। अर्थात नारकी जीवो को अन्तर्मुहूर्त मे आभोग निर्वर्तित आहार की इच्छा होती है।

तात्पर्य यह हे कि गोतम स्वामी न भगवान महावीर से उक्त चार प्रश्न किये। इनक उत्तर म भगवान न फरमाया– ह गोतम ! जिन पुद्गला का भूतकाल म आहार किया हे वे भूतकाल म ही शरीर रूप परिणत हा चुक हें। ग्रहण के पश्चात परिणमन हाता ही हे अतएव पूर्वकाल म आहार किय हुए पुद्गल पूर्वकाल म ही परिणत हो गय।

दूसरे प्रश्न मे भूतकाल के साथ वर्तमान सम्बन्धी प्रश्न किया गया है। इसके उत्तर मे भगवान का कथन यह हे कि जिनका आहार हा चुका वे पुद्गल परिणत हो चुके हें ओर जिनका आहार हा रहा हें व परिणत हो रहे हें।

यहा टीकाकार कहते हैं कि जिन पुद्गला का आहार किया ओर जिनका वर्तमान म आहार किया जा रहा हे उसके विषय म कहना चाहिए कि वे पुद्गल परिणत हागे। मगर यहा कहा गया हे कि परिणत हा रह हें। सूत्रकार स्वय कहते हें कि जिन पुद्गला का आहार किया जा रहा हे और आगे किया जायेगा वे पुद्गल परिणत होगे। तात्पर्य यह है कि वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल उसी समय शरीर रूप म परिणत नही हा सकते। बल्कि वे भविष्य मे ही परिणत हागे। अतएव जिन पुद्गला का आहार किया जा चुका ओर जिनका आहार किया जा रहा हे वह पुद्गल परिणत हो रहे हें यह कथन युक्ति सगत नही मालूम हाता। उनक लिए परिणत होगें' ऐसा कहना चाहिए।

टीकाकार का यह कथन नय–विशेष की विवक्षा से ठीक ही हे।

तीसरा प्रश्न भविष्य के सम्बन्ध म हे। उसका सरल उत्तर यही हे कि भविष्य मे जिन पुद्गलो का आहार करेग वे पुद्गल भविष्य म परिणत होगें।

चोथा यह था कि जिन पुद्गलो का भूतकाल म आहार नही किया और भविष्य म भी आहार नही किया जायेगा व पुद्गल क्या शरीर रूप म परिणत हुए? इसका उत्तर यह हे कि एसे पुद्गल परिणत नही हाग। जिनका ग्रहण ही नही हुआ उनका शरीर रूप म परिणमन भी न हागा।

पहले जा त्रसठ भग वतलाए गय हे उन सवका इसी आधार पर समाधान समझ लना चाहिए।

आहार किय हुए पुद्गल जव शरीर क भीतर गय ता उनका चय उपचय भी होगा ही। इसलिए गातम स्वामी प्रश्न करत हें कि जीव न जिन पुद्गला का आहार किया व पुद्गल चय का प्राप्त हुए? परिणमन क

उक्त वर्णन से इस बात का भी भलीभाति अनुमान किया जा सकता है कि जैन धर्म क्या है? उसकी बारीकी और व्यापकता कहा तक जा पहुची है। एक छोटे से राज्य का राजा होता है दूसरा बडे राज्य का होता है। वासुदेव का भी राज्य और चक्रवर्ती का भी। चक्रवर्ती का राज्य सबसे बडा गिना जाता है क्योकि उसके राज्य मे सभी एक छत्र आ जाते हैं। सबका एक छत्र के नीचे आ जाना यही चक्रवर्ती का चक्रवर्तीपन है।

हम लोग तीर्थकरो की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं–'प्रभो। तू त्रिलोकीनाथ है। अगर भगवान को त्रिलोकनाथ कहते है तो उनके राज्य मे तीनो लोक के जीवो का समावेश हो जाना चाहिए। फिर भले ही कोई छोटा हो या बडा हो। चक्रवर्ती मनुष्यो पर ही शासन करता है लेकिन त्रिलोकनाथ का छत्र तो चौबीस दण्डको के जीवो के सिर पर है। उनका छत्र नारकी जीवो पर भी है। जैसे बडा राजा अपने राज्य को प्रान्तो मे विभक्त करता है उसी प्रकार भगवान ने अपने राज्य चौबीस दण्डक रूपी प्रान्तो मे विभक्त किया है। इन दण्डको मे से पहला दण्डक नारकी का है। भगवान ने नारकियो को सबसे पहले याद किया है। मनुष्य के शरीर मे भी पहले पाव गिना जाता है सिर नही। लोग पैर पूजना कहते हैं सिर पूजना नही कहते। पैर का महत्त्व बढने से सिर का महत्त्व आप ही बढ जाता है। भगवान का राज्य तीनो लोको मे फैला है। उन्होने नरक को भी एक प्रान्त बनाया है।

यहा यह आशका हो सकती है कि असुरकुमार आदि के जो समीप ही हें दस दडक माने गये हैं और नारकी जीवो का एक ही। इसका क्या कारण है? इस आशका का समाधान यह हे कि नारकी जीवो म इतनी अधिक उथल–पुथल नही होती क्योकि वे दु ख मे पडे हें। भवनवासी उथल–पुथल करते रहते हें। इत्यादि कारणो से उनके दस दडक किये गये हे।

फिर प्रश्न होता है कि असुरकुमार के सिवा नो भवनवासी समान ही हैं फिर इनके अलग अलग दडक क्यो बताये गये हैं। एक ही दडक क्या न बता दिया?

जिन भगवान् ने दडक रूपी प्रान्त बनाये हैं इन्ह उस विषय म अधिक ज्ञान था। हमे उनकी व्यवस्था पर ही निर्भर रहना चाहिए।

इस विषय मे सूत्रो मे कोई स्पष्टीकरण नही हे किन्तु आचार्यो की धारणा ऐसी है कि नारकी मे सातो नरक के नेरयिक परस्पर सलग्न हैं–इनक

हे गौतम! छोटे पुद्गलो का भी और बडे पुद्गलो का भी। यहा आशका की जा सकती है कि छोटे और बडे पुदगल से क्या तात्पर्य समझना चाहिए? छोटापन और बडापन सापेक्ष है। यह बडा और यह छोटा है यह नियत नही। जो किसी की अपेक्षा छोटा है वही दूसरी अपेक्षा से बडा होता है और जो एक अपेक्षा से बडा है वह दूसरी अपेक्षा से छोटा भी होता है। इस पकार छोटापन और बडापन सापेक्ष है अतएव अनियत है।

नरक के जीव जिन पुद्गलो का आहर करते है उनमे से कोई एक पुद्गल अगर दूसरे से एक प्रदेश भी बडा है तो वह बडा कहलायेगा। जो अधिक प्रदेश बडा है वह भी बडा कहलायेगा वह उस बडे से भी बडा कहलायेगा मगर इस अधिक बडे की अपेक्षा वह बडा भी छोटा कहा जा सकता है। पहली उगली दूसरी की अपेक्षा छोटी है। दूसरी बडी हे। मगर तीसरी की अपेक्षा यह दूसरी भी छोटी है। यही बात पत्येक वस्तु के विषय मे समझी जा सकती है।

गौतम स्वामी—भगवन्! नरक के जीव जिन छोट—बडे पुदगलो का आहार करते है वे ऊची दिशा से आये हुए होते है? नीची दिशा से आये हुए होते है? या तिरछी दिशा से आये हुए होते है?

भगवान हे गौतम! नरक के जीव तीनो दिशाओ से आये पुदगलो का आहार करते है।

यहा गौतम स्वामी ने तीन ही दिशाओ का लेकर प्रश्न किया है। ऊर्ध्व दिशा और अधो दिशा तो है ही तिरछी दिशा मे चारो ही दिशाओ का समावेश हो जाता है।

जल में भी विष मिलाया और आसन आदि पर भी विष का छिडकाव किया। इस प्रकार विष ही विष फैलाकर रानी ने राजा को भोजन करने के लिए बैठाया और राजा के सन्मुख विषमिश्रित भोजन-पानी रख दिया। रानी पति-भक्ति का दिखावा करने के लिए खडी होकर पखा झलने लगी। ज्यो ही राजा ने भोजन आरभ किया उसे मालूम हो गया कि भोजन मे विष का मिश्रण किया गया है वह चुपचाप उठ कर पौषधशाला मे आ गया।

राजा किस प्रकार अपने कर्मों की उदीरणा करता है, यह ध्यान देने की बात है। इसे ध्यान से सुनिये और विचार कीजिए।

पौषधशाला मे आकर राजा विचारने लगा-रानी ने मुझे जहर नही दिया है। मैंने रानी के साथ जो विषयभोग किया है, यह जहर उसी के प्रताप से आया है।

यद्यपि प्रदेशी राजा चढे हुए जहर को उतार सकता था और रानी को दड भी दे सकता था, लेकिन जिन्हे कर्म की उदीरणा करनी होती है वे दूसरे की बुराइयो का हिसाब नहीं लगाते।

राजा प्रदेशी सोचने लगा-हे आत्मन्! यह विष तुझे नहीं मिला है, किन्तु तेरे कर्म को मिला है। तूने जो प्रगाढ कर्म बाधे हैं उन्हे नष्ट करने के लिए इस जहर की जरूरत थी। मैंने जीव और शरीर को अलग-अलग समझ लिया है। यह स्पष्ट हो रहा है कि यह जहर आत्मा पर नहीं शरीर पर अपना असर कर रहा है। आत्मा तो वह है कि-

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत ।।2/23
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ।।गीता-2/24

अर्थात्- आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती। आत्मा छिदने योग्य नहीं है, सडने-गलने योग्य नहीं है सूखने योग्य नहीं है। वह नित्य है प्रत्येक शरीर मे रहता है स्थायी है अचल है और सनातन है।

राजा प्रदेशी सोचता है- हे आत्मा! यह विष तुझे मार नहीं सकता यह तेरे कर्मों को ही काट रहा है। इसलिए चिन्ता न कर। तू बैठा-बैठा तमाशा देख।

मित्रों! इसका नाम प्रशस्त परिणाम है। इसी से कर्मों की उदीरणा होती है। ऐसा परिणाम उदित होने पर कर्मों की ऐसी दशा होती है जैसे उन्हे जहर ही दे दिया गया हो।

गोतम स्वामी–भगवन्! नारकी जीव आनुपूर्वी से पुद्गलो का आहार करते है तो किस दिशा के पुद्गलो का आहार करते हैं? पूर्व आदि मे से किसी एक दिशा मे स्थित पुद्गलो का या छहो दिशाओ मे स्थित पुद्गलो का?

भगवान्– हे गौतम! नियम से छहो दिशाओ मे स्थित पुद्गलो का आहार करते है।

इस प्रश्नोत्तर को किचित् स्पष्ट करने की आवश्यकता है। नरक के जीव चौदह राजू लोक के मध्यवर्ती है और मध्यवर्ती होने से छहो दिशाए लगती है। त्रसनाडी के बाहर के जीव के आहार की तीन चार पाच या छह दिशाए भी होती है। पृथ्वीकाय का जीव लोक के कोने मे जाकर आहार करता है तो तीन दिशाओ का आहार करता है। इसी प्रकार दो तरफ अलोक और चार तरफ लोक हो तो चार दिशाओ के पुद्गलो का आहार होता है। पाच ओर लोक हो तो पाच दिशाओ के पुद्गलो का और मध्य मे छहो दिशाओ के पुद्गलो का आहार हो जाता है।

पहले वर्ण का साधारण वर्णन किया जा चुका है। यहा उसके अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

भगवान् कहते है– हे गौतम! यह आहार का समुच्चय वर्णन किया गया है। अब नरक योनि और असुरयोनि के जीवो के आहार का अन्तर बतलाते है। नरक के जीव जो आहार करते है वह वर्ण से काला और नीला होता है। गध से दुर्गंध युक्त होता है। रस से तिक्त और कटुक होता है। स्पर्श की अपेक्षा भारी खुरदरा शीत और रूखा होता है।

निश्चय मे यद्यपि पाचो वर्ण विद्यमान है तथापि व्यवहार मे काले और नीले वर्ण का आहार करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। यहा जो वर्ण रस गध और स्पर्श बतलाये गये है वह सब अशुभ समझना चाहिए।

नरक के जीवो के आहार मे भेद भी है। पहले नरक के जीव जिस प्रकार का आहार करते है दूसरे नरक वाले दूसरी ही तरह का करते है। इसी तरह आगे के नरको का समझ लेना चाहिए।

आत्मा मे यह शक्ति है कि वह आहार–पुद्गलो को आहारयोग्य गुण मे परिणत कर लेता है। उदाहरणार्थ–दूध यदि पेट मे जाकर दूध ही बना रहा तो वह आहार नही हुआ। आहार वह तब कहलाएगा जब उसका रस रक्त मज्जा आदि बन जाये। इसी पकार आत्मा अपने शरीर मे आहार के लिए पुद्गलो को ग्रहण करती है फिर उन्हे आहार के रूप मे परिणत करती है। आत्मा समस्त आत्मप्रदेशो से आहार करती है एक ही आत्मप्रदेश से आहार नही करती। जिस आत्मा मे जितनी और जैसी शक्ति होगी। वह पुद्गलो को वैसे ही आहार के रूप मे परिणत कर सकेगी।

ऊपर जो सग्रह गाथा लिखी गई थी उसके पूर्वार्ध मे विद्यमान कि वाऽहारेति' इस पद की व्याख्या यहा तक की गई है। इस पद के आगे 'सव्वओ' पद आया है। अब उसकी व्याख्या की जाती है।

टीकाकार के कथनानुसार सव्वओ पद की व्याख्या के लिए निम्नलिखित पाठ का उच्चारण करना आवश्यक है–

नेरइया ण भते! सव्वओ आहारेति, सव्वओ परिणामेति सव्वओ ऊससति सव्वओ णीससति अभिक्खण आहारेति अभिक्खण परिणामेति अभिक्खण ऊससति अभिक्खण णीससति आहच्च आहारेति?

हता गोयमा! नेरइया सव्वओ आहारेति।

अर्थ– भगवन्! नारकी जीव समस्त आत्म प्रदेशो से आहार करते है समस्त आत्म प्रदेशो से परिणमाते है समस्त आत्म–प्रदेशो से उच्छवास लेते है समस्त आत्म प्रदेशो से नि श्वास लेते है? निरन्तर आहार करते है निरन्तर परिणमाते है निरन्तर उच्छवास लेते है निरन्तर नि श्वास छोडते हैं? या कदाचित आहार करते है? (कदाचित परिणमाते है कदाचित उच्छवास लेते है और कदाचित् नि श्वास छोडते हैं?)

हा गौतम! नारकी जीव समस्त आत्म प्रदेशो से आहार करते है इत्यादि।

समस्त आत्म–प्रदेशो से आहार करते है इसका अर्थ यह है कि जैसे घी की कडाई मे पूरी छोडने पर वह सभी ओर से अपने मे घृत को खींचती है उसी प्रकार जीव सभी ओर से सभी प्रदेशो से आहार खींचता है।

बाह्य रूप से पुद्गल को खींचना आहार नही कहलाता वरन् शरीर और गृहीत पुद्गलो को एक रूप बना देना सर्वतः आहार कहलाता है

आहार रस परिणमन करता है। वह रस–परिणमन सभी प्रदेशो [illegible] होता है। आहार और कर्मबन्ध दोनो के विषय मे यह [illegible] पढना है। तात्पर्य यह है कि जीव सब ओर से आहार कर सब प्रदेशो मे परिणमन [illegible] है

[illegible]

दूसरे आचार्य कहते हैं कि ऐसा नही है। यहा नय विशेष की अपेक्षा से कथन है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार शरीर रूप मे परिणत पुद्गलो के असख्य भाग का आहार करता है। जो पुद्गल शरीर रूप मे परिणत नही हुए उन्हे ऋजुसूत्रनय शुद्ध होने से आहार रूप नहीं मानता।

ऋजूसूत्रनय भूत और भविष्य को छोडकर केवल वर्तमान को स्वीकार करता है। अत जितने पुद्गल आहार रूप मे ग्रहण किये हैं उन्हे व्यवहार नय तो आहार कहता है, लेकिन ऋजुसूत्रनय के मत से जो पुद्गल उनमे से शरीर रूप परिणत हुए हैं, वही आहार रूप हैं।

उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति ने दूध पीया। उसमे से कुछ भाग खल-मल रूप मे परिणत हो गया और शेष भाग से रस आदि धातुए बनी। ऋजुसूत्रनय इस परिणति को ही आहार मानता है।

जैसे गाय बहुत-सा घास एक साथ मुह मे भरती है पर उसमे से बहुत सा भाग गिर जाता है वह आहार मे परिगणित नही होता। ऋजुसूत्रनय के अनुसार वे ही पुद्गल आहार-रूप कहलाते हैं जो वास्तव मे आहार रूप मे परिणत होते हैं सब ग्रहण किये हुए पुद्गल नही। असल मे आहार वही है जो शरीर रूप मे परिणत हो। शरीर रूप मे परिणत होकर भी पुद्गलो का असख्यात भाग ठहरेगा और सख्यात भाग नही ठहरेगा। पिये हुए एक सेर दूध मे से कुछ भाग रस बनेगा और शेष मल बन कर निकल जायगा। शरीर मे जो रस बना वही ऋजुसूत्रनय के अनुसार आहार कहा जा सकता हैं।

ग्रहण किये हुए पुद्गलो मे से उतना ही रस शरीर म खिचता है जितनी शक्ति होती है। कमजोर मनुष्य आहार मे से पूरी तरह रस नही खीच पाता और उसका आहार कच्चे मल के रूप मे निकल जाता हे। मल का दखने से पता लग जाता है कि आहार मे से कितना रस खीचा गया हैं?

आहार करने का जो प्रयाजन है। उस प्रयाजन क पूर्ण होने पर ही ग्रहण किये पुद्गल आहार कहलाएगे। जब तक उनस आहार का प्रयाजन सिद्ध नही होता तब तक उन्हे आहार नही कहा जा सकता।

... नहीं ... । अतएव गृहीत पुद्गलों में से असंख्यातवां भाग ... है इसका अभिप्राय यह है कि असंख्यातवां भाग शरीर रूप में परिणत होता है।

... जो पुद्गल ग्रहण किये हैं उनका अनन्तवां भाग आस्वाद में ... है अर्थात गृहीत पुद्गलों के अनन्तवें भाग का रस रूप में रसना इन्द्रिय आस्वादन कर सकती है। मान लीजिए किसी ने मिश्री की डली मुंह में रखी। ... डली पर जीभ फिरी उसका स्वाद आया। मगर डली का भीतरी भाग ... ही रह गया - उसका आस्वादन नहीं हुआ। इस प्रकार जीभ ऊपर का ... ले सकती है भीतर का उसे पता नहीं चलता। अतएव वह अनन्तवें भाग ... पुद्गलों के रस का ही आस्वादन कर सकती है सब का नहीं। इसी ... कहा गया है कि अनन्तवें भाग का आस्वादन होता है। यहां तक ... किया द्वारा का विवेचन हुआ।

अब संग्रह गाथा के 'सव्वाणि' पद की व्याख्या आरम्भ की जाती है। ... स्वामी प्रश्न करते हैं - हे भगवन्! नारकी जीव जिन पुद्गलों को शरीर ... परिणत करते हैं। क्या वे सब पुद्गलों का आहार करते हैं या एक देश ... आहार करते हैं?

भगवान उत्तर देते हैं - गौतम! समस्त पुद्गलों का आहार करते हैं।

तात्पर्य यह है कि नारकी जीवों ने आहार के जिन पुद्गलों को शरीर के रूप में परिणत किया है उन सबका आहार वे करते हैं। यहां सब पुद्गल कहने से विशिष्ट पुद्गल ही समझने चाहिए जो पुद्गल ग्रहण करने के पश्चात गिर गये हों उन्हें यहां छोड़ देना चाहिए - उनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। अगर ऐसा न किया गया तो विरोध आ जायगा। जो ... जिस अपेक्षा से कहा गया हो उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिए। कहा भी है -

ज जह सुत्त भणियं तहेव तं जइ वियालणा णत्थि।
किं कालियानुओगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं॥

अर्थात - सूत्र में जो बात जिन शब्दों में कही गई है ... रूप में उसे उसी प्रकार माना जाय और उसकी विवक्षा का विचार ... न किया जाय तो ज्ञानी जन कालिक अनुयोग का ... क्यों करते?

आजकल साधुगण के ज्ञान में न्यूनता आ गई है ... देने में ही सूत्र के व्याख्यान की इतिश्री समझ लेते हैं। मगर सूत्र ... सूक्ष्म बातें उतनी ही खोली जा सकती हैं जितनी ...

शास्त्र सागर के भीतर अवगाहन करके अनेक महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य अर्थ रूपी मुक्ता निकालते है।

इसके अनन्तर पूर्वोक्त सग्रह गाथा के कीस पद की व्याख्या की जाती है। कीस यह एक पद है। इसमे अनेक पदो का उपचार किया जाता है। अतएव यह अर्थ समझना चाहिए कि नारकी जीवो ने जो आहार किया है। वह किस स्वभाव मे किस प्रकार और किस रूप मे परिणत होता है?

कल्पना कीजिए किसी ने दूध पिया। उस दूध का अश कहा जाएगा? किस रूप मे परिणत होगा?

किसी अत्यन्त क्षुधा पीडित व्यक्ति से देखने सुनने या सूघने के लिए कहा जाये तो वह उत्तर देगा–मुझमे शक्ति नही है। मेरी इन्द्रिया बेकाम हो रही है। इसी प्रकार उसे चलने–फिरने के लिए कहा जाये तब भी वह यही उत्तर देगा। इसके पश्चात् किसी ने उसे दूध पिला दिया।

सद्य शक्तिकर पय ।

दूध तत्काल शक्ति देने वाला है। अतएव दूध पीते ही उसके सारे शरीर मे शक्ति आ गई। उस दूध की शक्ति के हिस्से हुए। उन हिस्सो मे से नाक कान आख हाथ पैर आदि को कितना कितना भाग मिला यह एक विचारणीय बात है।

जो आहार किया जाता है उसके पुद्गल मृदु भी होते है स्निग्ध भी होते है और कठोर भी होते है। लेकिन सबसे सूक्ष्म सार आख खीच लेती है। उससे कम सार वाले क्रमश कान नाक जिह्वा और शरीर खीचते हैं। भारी पुद्गलो को शरीर से कम जिह्वा खीचती है और जीभ से भी क्रमश नाक कान और आख खीचती है। इस प्रकार आहार के सबध मे कथन किया गया है।

इस कथन की अपेक्षा आपके हाथ मे स्थित दूध को कान या आख कहा जा सकता है क्योकि दूध मे और कान आख मे कार्य कारण भाव का सबध है। यद्यपि दूध मे कान या आख दिखलाई नही देती तथापि कार्य–कारण पर विचार किया जाये तो उक्त कथन मे कोई भ्रम प्रतीत नही होता।

इसका समाधान यह हे कि यहा दोनो ही अर्थ निकल सकते हैं। अर्थात् इसे परिवार का साथ रहना भी समझा जा सकता है और परिवार इतना था यह भाव भी समझा जा सकता हे।

इस काल मे इतने साधु–साध्वियो के एक साथ विहार होने मे बहुत सी बातो का विचार हो सकता हे लेकिन जिस समय का यह वर्णन है उस समय के लोगो का प्रेम उस समय के गृहस्थो की दशा, आदि बातों पर ध्यान देने मे यह बात मालूम हो जायेगी कि इतने साधु–साध्वियो के एक साथ विहार करने मे किसी प्रकार की असुविधा नहीं हो सकती। अकेले आनन्द श्रावक के यहा चालीस हजार गाये थी। इस श्रावक के घर कितने साधुओ की गोचरी हो सकती थी यह सरलता से समझ मे आ सकता है।

इस कथन से यह अभिप्राय नही समझना चाहिए कि सब साधु–साध्वी एक ही साथ विहार करते थे। शास्त्र मे अलग–अलग विहार करने के प्रमाण भी विद्यमान हैं। जैसे– सूर्यगडाग सूत्र मे गौतम स्वामी के अलग विहार करन का उल्लेख मिलता है। केशी स्वामी से चर्चा करने के लिए भी गौतम स्वामी ही गय थ। उस समय भगवान् साथ नहीं थे। इत्यादि अनेक प्रमाणो स सिद्ध है कि साधु अलग–अलग भी विहार करते थे।

इसके अतिरिक्त एक बात और है केवलज्ञानी के लिए दूर या पास मे कोई अन्तर नहीं हे। उनके लिए जैसे दूर वैसे ही पास। ऐसी स्थिति म यदि यह कहा जाय कि भगवान् इतन परिवार से घिरे हुए पधारे तब भी कोई असगति नहीं है।

भगवान् चौदह हजार साधुओ और छत्तीस हजार आर्यिकाओ के परिवार से घिर हुए हैं अनुक्रम स अर्थात् आगे बडा और पीछे छोटा–इस क्रम स ग्रामानुग्राम यानी एक ग्राम से दूसर ग्राम म विहार करते हुए पधारे।

कुछ लोगो की ऐसी भ्रममय धारणा है कि महापुरुष आकाश से उडकर आत हैं–व साधारण पुरुषो की भाति पृथ्वी पर नही चलत। इस धारणा का विरोध करन क लिए ही भगवान् क विहार का यह वर्णन किया गया हे। भगवान महावीर आकाश म उडकर नही चलते थे किन्तु ग्रामानुग्राम विहार करत हुए पधारत थ। पक्षियो की भाति उडना महापुरुषो का विहार नहीं है।

इसके अतिरिक्त चाहे ग्राम हो या नगर हो भगवान की दृष्टि सभी जगह रहने वाले सभी जीवो पर समान थी। इसी कारण व पैदल और ग्रामानुग्राम विचरत थ जिससे सभी जीवो का कल्याण हो। इस प्रकार

आहार के परिणमन का वर्णन

मूलपाठ–

प्रश्न–नेरइयाण भंते! पुव्वहारिया पोग्गला परिणया? आहारिया आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया?अणाहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया?अणाहारिया अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया?

उत्तर–गोयमा! नेरइयाण पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया आहारिया आहारिज्जामाणा पोग्गला परिणया परिणमंति य। अणाहारिया आहारिज्जस्समाण पोग्गला णो परिणया परिणमिस्सति। अणाहारिया अणाहारिज्जस्समणा पोग्गला णो परिणया णो परिणमिस्सति।

प्रश्न–नेरइयाण भंते। पुव्वहारिया पोग्गला चिया? पुच्छ।

उत्तर–जहा परिणया तहा चिया वि एव उवचिया वि उदीरिया वेइया निज्जिण्णा।

गाहा–

परिणय–चिया य उवचिया
उदीरिया वेइया य निज्जिण्णा।
एक्केक्कम्मि पदम्मि
चउव्विहा पोग्गला होति ।।

(4) जिन पुद्गलो का भूतकाल म आहार नही किया ओर भविष्य मे भी आहार नही किया जायेगा वह पुद्गल शरीर रूप मे परिणत हुए?

पूर्वकाल मे जिन पुद्गलो का आहार किया गया हो या सग्रह किया गया हो उन्हे आहृत या आहारित कहते है। सग्रह करना और खाना दोनो ही आहार है।

पुद्गल शब्द से यहा पुद्गल–स्कध समझना चाहिए परमाणु नही और परिणत होने का अर्थ शरीर के साथ एकमेक होकर शरीर रूप मे हो जाना यहा ग्रहण करना चाहिए।

आहार का परिणाम है–शरीर बनना। जो आहार शरीर के साथ एकमेक हो जाता है अर्थात् जिस आहार का शरीर बन जाता है वह आहार परिणत हुआ या परिणाम को प्राप्त हुआ या परिणमा कहलाता है।

इन प्रश्नो के विषय मे आचार्य का कथन है कि यह काकुपाठ है। काकुपाठ वह कहलाता है, जो कण्ठ दबाकर बोला जाय। अर्थात जिस बात को जोर से तथा आश्चर्य सहित कहा जाता है वह कथन काकु है। यथा–क्या यह ऐसा ही है?

यह चारो प्रश्न दीखते है सीधे–साधे लेकिन इनमे दार्शनिक आशय भरा हुआ है। इन्ही चार प्रश्नो के 63 भग होते है। एकसयोगी के छह भग है–(1) पूर्वाहृत (2) आह्रियमाण (3) आहरिष्यमाण (4) अनाहृत (5) अनाह्रियमाण (6) अनाहरिष्यमाण। इन छह पदो के त्रेसठ भग होते है। प्रत्येक भग से एक–एक प्रश्न का उद्भव होता है अतएव त्रेसठ भग हुए। उनका इस प्रकार है–

(क) (1) पूर्वाहृत आह्रियमाण (2) पूर्वाहृत आहरिष्यमाण (3) पूर्वाहृत अनाहृत (4) पूर्वाहृत अनाह्रियमाण (5) पूर्वाहृत अनपाहरिष्ययमाण (6) आह्रियमाण आहरिष्माण (7) आह्रियमाण अनाहृत (8) आह्रियमाण अनाह्रियमाण (9) आह्रियमाण अनाहरिष्यमाण (10) आहरिष्यमाण अनाहृत (11) आहरिष्यमाण अनाह्रियमाण (12) आहरिष्यमाण अनाहारिष्यमाण (13) अनाहृत अनाह्रियमाण (14) अनाहृत अनाहरिष्यमाण (15) अनाह्रियमाण अनाहरिष्यमाण।

प्रश्न—नेरियकाणा भगवन! पुर्वाहृता पुद्गलाश्चिता? पृच्छा।

उत्तर—यथा परिणतास्तथा चिता अपि एवमुपचिता अपि उदीरिता वदिता निर्जीर्णा।

गाथा—

परिणताश्चिताश्चोपचिता उदीरिता वेदिताश्च निर्जीर्णा।
एकैकस्मिन् पदे चतुर्विधा पुद्गला भवन्ति।।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन! नारकिया द्वारा पहल आहार किय हुए पुद्गल परिणत हुए? आहार किय हुए तथा (वर्तमान म) आहार किय जान वाले पुद्गल परिणत हुए? जो पुद्गल अनाहारित हें तथा (आग) आहार रूप मे ग्रहण किये जाऐगे वह परिणत हुए? या जो अनाहारित हें ओर आगे भी आहृत नही होगे वह परिणत हुए?

उत्तर—हे गोतम! नारकियो द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए, आहार किये हुए ओर आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए ओर परिणत होते हुं नही आहार किये हुए (अनाहारित) पुद्गल परिणत नही हुए हें। जो पुद्गल(आगे) आहार किये जाएगे वह परणित होगे। अनाहारित पुद्गल परिणत नही हुए हें ओर जो आगे आहरित नही होगे वह परिणत नही होगे।

प्रश्न—हे भगवन! नारकियो द्वारा आहारित पुद्गल चय को प्राप्त हुए?

उत्तर—हे गोतम! जिस प्रकार परिणत हुए उसी प्रकार चय को प्राप्त हुए। उसी प्रकार उपचय को प्राप्त हुए उदीरणा को प्राप्त हुए वेदन को प्राप्त हुए तथा निर्जरा को प्राप्त हुए। गाथा—

परिणत चित उपचित, उदीरत वेदित ओर निर्जीर्ण इस एक—एक पद मे चार प्रकार के पुद्गल (प्रश्नोत्तर विषयक) होते हे।

व्याख्यान—नरक के आहार क सम्बन्ध म यहा चार प्रश्न ओर उठत हें। उनका आशय यह हे—

(1) पूर्व काल म ग्रहण किये हुए या आहार किये हुए पुद्गल क्या शरीर रूप मे परिणत हुए हें?

(2) भूतकाल मे ग्रहण किये हुए या आहार किये हुए तथा वर्तमान म ग्रहण किय जाने वाने पुद्गल शरीर म परिणत हुए हें?

(3) भूतकाल म जिन पुद्गला का आहार नही किया लकिन भविष्यकाल म जिनका आहार किया जायगा व पुद्गल शरीर रूप म परिणत हुए?

वेदिता, निर्जीर्णा।

गाथा–

परिणताश्चिताश्चोपचिता, उदीरिता वेदिताश्च निर्जीर्णा।
एकैकस्मिन् पदे चतुर्विधा पुद्गला मवन्ति।।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन! नारकियो द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए? आहार किये हुए तथा (वर्तमान में) आहार किये जाने वाले पुद्गल परिणत हुए? जो पुद्गल अनाहारित हैं तथा (आगे) आहार रूप मे ग्रहण किये जाऐगे वह परिणत हुए? या जो अनाहारित हैं और आगे भी आहृत नही होगे, वह परिणत हुए?

उत्तर–हे गौतम! नारकियो द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए आहार किये हुए और आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए और परिणत होते हुं नही आहार किये हुए (अनाहारित) पुद्गल परिणत नही हुए हैं। जो पुद्गल(आगे) आहार किये जाएगे वह परणित होगे । अनाहारित पुद्गल परिणत नही हुए हैं और जो आगे आहरित नही होगे वह परिणत नही होगे।

प्रश्न–हे भगवन्! नारकियो द्वारा आहारित पुद्गल चय को प्राप्त हुए?

उत्तर–हे गौतम! जिस प्रकार परिणत हुए, उसी प्रकार चय को प्राप्त हुए। उसी प्रकार उपचय को प्राप्त हुए उदीरणा को प्राप्त हुए, वेदन को प्राप्त हुए तथा निर्जरा को प्राप्त हुए । गाथा–

परिणत चित, उपचित, उदीरत वेदित और निर्जीर्ण इस एक–एक पद मे चार प्रकार के पुद्गल (प्रश्नोत्तर विषयक) होते है।

व्याख्यान–नरक के आहार के सम्बन्ध मे यहा चार प्रश्न ओर उठते हैं। उनका आशय यह है–

(1) पूर्व काल मे ग्रहण किये हुए या आहार किये हुए पुद्गल क्या शरीर रूप मे परिणत हुए हें?

(2) भूतकाल मे ग्रहण किये हुए या आहार किये हुए तथा वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाने पुद्गल शरीर मे परिणत हुए हें?

(3) भूतकाल मे जिन पुद्गलो का आहार नही किया लेकिन भविष्यकाल मे जिनका आहार किया जायेगा वे पुद्गल शरीर रूप मे परिणत हुए?

(4) जिन पुद्गलो का भूतकाल मे आहार नही किया और भविष्य मे भी आहार नही किया जायेगा वह पुद्गल शरीर रूप मे परिणत हुए?

पूर्वकाल मे जिन पुद्गलो का आहार किया गया हो या सग्रह किया गया हो उन्हे आहृत या आहारित कहते है। सग्रह करना और खाना दोनो ही आहार है।

पुद्गल शब्द से यहा पुद्गल–स्कध समझना चाहिए परमाणु नही और परिणत होने का अर्थ शरीर के साथ एकमेक होकर शरीर रूप मे हो जाना यहा ग्रहण करना चाहिए।

आहार का परिणाम है–शरीर बनना। जो आहार शरीर के साथ एकमेक हो जाता है अर्थात जिस आहार का शरीर बन जाता है वह आहार परिणत हुआ या परिणाम को प्राप्त हुआ या परिणमा कहलाता है।

इन प्रश्नो के विषय मे आचार्य का कथन है कि यह काकुपाठ है। काकुपाठ वह कहलाता है जो कण्ठ दबाकर बोला जाय। अर्थात जिस बात को जोर से तथा आश्चर्य सहित कहा जाता है वह कथन काकु है। जैसे क्या यह ऐसा ही है?

तात्पर्य यह हे कि गोतम स्वामी न भगवान महावीर से उक्त चार प्रश्न किये। इनक उत्तर म भगवान न फरमाया– ह गोतम । जिन पुद्गला का भूतकाल म आहार किया हे वे भूतकाल म ही शरीर रूप परिणत हा चुक हें। ग्रहण के पश्चात परिणमन हाता ही हे अतएव पूर्वकाल म आहार किय हुए पुद्गल पूर्वकाल म ही परिणत हो गय।

दूसरे प्रश्न मे भूतकाल के साथ वर्तमान सम्बन्धी प्रश्न किया गया है। इसके उत्तर मे भगवान का कथन यह हे कि जिनका आहार हा चुका वे पुद्गल परिणत हो चुके हें ओर जिनका आहार हा रहा हें व परिणत हो रहे हें।

यहा टीकाकार कहते हैं कि जिन पुद्गला का आहार किया ओर जिनका वर्तमान म आहार किया जा रहा हे उसके विषय म कहना चाहिए कि वे पुद्गल परिणत हागे। मगर यहा कहा गया हे कि परिणत हा रह हें। सूत्रकार स्वय कहते हें कि जिन पुद्गला का आहार किया जा रहा हे और आगे किया जायेगा वे पुद्गल परिणत होगे। तात्पर्य यह है कि वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल उसी समय शरीर रूप म परिणत नही हा सकते। वल्कि वे भविष्य मे ही परिणत हागे। अतएव जिन पुद्गला का आहार किया जा चुका और जिनका आहार किया जा रहा हे वह पुद्गल परिणत हो रहे हें यह कथन युक्ति सगत नही मालूम हाता। उनक लिए परिणत होगें' ऐसा कहना चाहिए।

टीकाकार का यह कथन नय–विशेष की विवक्षा से ठीक ही हे।

तीसरा प्रश्न भविष्य के सम्बन्ध म हे। उसका सरल उत्तर यही हे कि भविष्य मे जिन पुद्गलो का आहार करेग वे पुद्गल भविष्य म परिणत होगे।

चोथा यह था कि जिन पुद्गलो का भूतकाल म आहार नही किया और भविष्य म भी आहार नही किया जायेगा व पुद्गल क्या शरीर रूप म परिणत हुए? इसका उत्तर यह हे कि एसे पुद्गल परिणत नही हाग। जिनका ग्रहण ही नही हुआ उनका शरीर रूप म परिणमन भी न हागा।

पहले जा त्रसठ भग वतलाए गय हे उन सवका इसी आधार पर समाधान समझ लना चाहिए।

आहार किय हुए पुद्गल जव शरीर क भीतर गय ता उनका चय उपचय भी होगा ही। इसलिए गातम स्वामी प्रश्न करत हें कि जीव न जिन पुद्गला का आहार किया व पुद्गल चय का प्राप्त हुए? परिणमन क

सबध मे जितने और जैसे प्रश्न किये गये हैं वही सब प्रश्न चय के सबध मे भी समझ लेने चाहिए और उनका उत्तर भी परिणमन सम्बन्धी उत्तरो के समान ही समझ लेना चाहिए।

इस प्रकरण मे टीकाकार के कथनानुसार वाचना की भिन्नता देखी जाती है। एक जगह एक प्रकार की वाचना है तो दूसरी जगह दूसरी ही वाचना है। वाचना के इस भेद को देखकर शका नही करनी चाहिए क्योकि पाठ मे भिन्नता होने पर भी अभिधेय—मूल वक्तव्य सबका समान है। अतएव पाठान्तर से शका नही वरन् शका का समाधान होना चाहिए।

सदेह होता है कि दो पाठ परस्पर विरोधी होने से मान्य नही हो सकते तब एक किस पाठ को मान्य किया जाय? मगर इसमे सदेह की कोई बात नही है। दोनो आचार्य जब शास्त्र लिखने के समय एकत्र हुए तब दोनो को दो तरह की बाते स्मरण मे थी क्योकि पहले शास्त्र लिखे हुए नही थे कण्ठस्थ ही थे। आचार्यो ने अपने अपने स्मरण की बात एक दूसरे के सामने रख दी और कहा कि न हम सर्वज्ञ है न आप सर्वज्ञ है। छद्मस्थ दोनो ही एक से है। तब दोनो मे से किसका स्मरण सही है और किसका नही है यह कैसे कहा जा सकता है? अतएव दोनो बाते लिख दे। इनमे कौन-सी बात सही है यह ज्ञानी जाने।

चय और परिमणमन के काल मे बहुत अन्तर है। पहले परिणमन होता है उसके बाद चय होता है। इसलिए चय और परिणमन दोनो पृथक–पृथक हैं।

ज्ञानी महापुरुषो ने भूतकाल का वर्णन किया है इससे उनकी त्रिकालज्ञता सिद्ध होती है। साथ ही नरक–लोक के प्राणियो के आहार के विषय मे हमे जानकारी होती है। वर्तमान काल मे जो जीव नरक मे हैं और आगे नरक मे जाएगे, उनको कैसा आहार करना पडता है या करना पडेगा यह भी हमे विदित हो जाता है।

तीसरे भग से यह भी प्रकट हो जाता है कि भूतकाल मे तो यह आहार नही किया मगर भविष्य मे करेगे। उस समय होगे वे भी करेगे और नरक मे जाएगे वे भी करेगे। इस कथन से नरक का शाश्वतपन सिद्ध किया गया है।

न भूत मे आहार किया है, न भविष्य मे आहार करेगे, यह कथन अव्यवहारराशि को सूचित करता है, क्योंकि अव्यवहारराशि के जीव उस राशि से न कभी निकले हैं न निकलेगे।

चय के पश्चात् उपचय का कथन है। जो चय किया गया है उसमे और–ओर पुद्गल इकट्ठे कर देना उपचय कहलाता है। जैसे ईंट पर ईंट चुनी गई यह सामान्य चुनाई कहलाई और फिर उस पर मिट्टी या चूना आदि का लेप किया गया, यह विशेष चुनाई हुई। इसी प्रकार सामान्य रूप से शरीर का पुष्ट होना चय कहलाता है और विशेष रूप से पुष्ट होना उपचय कहलाता है।

कर्म–पुद्गलों का स्वाभाविक रूप से उदय मे न आकर करण विशेष के द्वारा उदय मे आना उदीरणा कहलाता हे। प्रयोग के द्वारा कर्म का उदय मे आना उदीरणा है, इस प्रकार की 'कर्म–प्रकृति' की साक्षी भी यहा दी गई हे।

कर्म के फल को भोगना वेदना हे। जिस समय से कर्म–फल का भोग आरम्भ होता है ओर जिस समय तक भोगना जारी रहता हे वह सब काल वेदना का काल कहलाता है।

एक देश मे कर्मो का क्षय होना निर्जरा हे। जिस कर्म का फल भोग लिया जाता हे वह कर्म क्षीण हो जाता है। उसका क्षीण हो जाना निर्जरा हे।

चय उपचय उदीरणा वेदना ओर निर्जरा इन सव के विपय मे परिणमन के समान ही वक्तव्यता हे। वेसे ही प्रश्न वेसे ही उत्तर वैसे ही भग समझने चाहिए। सिर्फ परिणत के स्थान पर चित उपचित उदीरत आदि शव्दा का प्रयाग करना चाहिए।

विभाजन चयनादि सूत्र

मूलपाठ—

प्रश्न—नेरईयाण भते! कतिविहा पोग्गला भिज्जति?

उत्तर—गोयमा! कम्मदव्वग्गवणगहिकिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जति। त जहा—अणु चेव बायरा चेव।

प्रश्न—नेरईयाण भते! कतिविहा पोग्गला चिज्जति?

उत्तर—गोयमा! आहारदव्वग्गणगहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जति। त जहा—अणु चेव बायरा चेव। एव उवचिज्जति ।

प्रश्न—णेरईयाण भते! कतिविहा पोग्गले उदीरति?

उत्तर—गोयमा! कम्मदव्ववग्गणगहिकिच्च दुविहे पोग्गले उदीरेति। त जहा—अणु चेव बायरा चेव।

सेसा वि एव चेव भाणियव्वावदेत्ति णिज्जरेति। उयट्टिसु, उयट्टेति उयट्टेस्ससि। सकामिसु, सकामेति सकामेस्सति। णिहत्तिसु, णिहत्तेति णिहत्तस्सति। णिकायिसु, णिकायिति णिकायेस्संति। सव्वसु वि कम्म—दव्ववग्गणगाहिकिच्च। गाहा—

भेदिय चिया उवचिआ
वेदिआ य निज्जिणणा ।
उव्वट्टण—सकामण—णिहत्तण—
णिकायणे तिविहकालो ।।

प्रश्न–नेरयिका भगवन कतिविधान पुद्गलान उदीरयन्ति?

उत्तर–गोतम। कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधान पुद्गलानुदीरयन्ति। तद्यथा–अणूश्चैव बारदाश्चेव। शेषा अप्येव चेव भणितव्या–वेददयन्ति निर्जीर्यन्ति अपावर्त्तयन अपवर्त्तयन्ति अपवर्तयिष्यन्ति समक्रमयन सक्रमयन्ति सक्रमयिष्यन्ति निघत्तानकार्षु निधत्तान ़ कुर्वन्ति निधतान करिष्यन्ति निकाचितवन्त निकाचयन्ति निकाचयिष्यन्ति। सर्वेष्वपि कर्मद्रव्यवर्गणा मधिकृत्य।

गाथा–

भदित चित उपचिता वेदतिश्च निर्जीर्णा।

अपवर्त्तन–सक्रमण–निधतन–निकाचने त्रिविध काल ।।

मूलार्थ–

प्रश्न–हे भगवन्। नारकी जीवो द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल भदे जाते है?

उत्तर–गौतम। कर्म द्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल भेदे जाते हे। वे इस प्रकार हैं अणु ओर बादर।

प्रश्न–हे भगवन्। नारकी जीव कितन प्रकार के पुद्गलो का चय करते हें?

उत्तर–हे गोतम। आहारद्रव्य–वर्गणा की अपक्षा दो प्रकार के पुद्गला का चय करते हें। वे इस प्रकार हें– अणु ओर बादर। इसी प्रकार उपचय समझना।

प्रश्न–हे भगवन्। नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलो की उदीरणा करते हैं?

उत्तर–गोतम। कर्मद्रव्य– वर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गला की उदीरणा करते हे। वह इस प्रकार है–अणु और बादर। शेष पद भी इस प्रकार कहने चाहिए–वेदते हें निर्जरा करते हें अपवर्त्तन को प्राप्त हुए अपवर्तन को प्राप्त हो रहे हें अपवर्त्तन को प्राप्त करगे। सक्रमण करग। निधत्त होते हैं निधत्त होंगे। निकाचित हुए निकाचित होत हें निकाचित हाग। इन सब पदा म भी कर्मद्रव्य–वर्गणा की अपेक्षा स (अणु ओर बादर पुद्गला का कथन करना चाहिए)।

गाथार्थ–भिद चय का प्राप्त हुए उपचय का प्राप्त हुए वद गय ओर निर्जीर्ण हुए। अपवर्त्तन सक्रमण निधत्तन ओर निकाचन इन चार पदा मे तीनो प्रकार का काल कहना चाहिए।

व्याख्यान—नरक के जीव पुद्गल का आहार करते है यह कहा जा चुका है। अब पुद्गल का अधिकार आरभ होता है। इस अधिकार के अठारह सूत्र कहे गये है।

श्री गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलो को भेदते है?

सामान्य रूप से पुदगलो मे तीन प्रकार का रस होता है तीव्र मध्यम और मन्द। यहा भेदने का अर्थ है इस रस मे परिवर्त्तन करना। जीव अपने उद्वर्त्तनाकरण (अध्यवसाय विशेष) से मद रस वाले पुद्गलो को मध्यम रस वाले मध्यम रस वाले पुद्गलो को तीव्र रस वाल बना डालता है। इसी प्रकार अपवर्त्तनाकरण द्वारा तीव्र रस के पुद्गलो को मध्यम रस वाले और मध्यम रस वालो को मद रस वाले बना सकता है। जीव अपने अध्यवसाय द्वारा ऐसा परिवर्तन करने मे असमर्थ है तो क्या नारकी जीव भी ऐसा कर सकते है? क्या वे तीव्र रस वाले पुद्गलो को मन्द रस के रूप मे और मद रस को तीव्र रस के रूप मे परिणत कर सकते है? अगर कर सकते है तो कितने प्रकार के पुद्गलो को परिणत कर सकते है? अर्थात भेद सकते है?

और बादरत्व अथवा सूक्ष्मता या स्थूलता समझनी चाहिए क्योकि ओदरिक आदि द्रव्यो मे कर्मद्रव्य ही सूक्ष्म है।

यद्यपि कर्म– वर्गणा चतु स्पर्शी है। वह हमे दिखाई नही देती तथापि ज्ञानी जन उसे देखते हैं और उसमे अणुत्व एव बादरत्व का भेद भी देखते हैं। उन दिव्य ज्ञानियो की अपेक्षा ही कर्म द्रव्य को अणु और बादर कहा गया है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं–नारकी जीव कितने पुदगलो का चय करते हैं?

भगवान् उत्तर देते हैं–दो प्रकार के पुद्गलो का चय करते हैं–अणु और बादर का।

यहा अणु का अर्थ सूक्ष्म न कर 'छोटा करना चाहिए। आहार–द्रव्य की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल चय होते हैं। आहार के कई पुद्गल छोटे होते हैं और कई मोटे होते हैं।

शरीर के अपेक्षा चय उपचय का विचार पहले हो चुका है यहा आहार की अपेक्षा विचार किया जा रहा है।

यहा शरीर मे आहार का पुष्ट होना चय कहलाता है और विशेष पुष्ट उपचय कहलाता हैं। उपचय भी दोनों प्रकार के छोटे–छोटे और बादर–पुद्गलो का होता है।

कर्मद्रव्य की अपेक्षा उदीरणा भी दो ही प्रकार के पुद्गलो की होती है–अणु और बादर की। यहा अणु इसलिए कहा गया है कि चय और उपचय आहार–द्रव्यो का होता है, मगर निर्जरा कर्मद्रव्यो की होती है।

गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया–भगवन्! नारकियो द्वारा कितने प्रकार के पुद्गलो का वेदन होता है?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा–अणु और बादर दो प्रकार के पुद्गलो का वेदन होता है। निर्जरा के विषया मे भी यही उत्तर समझना चाहिए।

गौतम स्वमी फिर पूछते हैं–भगवन्! नारकियो के कितने प्रकार के उपवर्त्तन हुए हो रहे हैं और होगे?

अध्यवसाय विशेष के द्वारा कर्म की स्थिति और कर्म के रस को कम कर देना अपवर्तन कहलाता है। यही बात उद्वर्तन के सम्बन्ध म है। अपवर्त्तनाकरण से कर्म की स्थिति आदि कम की जाती हे ओर उद्वर्त्तनाकरण से अधिक की जाती हे।

मूल प्रकृति से अभिन्न उत्तर प्रकृति का अध्यवसाय विशेष द्वारा एक का दूसरे रूप मे बदल जाना संक्रमण कहलाता है।

यहा यह आशका की जा सकती है कि आत्मा का सक्रमण क्यो नही होता? इसका उत्तरा यह है कि आत्मा अमूर्त है अतएव उसका सक्रमण होना सभव नही है।

अगर आत्मा अमूर्त है तो वह कर्मो को कैसे हटा सकती है? आकाश अमूर्त होने के कारण कर्मो को हटाने मे असमर्थ है तो आत्मा को कैसे समर्थ माना जाय? इसका उत्तर यह है कि आत्मा मे अध्यवसाय की शक्ति है। इस शक्ति से वह सक्रमण करती है। यद्यपि आकाश जड और आत्मा चेतन है। आत्मा की इस विशेषता के कारण दोनो का सर्वथा समान नही कहा जा सकता। आत्मा को भले बुरे का ज्ञान है। यद्यपि आत्मा स्वय कुछ नही करती लेकिन उसकी अध्यवसाय रूप शक्ति यह कार्य करती है। उदाहरण [illegible] कारीगर की बनाई हुई कहलाती है लेकिन उसके [illegible] नही दिखलाई देते। उसने जो कुछ किया है वह औजारो [illegible]। यद्यपि कारीगर ने औजारो की सहायता से [illegible] की बनाई हुई ही कहलाती है इसी प्रकार आत्मा [illegible] अध्यवसाय की शक्ति द्वारा ही करती है। अतः अच्छे [illegible] करती है और बुरे अध्यवसाय से बुरे कर्म।

प्रदेशी राजा अपने अशुभ कर्मो का शुभ रूप म पलट कर सूर्याभ देव हुआ था। तात्पर्य यह हैं कि आत्मा ही कर्मो का कर्त्ता और हर्त्ता है। उसमे असीम शक्ति है। वह शुभ को अशुभ रूप मे ओर अशुभ को शुभ रूप म परिवर्तित भी कर सकता है। यह परिवर्तन ही सक्रमण कहलाता है।

अगला प्रश्न है—नारकियो के कितने प्रकार के पुद्‌गल निधत्त हुए ?

भिन्न—भिन्न पुद्‌गलो को इकट्ठा करके धारण करना निधत्त करना कहलाता है। अर्थात कर्म—पुद्‌गलो एक—दूसरे पर रख देना, जैसे एक थाली मे बिखरी हुई सुइयो को एक के ऊपर दूसरी आदि के क्रम से जमा देना निधत्त करना कहलाता हैं। निधत्त शब्द यहा रूढ है।

निधत्त कर्म की अवस्था विशेष है। इस अवस्था को प्राप्त हुए कर्मो मे उद्वर्त्तना या अपवर्तना करण ही परिवर्तन कर सकते हैं अन्य कारण नही। तात्पर्य यह है कि निधत्त अवस्था से पहले तो ओर भी करण लग सकते थे मगर निधत्त अवस्था मे उक्त दो करणो के अतिरिक्त कोई तीसरा करण नही लग सकता। जब कर्म पूर्वोक्त उद्वर्त्तना और अपवर्तना करण के सिवाय और किसी करण का विषय न हो इस अवस्था का नाम निधत्त है।

अब प्रश्न यह कि नारकी कितने प्रकार के कर्मो को निकाचित करते हैं?

जिन कर्मो को निधत्त किया गया था उन्हे ऐसा मजबूत कर देना कि जिससे वे एक दूसरे से अलग न हो सके और जिनमे कोई भी करण कुछ भी फेरफार न कर सके इसे निकाचित करना कहते हें। उदाहरणार्थ—सुइया को एक—दूसरे के पास इकट्ठा कर देना निधत्त करना कहलाता हे और उसके पश्चात उन्हे अग्नि में तपाकर हथोडे से ठोक दिया ओर आपस मे इस प्रकार मिला दिया जिससे वे एक—दूसरे से अलग न हो सकें। सुइया के समान कर्मो का इस प्रकार मजबूत हो जाना कि फिर उसम परिवर्तन न हा निकाचित हो जाना कहलाता हे।

तात्पर्य यह है कि निकाचित कर्म वह कहलात हें जिनम किसी प्रकार का सक्रमण न हा सके, जिस रूप मे बाधे हें उसी रूप म भोगन पड जिनमे अपवर्तना उद्वर्तना करण भी कुछ न कर सक। एक राग साध्य हाता है और एक असाध्य। असाध्य रोग मे ओषध का प्रभाव नही पडता। इसी प्रकार निधत्त अवस्था तक तो उपाय हा सकता है परन्तु निकाचित अवस्था मे कोई उपाय कारगर नही हाता। निकाचित कर्म ता जिस रूप म बाध हें उसी रूप मे भोगने पडेगे।

भिज्जति आदि पदो का सग्रह काने के लिए जो गाथा कही गई है उसका तात्पर्य यह है कि इन सब पदो को इसी प्रकार समझना चाहिए।

अठारह सूत्रो मे से यह बतलाया जा चुका है कि नरक के जीव कितने प्रकार के पुद्गलो को भेदते है चय करते है उपचय करते है उदीरणा वेदना निर्जरा अपवर्तन सक्रमण निधत्तन और निकाचन करते है? इन सूत्रो मे से अन्त के चार सूत्रो मे तीनो काल जोड देना चाहिए जिसमे यह बारह हो जाएगे और प्रारम्भ के छह सूत्रो इनमे मिला देने से सब की सख्या अठारह हो जायेगी यह अठारह सूत्रो का व्याख्यान हो गया।

काल–चलितादि सूत्र

मूलपाठ

प्रश्न–नेरइया ण भते। जे पोग्गले तेयाकम्मताए गेण्हति ते कि तीतकालसमये गेण्हति?
पडुप्पण्णकालसमए गेण्हति? अणागयकालसमये गेण्हति?

उत्तर–गोयमा। णोतीयकालसमय गेण्हति पडुप्पण्णकालसमये गेण्हति,णो अणागयकालसमए गेण्हति ।

प्रश्न–णेरइया ण भते।जे पोग्गले तेयाकम्मत्ताए गहिए उदिरेंति,ते कि तीयकालसमयगहिए पोग्गले उदीरति? पडुप्पण्णकालसमय–घेप्पमाणे पोग्गलेउदीरेति? गहणसमय–पुरक्खडे पोग्गले उदीरेति?

उत्तर–गोयमा। अतीतकालसमयगहिए पोग्गले उदीरेति णो पडप्पण्णकालसमयघेप्प–माणे पोग्गले उदीरेति णो गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदीरेति।एव देति, णिज्जरेति।

प्रश्न–णेरइया ण भते। जीवाओ कि चलिअ कम्म बधति? अचलिअ कम्म बधति?

उत्तर–गोयमा। णो चलिय कम्म बधति,अचलिअ कम्म बधति ।

प्रश्न–णेरईया ण भते। जीवओ कि चलिअ कम्म उदीरेति? अचलिअ कम्म उदीरेति?

उत्तर–गोयमा। णो चलिअ कम्म उदीरेति अचलिअ कम्म उदीरेति एव वेदेति उयट्टेति, सकामेमि, निहत्तेमि निकायेति। सव्वेसु अचलिय, नो चलिय।

प्रश्न–नेरइया ण भते। जीवाओ कि चलिय कम्म निज्जरेति? अचलिअ कम्म णिज्जरेति?

उत्तर–गोयमा! चलिय कम्म णिज्जरेति, णो अचलिय कम्म णिज्जरेति । गाहा–

बधो–दय वेदो–यट्ट–सकमे तह णिहत्तण–निकाये ।
अचलियकम्म तु ए भवे चलिय जीवाओ णिज्जरए ।।

सस्कृत छाया–प्रश्न–नैरयिका भगवन् ! यान् पुदगल तैजस–कार्मणतया गृह्णन्ति तान् किमतीतकालसमये ग्रह्णन्ति? प्रत्युत्पन्नकालसमये गृह्णन्ति ? अनागतकालसमये गृह्णन्ति ?

उत्तर–गौतम ! नाऽतीतकालसमये गृह्णन्ति प्रत्युत्पन्नकालसमये गृह्णन्ति नाऽनागतकालसमये गृह्णन्ति ?

प्रश्न–नैरयिका भगवन् ! यान् पुद्गलान् तैजसकार्मणतया गृहीतान् उदीरयन्ति ताान् किमतीतकालसमयगृहीतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति? प्रत्युत्पन्नकालसमयगृह्यमाणान पुद्गलान्
उदीरयन्ति ? ग्रहणसमयपुरस्कृतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति ?

उत्तर–गौतम् ! अतीतकालसमयगृहीतान् पुद्गलान् उदीरवन्ति नो प्रत्युत्पन्नकालसमयगृह्यमाणान् पुद्गलान् उदीरयन्ति नो ग्रहणसमयपुरस्कृतान् पुद्गलान् उदीरयन्ति। एव वेदयन्ति, निर्जरयन्ति।

प्रश्न–नैरयिक भगवन्।जीवात् कि चलित कर्म
बन्धति ? अचलित कर्म बन्धन्ति ?

उत्तर–गौतम ! नो चलित कर्म बन्धन्ति अचलित कर्म बन्धन्ति।

प्रश्न–नैरयिका भगवन्! जीवात् कि चलित कर्म
उदीरयन्ति ? उचलित कर्म उदीरयन्ति ?

उत्तर–गौतम ! नो चलित कर्म उदीरयन्ति अचलित कर्म उदीरयन्ति। एव वेदयन्ति अपवर्त्तयन्ति सक्रमयन्ति
निधत्त कुर्वन्ति निकाचयन्ति सर्वेषु अचलितम नो चलितम।

प्रश्न–नैरयिक भगवन! जीवात् कि चलित कर्म निर्जरयन्ति। अचलित कर्म निर्जरयन्ति ?

उत्तर–गौतम! चलित कर्म निर्जरयन्ति ना अचलित कर्म निर्जरयन्ति।

गाथा – बधोदय–वेदाऽपवर्त्तन–सक्रम तथा निधत्तन–निकाच।
अचलित कर्म तु भवेत चलित जीवाद् निर्जरयत।।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन! नारकी जीव जिन पुद्‌गला को तैजस—कार्मण रूप मे ग्रहण करते हैं उन्हे क्या अतीत काल समय म ग्रहण करते हैं ? वर्त्तमान काल—समय में ग्रहण करते है? या भविष्यकाल समय में ग्रहण करते हैं?

उत्तर—हे गौतम! अतीतकाल—समय में ग्रहण नहीं करते वर्त्तमान—काल मे ग्रहण करते हे भविष्यकालसमय मे ग्रहण नहीं करते।

प्रश्न—हे भगवन! नारकी तैजस—कार्मण रूप में ग्रहण किये हुए जिन पुद्‌गलो की उदीरणा करते हैं सो क्या अतीत काल—समय में गृहीत पुद्‌गलो की उदीरणा करते हैं? या वर्त्तमान काल—समय मे ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलो की उदीरणा करते हैं? या जिनका उदय आगे आने वाला है ऐसे—भविष्यकालीन—पुद्‌गलो की उदीरणा करते हैं?

उत्तर—हे गौतम! अतीत काल—समय मे ग्रहीत पुद्‌गलो की उदीरणा करते हैं, वर्त्तमान काल—समय मे ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलो की उदीरणा नही करते, तथा आगे ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलो की भी उदीरणा नही करते। इसी प्रकार वेदते हैं और निर्जरा करते हैं।

प्रश्न—भगवन्! नारकी क्या जीव—प्रदेश से चलित कर्म को बाधते हैं या अचलित कर्म को बाधते हैं?

उत्तर—गौतम! चलित कर्म को नही बाधते अचलित कर्म का बाधते हैं।

प्रश्न—भगवन्! नारकी क्या जीव—प्रदेश से चलित कर्म की उदीरणा करते हैं अथवा अचलित कर्म की उदीरणा करते हें?

उत्तर—गौतम! नारकी चलित कर्म की उदीरणा नही करते वरन् अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं। इसी प्रकार वेदन करते हैं अपवर्त्तन करते हैं सक्रमण करते हें निधत्त करते हें ओर निकाचित करते हैं। इन सब पदा मे अचलित कहना चाहिए चलित नही।

प्रश्न—भगवन्! क्या नारकी जीव—प्रदेश से चलित कर्म की निर्जरा करते हैं या अचलित कर्म की निर्जरा करते हैं?

उत्तर—गोतम! चलितकर्म की निर्जरा करते हैं, अचलित कर्म की निर्जरा नही करते। गाथा—

बध उदय वेदन अपवर्त्तन सक्रमण निधत्तन ओर निकाचल क विषय मे अचलित कर्म समझना चाहिए ओर निर्जरा के विषय म चलित कर्म समझना चाहिए।

व्याख्यान–पुद्गल सम्बन्धी अठारह सूत्रो की व्याख्या के अनन्तर चार सूत्रो का अधिकार और निरूपण किया जाता है।

गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं–भगवन्! नारकी जीव जिन पुद्गलो को तैजस और कार्मण शरीर के रूप मे ग्रहण करते है उन्हे अतीत काल मे ग्रहण करते हैं या वर्त्तमान काल–समय मे ग्रहण करते है? तात्पर्य यह है कि ग्रहण किये हुए पुद्गलो का पुद्गल नाम मिट कर तैजस और कार्मण शरीर हो जाता है सो किस काल समय मे ?

यहा तीनो कालो के साथ 'समय विशेषण लगाया गया है अर्थात काल और समय इन दो पदो का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि काल शब्द के अनेक अर्थ हैं और 'समय के भी अनेक अर्थ हैं। अकेले काल शब्द का प्रयोग करने से काला (कृष्ण) अर्थ भी लिया जा सकता था। ऐसा अर्थ यहा प्रस्तुत नही है यह प्रकट करने के लिए काल के साथ समय विशेषण लगा दिया गया है।

आशका की जा सकती है कि अगर ऐसा था तो अतीत समय ऐसा कह देने से काम चल सकता था फिर काल पद व्यर्थ क्यो कहा जाये? इसका उत्तर यह है कि समय–समाचार रूप या प्रस्ताव रूप भी होता है। कोई इसी समय को न समझ ले इसलिए भ्रम निवारण के लिए 'काल शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार काल का विशेषण समय और समय का विशेषण काल कह देने से किसी प्रकार का भ्रम नही रहता और सरलता से इष्ट अर्थ समझा जा सकता है।

एक बात और है। यहा अतीतकाल' के साथ 'समय' शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि अतीत काल कह देने मात्र से भी काम चल जाता मगर ऐसा करने से तो न जाने कितनी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी का अर्थ समझा जाता। किन्तु यहा समीपवर्ती अतीत काल का अर्थ ही ग्रहण करना है। काल का छोटे से छोटा अश लेना है और वह भी भूतकाल का ही। अतएव भूतकाल को सूचित करने के लिए अतीत शब्द ग्रहण किया है और उसका छोटे से छोटा अश समझाने के लिए समय शब्द का प्रयोग किया है।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि नारकी जीव जिन पुद्गलो को तैजस और कार्मण शरीर के रूप मे ग्रहण करते है उन्हे अतीत काल मे ग्रहण करते हैं वर्त्तमान मे ग्रहण करते हैं या भविष्य काल मे ग्रहण करते है ?

इस प्रश्न का भगवान ने उत्तर दिया—गोतम । नारकी जीव अतीत काल मे तैजस—कार्मण शरीर रूप मे पुद्गलो को ग्रहण नही करते इसी प्रकार भविष्य मे भी ग्रहण नही करते किन्तु वर्तमान मे ग्रहण करते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। अतीत काल नष्ट हो चुका है भविष्य काल अभी तक उत्पन्न नही हुआ। जो आदमी मर गया है या जो अब तक उत्पन्न ही नहीं हुआ वह पत्र नही लिख सकता। पत्र वही लिखेगा जो वर्तमान मे है।

प्रश्न होता है कि जब प्रत्येक कार्य वर्तमान मे ही हो सकता है भूतकाल या भविष्यकाल मे नही हो सकता यह बात प्रसिद्ध है तो यहा तीनो कालो को लेकर प्रश्न क्यो किया गया है?

इसका उत्तर यह है कि भगवान् को लोकोत्तर विषय में लौकिक बात दिखानी है। एक 'क' वर्ण के उच्चारण में भी असख्यात समय लग जाते हैं लेकिन हमे असख्यात समय का अनुभव नहीं होता। मगर ज्ञानी जानते हैं कि नेत्र मूद कर खोलने मे कितना समय लगता है। इन समयों में से किस समय क्या होता है यह बताने के लिए ही यह चर्चा की गई है।

क वर्ण के उच्चारण मे असख्यात समय लगते हैं यह अनुभव हमे नहीं होता। अगर अनुभव होता तो गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न ही क्यो करते ? असख्यात समय किस प्रकार लग जाते हैं इस बात को पहले दिये हुए कपडे के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। बल्कि ज्ञानियो का कथन तो यह हे कि एक वस्त्र का एक तार टूटने मे भी असख्यात समय लग जाते हैं क्योकि एक तार रूई के रेशो से बना है। पहले एक रेशा टूटेगा तब दूसरा टूटेगा। पहले रेशे के टूटे बिना दूसरा रेशा नही टूट सकता। इस प्रकार एक तार टूटने मे भी असख्यात समय लग जाते हैं।

जिसका काम जितने से चल जाता है वह काल के उतने ही हिस्से कर लेता है। आप लोगो ने वर्ष को महीनो मे विभक्त किया। महीनो को सप्ताहा ओर दिनो मे दिनो को घटो मे, घटो को मिनटो मे और मिनटा को सेकिडो मे बाट लिया। सैकिडो पर आकर आप रुक गये। लेकिन क्या सेकिडा के हिस्से नहीं हो सकते? अवश्य। मगर आपका काम इतने से ही चल जाता हे इस कारण आप आगे विभाजन नहीं करते। किन्तु ज्ञानियो को तो एक समय से भी काम हे ओर अपनी दिव्य दृष्टि मे वे उस 'समय को स्पष्ट

रूप से देखते भी हैं। ज्ञानियो द्वारा किये गये इस काल–विभाग से ही अनुभव लगाया जा सकता है कि शास्त्र कितनी सूक्ष्म दृष्टि से लिखे गये हैं।

दूसरा प्रश्न है–हे भगवन! नारकी जिन पुद्‌गलो को तैजस कार्मण शरीर के रूप मे ग्रहण करते है उन पुद्‌गलो की जो उदीरणा होती है वह भूतकाल मे गृहीत्त पुद्‌गलो की होती है या वर्तमान काल मे ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गला की या भविष्य मे ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलो की होती है?

इस पश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया–गौतम ! नारकी तैजस–कार्मण शरीर के रूप मे ग्रहण किये हुए जिन पुद्‌गलो की उदीरणा करते है वे पुद्‌गल भूतकाल मे ग्रहण किये हुए होते हैं वर्तमान या भविष्य काल मे ग्रहण किये हुए या किये जाने वाले नही होते।

बौद्ध लोग क्षणिकवादी है। वे वर्तमान काल मे ठहरने वाली वस्तु ही मानते हैं भूत और भविष्य काल मे किसी भी पदार्थ का रहना नही मानते। जो वर्तमान क्षण मे है उसका दूसरे क्षण मे समूल नाश हो जाता है। कोई भी पदार्थ वर्तमान के अतिरिक्त किसी भी काल मे नही रहता। लेकिन जैन शास्त्र ऐसा नही मानता। जैन शास्त्र कहता है कि अगर भूतकाल का पुण्य–पाप सर्वथा नष्ट हो जावे और आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न रहे तो फिर से भूतकाल के कर्म वर्तमान मे उदित ही न हो। भूतकाल और भविष्यकाल को एकदम अस्वीकार कर देने से ससार के समस्त व्यवहार ही भग हो जाएगे। मान लीजिए एक मनुष्य ने दूसरे को ऋण दिया। कुछ दिनो के बाद ऋण देने वाला मागने गया तो ऋण लेने वाला कहेगा – वाह! किसने ऋण दिया और किसने ऋण लिया है! जिसने ऋण दिया था और जिसने ऋण लिया था वह दोनो तो उसी समय सर्वथा समाप्त हो गये। अब तुम कोई दूसरे हो और मै भी और ही हू। इसी प्रकार अगर कर्म भी नष्ट हो जाते हो तो उनका फल भी किसी को भोगना न पडेगा और स्वर्ग–नरक आदि की मान्यताए हवा मे उड जाएगी।

उदीरणा भूतकाल मे बधे हुए कर्म की होती है। वर्तमान मे कर्म बध ही रहा उसकी उदीरणा नही हो सकती और भविष्यकालीन कर्म अब तक बधे ही नही है। उसकी उदीरणा होगी ही कैसे!

यहा तैजस और कार्मण दोनो शरीरो का कथन क्यो किया गया है ? अकेले कार्मण शरीर का कथन क्यो नही किया? इस प्रश्न का उत्तर यह

हे कि तेजस शरीर आठ स्पर्शी हे ओर कार्मण चतुस्पर्शी है। कार्मण शरीर तेजस क बिना नही रह सकता जैस बिजली ओर ताव का तार। शक्ति बिजली ओर तार मिलकर उपयोगी होते हैं। इसी प्रकार बिना तेजस शरीर क कार्मण शरीर ठहर नहीं सकता। इसी कारण यहा दाना का ही ग्रहण किया गया हे।

आत्मा के साथ पहले का जो तैजस–कार्मण शरीर हे वह सूक्ष्म है। वर्तमान म जा पुद्‌गल ग्रहण किये जाते हें उनका पुद्‌गल नाम मिटकर तैजस कार्मण नाम हा जाता हे। इस सूत्र से यह सिद्ध होता है कि जीव कहीं भी जाता हे तेजस ओर कार्मण उसके साथ सदैव बन रहते हें।

तीसरा प्रश्न हे–भगवन! नारकी जिन कर्मो को वदते हैं–जिन कर्मों का फल भागते हें वे कर्म भूतकाल क हें या वर्तमान काल के या भविष्य काल क?

इसक उत्तर म भगवान ने कहा–गोतम! अतीतकाल मे ग्रहण किये हुए कर्मों का वदन हाता हे वर्तमान के तथा भविष्य के कर्मों का वेदन नही होता। इसी प्रकार निर्जरा भी भूतकाल मे ग्रहण किये हुए कर्मों की होती है, वर्तमान या भविष्यकालीन कर्मो की नही होती। यह चार सूत्र हुए। आगे कर्म–अधिकार से आठ सूत्र कहे जात हें।

पहला प्रश्न हे–भगवन! नारकी जीव चलित कर्म बाधता हे या अचलित कर्म बाधता हे?

इस प्रश्न का उत्तर हे– गोतम! नारकी जीव अचलित कर्म का बध करता हे चलित कर्म का बध नही करता।

यहा यह जिज्ञासा हा सकती हे कि जो अचलित हे उसका बाधना क्या? जा गाय बधी हे वह ता बधी है ही उसकी बाधना क्या ? बाधना तो उस पडता हे जा छूटी हा। इसी प्रकार जा कर्म अचलित हें–स्थिर हें उन्हे क्या बाधना?

इसका समाधान करने स पहल यह जान लना आवश्यक है कि चलित कर्म और अचलित कर्म की व्याख्या क्या है।

गाय का एक बार बाधन क लिए लात हें ओर एक बार बाहर निकालन ल जात हें। यद्यपि गाय दाना अवस्थाआ म चलित है लकिन बाहर

निकलती हुई गाय बधनी है या बाधने के लिए खूटे पर आई हुई? बधने के लिए खूटे के पास आई हुई गाय बाधी जाती है।

तो जीव के प्रदेश से जो कर्म चलायमान हो गये उन्हे जीव नही बाधता क्योकि वे ठहरने वाले नही है। ऐसे कर्म चलित कहलाते हैं। इससे विपरीत कर्म अचलित कहे जाते हैं।

व्याख्यान सभा मे एक भाई आ रहा है और एक जा रहा है। एक भाई यहा सब को यथास्थान बैठाने वाला है। बैठाने वाला भाई उसी को बिठलाएगा जो बैठने के लिए आया हैं। जो जा रहा है उसके बैठाने के लिए व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता है? जो जा रहा है और जो आ रहा है दोनो ही चलित जान पडते है लेकिन आने वाला बैठने के लिए आया है अतएव वह स्थिर है और जाने वाला चलित है।

यही बात कर्म के सम्बन्ध मे है। जीव आने वाले कर्मो को बाधता है या जाने वाले कर्मो को? इसका उत्तर दिया गया है—आने वाले अर्थात् आये हुए कर्मो को। शास्त्रीय परिभाषा मे जाने वाले—अर्थात् जो कर्म जीव—प्रदेश मे नही रहने वाले है उन कर्मो को चलित कहते है और उनसे विपरीत को अचलित कहते है। इसी आधार पर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि जीव चलित कर्म बाधता है अथवा अचलित कर्म बाधता है? भगवान् ने उत्तर दिया—जीव अचलित कर्म बाधता है चलित नही।

दूसरा प्रश्न है—भगवन्! नरक के जीव चलित कर्म की उदीरणा करते है या अचलित कर्म की?

इसका उत्तर भगवान् ने यह फरमाया है कि नारकी अचलित कर्म की उदीरणा करते है।

जो कर्म चलित है वह तो आप ही चलायमान हो रहा है उसकी उदीरणा क्या होगी। जो मनुष्य स्वय जा रहा है उसका बाहर निकालना ही क्या। बाहर तो वही निकाला जायेगा जो बैठने की चष्टा कर रहा हो या बैठा हो। जो बैठा हो उसे निकालने की चष्टा करना ही उदीरणा है अर्थात कर्मो को उनके जाने के नियत समय से पहले ही भगा दना उदीरणा कहलाती है। अतएव उदीरणा अचलित कर्म की ही होती है चलित की नही।

तीसरा प्रश्न है– वेदना चलित कर्म की होती है या अचलित कर्म की? इस प्रश्न का उत्तर भी यही है कि अचलित कर्म की वेदना होती है चलित कर्म की नही।

तात्पर्य यह है कि जो कर्म जीव–प्रदेश से चलित हो गया है वह जीव को अपने फल देने मे समर्थ नही हो सकता। जो जहा स्थित नहीं है वह वहा फल भी उत्पन्न नही कर सकता।

चौथा प्रश्न है–तीव्र रस का मद रस आदि अचलित कर्म का होता है या चलित कर्म का? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है कि उचलित कर्म का होता है चलित का नही।

इसी प्रकार पॉचवा प्रश्न सक्रमण का छठा निधत्त का और सातवा निकाचित का है। इन सब प्रश्नो का उत्तर एक ही है–अचलित कर्म का ही सक्रमण निधत्तन और निकाचन होता है।

आठवा प्रश्न निर्जरा के सबध मे है। निर्जरा चलित कर्म की होती है अचलित की नही। आत्मप्रदेशो से कर्म– पुद्‌गलो को हटा देना निर्जरा है। अचलित कर्म आत्मप्रदेश से हटते नही हैं, चलित कर्म ही हटते हैं। इसलिए निर्जरा चलित कर्म की होती है अचलित कर्म की नही।

इन आठ प्रश्नो की सग्रह गाथा मे यही बात कही गई है। वध–उदय, वेदना, उदीरणा अपवर्त्तन सक्रमण निधत्त और निकाचित इन सात प्रश्नो मे अचलित कर्म कहना चाहिए और आठवे प्रश्न निर्जरा से चलित कर्म कहना चाहिए।

असुरकुमार देवो का वर्णन

मूलपाठ

प्रश्न–असुरकुमाराण भते! केवइय काल ठिई पण्णत?

उत्तर–गोयमा! जहण्णेण दस वाससह स्साहइ, उक्कोसेण सातिरेगे सागरोवग।

प्रश्न–असुरकुमाराण भते! केवइकालस्स अणमति वा पाणमति वा?

उत्तर–गोयमा! जहण्णेण सत्तणह थोवाण, उक्कोसेण साइरेगस्स पक्खस्स आणमति वा पाणमति वा।

प्रश्न–असुरकुमाराण भते! आहारट्ठी?

उत्तर–हता, आहारत्ती।

प्रश्न–असुरकुमाराण भते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

उत्तर–गोयमा! असुरकुमाराण दुविहे आहारे पन्नते तजहा–अभोगनिव्वत्तिए अणा–भोगनिव्वत्तिए। तत्थ ण जे से अणाभोगनिव्व त्तिए से अणुसमय अविरहिए आहारट्ठे समुप्प–ज्जइ। गोयमा! तत्थ ण जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहण्णेण चउत्थभत्तस्स उक्कोसेण साइरेगस्स वाससहस्ससस आहरट्ठे समुप्पज्जइ।

प्रश्न–असुरकुमाराण भते! कि आहार आहारति?

उत्तर–गोयमा! दव्वओ अणतपएसिआइ दव्वाइ खित्त–काल–भाव–पन्नवणागमेण सेस जहा नेरइयाण जाव।

प्रश्न–ते ण तेसि पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति?

उत्तर–गोयमा! सेइंदियत्ताए सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए इट्ठत्ताए इच्छियत्ताए णो अइत्ताए सुहत्ताए णो दुहत्ताए भुज्जो भुज्जोपरिणमिति।

प्रश्न–असुरकुमाराण पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया?

उत्तर—असुरकुमाराभिलावेण जहा नेरइयाण, जाव चलिअ कम्म निज्जरति।

सस्कृत छाया—प्रश्न—असुरकुमाराणा भगवन! कियत्काल स्थिति प्रज्ञप्ता?

उत्तर—गौतम! जघन्येन दश वर्षसहस्राणि उत्कृष्टेन सातिरेक सागरोपम्।

प्रश्न—असुरकुमारा भगवन! कियत्कालेन अनामन्ति वा प्राणामन्ति वा?

उत्तर—गौतम! जघन्येन सप्तभि स्तोकै उत्कृष्टेन सातिरेकेण पक्षेण आनमन्ति वा प्राणमन्ति वा।

प्रश्न—असुरकुमार। भगवन्! आहारार्थिनि?

उत्तर—हन्त आहारार्थिन।

प्रश्न—असुरकुमाराणा भगवन! कियत्कालेन आहारार्थ समुत्पद्यते?

उत्तर—गौतम! असुरकुमाराण द्विविध आहार प्रज्ञप्त तद्यथा—आभोगनिर्वर्त्तित। तत्र योऽसौ अनाभोगनिर्वर्त्तित सोऽनुसमयमविरहित आहारर्थ समुत्पद्यते। गौतम! तत्र योऽसो आभोगनिर्वर्त्तित स जघन्येन चतुर्थभक्तेन, उत्कृष्टेन सातिरेकेण वर्षसहस्रेण आहारार्थ समुत्पद्यते।

प्रश्न—असुरकुमारा भगवन्! किमाहारमाहरन्ति?

उत्तर—गौतम! द्रव्यतोऽनन्तप्रदेशकानि क्षेत्र—काल—भावे प्रज्ञापनागमेन। शेष यथा नैरयिकाणा यावत्—

प्रश्न—ते तेषा पुद्गला कीदृशतया भूयो भूय परिणमन्ति?

उत्तर—गौतम! श्रोत्रेन्द्रियतया, सुरूपतया सुवर्णतया,इष्टतया ईप्सिततया हृद्यतया ऊर्ध्वतया नो अधस्तया सुखतया नो दु खतया भूयो भूय परिणमन्ति।

प्रश्न—असुरकुमाराण भगवन् ! पूर्वाहृता पुद्गला परिणता?

उत्तर—गौतम! असुरकुमाराभिलापेरन तथा नेरयिकाणा यावत चलित कम निर्जरयन्ति।

मूलार्थ—(श्री गोतम स्वामी प्रश्न करते हैं)— भगवन्! असुरकुमारा की स्थिति कितनी है?

उत्तर—गोतम! जधन्य दस हजार वर्ष की ओर उत्कृष्ट सागरापम से कुछ अधिक की।

प्रश्न—भगवन्! असुरकुमार कितने समय म श्वास लेते हे और कितने समय म नि श्वास छोडत हैं?

उत्तर–गौतम। जघन्य सात स्तोक रूप काल मे और उत्कृष्ट एक पखवाडे से अधिक काल मे।

प्रश्न–भगवान्। असुरकुमार आहार के अभिलाषी हैं?

उत्तर– हा गौतम। हैं।

प्रश्न– भगवन। असुरकुमारो को कितने काल मे आहारा की अभिलाष होती है?

उत्तर– असुरकुमारो का आहार दो प्रकार का है– एक आभोगनिर्वर्तित दूसरा अनाभोगनिर्वर्त्तित। अनाभोगनिर्वर्त्तित अर्थात् बुद्धिपूर्वक न होने वाले आहार की अभिलाषा उन्हे निरन्तर हुआ करती है। आभोगनिर्वर्त्तित आहार की अभिलाषा जघन्य चार भक्त मे (एक अहोरात्रि में) और उत्कृष्ट हजार वर्ष से कुछ अधिक काल मे होती है।

प्रश्न– भगवन। असुरकुमार किन पदार्थों का आहार करते हैं?

उत्तर– गौतम। द्रव्य से अनन्त प्रदेश वाले द्रव्य का आहार करते है

क्षेत्र काल आदि के विषय मे पण्णवणासूत्र का वही वर्णन जान लेना चाहिए जो नारकियो के पकरण मे कहा गया है?

प्रश्न–भगवन। असुरकुमारो द्वारा आहार किये हुए पुद्गल किस रूप मे बार–बार परिणत होते है?

उत्तर– गौतम। श्रोत्रेन्द्रिय रूप मे सुवर्ण रूप मे इच्छित रूप मे मनोहर रूप मे ऊर्ध्व रूप मे और सुख रूप मे परिणत होते है। अघ रूप मे या दु ख रूप मे परिणत नही होते।

प्रश्न–भगवन। असुरकुमारो द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए?

उत्तर–गौतम । असुरकुमार के अभिलाप से अर्थात नारकी के स्थान पर असुरकुमार शब्द का प्रयोग करते हुए यह सब नारकिया क समान ही समझना चाहिए। यावत चलित कर्म की निर्जरा करते है।

नागकुमारादि देवो का वर्णन

मूलपाठ–

प्रश्न–नागकुमाराण भते! केवइय काल ठिई पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! जहण्णेण दस वाससहस्साई, उक्कोसेण देसूणाइ दो पालिओवमाइ।

प्रश्न–नागकुमाराण भते! केवलइकालस्स आणमति वा? 4

उत्तर–गोयमा! जहण्णेण सत्तण्ह थोवाण उक्कोसेण मुहुत्तपुहुत्तस्स आणमति वा 4।

प्रश्न–नागकुमाराण आहारट्ठी?

उत्तर– हता, आहारट्ठी ।

प्रश्न–नागकुमाराण भते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

उत्तर– हता, आहारट्ठी।

प्रश्न–नागकुमाराण भते! केवइकालस्स आहारट्ठे सगुप्पज्जइ?

उत्तर–गोयमा! नागकुमाराण दुविहे, आहारे पण्णते। तजहा–आमोगनिव्वत्तिए, अणाभोगनिव्वत्तिए य। तत्थ ण जे से अणाभोग निव्वत्तिए से अणुसमय अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। तत्थ ण जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहण्णेण चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेण दिवसपुहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेस जहा असुरकुमाराण जाव नो अचलिय कम्म निज्जरति, एव सुवत्रकुमाराण वि जावप थणियकुमाराण ति।

सस्कृत छाया–प्रश्न–नागकुमाराणा भगवन कियत्काल स्थिति प्रज्ञप्ता?

उत्तर– गोतम । जघन्यन दश वर्ष सहस्राणि उत्कृष्टन दशान द्वे पल्यापम।

प्रश्न– नागकुमारा भगवन! कियत्कालन आनमन्ति वा 4?

उत्तर–गौतम। जघन्येन सप्तभि स्तोकै, उत्कृष्टेन मुहूर्तपृथक्त्वेन आनमन्ति वा 4।

प्रश्न– नागकुमारा आहार्थिन ?

उत्तर– हन्त आहारार्थिन ।

प्रश्न– नागकुमाराणा भगवन्। कियत्कालेन आहारार्थ समुत्पद्यते?

उत्तर–गौतम। नागकुमाराण द्विविध आहार प्रज्ञप्त । तद्यथा–आमोगनिर्वर्त्तित अनामोगनिर्वर्त्तिततश्च। तत्र योऽसाव–आमोगनिर्वर्तित सोऽनुसमयमविहित आहारार्थ समुत्यते। तत्र योऽसावा–मोगनिर्वर्तित स जघन्येन चतुर्थमक्तेन उत्कृष्टेन दिवसपृथक्त्वेन आहारार्थ समुत्पद्यते। शेष यथा असुरकुमाराणाम् यावत् नो अचलित कर्म निर्जरयन्ति। एव सुवर्णकुमाराणामपि यावत् स्तनितकुमाराणामिति।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन् नागकुमारो की स्थिति कितनी है?

उत्तर–गौतम। जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट कुछ कम दो पल्योपम की।

प्रश्न– भगवन्। नागकुमार कितने समय मे श्वासोच्छ्वास लेते हैं?

उत्तर–जघन्य सात स्तोक मे और उत्कृष्ट मुहूर्त पृथक्त्व में श्वास लेते है और नि श्वास छोडते हैं।

प्रश्न–भगवन। नागकुमार आहारार्थी हैं?

उत्तर–हा गौतम। हैं।

प्रश्न–भगवन्। नागकुमारो को कितना समय बीतने पर आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है?

उत्तर–गौतम। नागकुमारों का आहार दो प्रकार का है–आमोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित। अनामोग आहार की अभिलाषा प्रतिसमय सतत उत्पन्न होती है और आमोगनिर्वर्तित आहार की अभिलाषा जघन्य एक दिवस मे और उत्कृष्ट दिवसपृथक्त्व के पश्चात् होती है। शेष सब असुरकुमार की तरह समझना चाहिए। इसी प्रकार सुवर्णकुमारो से लेकर स्तनितकुमारो तक समझना चाहिए।

पृथ्वीकाय आदि का वर्णन

मूलपाठ–

प्रश्न–पुढवीकाइयाण मते! केवइयकालठिई पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! जहण्णेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण बावीस वाससहस्साइ।

प्रश्न–पुढवीकाइया ण मते! केवइकालस्स आणमति वा पाणमति वा ?

उत्तर–वेमायाए अणमति वा।

प्रश्न–पुढवीकाइया आहारट्ठी?

उत्तर– हता आहारट्ठी।

प्रश्न– पुढवीकाइयाण केवइकालस्स आहरट्ठे समुप्पज्जई?

उत्तर– गोयमा! अणुसमय अविरहिएआहारट्ठे समुप्पज्जइ।

प्रश्न–पुढवीकाइया कि आहार आहारेति?

उत्तर–गोयमा! दव्वओ जहा नेरइयाण, जाव निव्वाधएण छद्दिसि, वाधय पडुच्च सिय तिदिसि, सिय चउद्दिसि सिय पचदिसि, वन्नओ काल–नील–पीत–लोहिय–हालिद्द–सुक्किलाण। गधओ सुब्भिगधाइ 2 रसओ तित्ताइ 5, फासओ कक्खडाइ 8 सेस तहेव। णाणत्त–

प्रश्न–कइभाग आहारेति, कइभाग आसादिति?

उत्तर–गोयमा! असखिज्जभाग आहरेंति, अणतभाग आसाइति। जाव–

प्रश्न–तेसि पुग्गला कोसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति।

उत्तर–गोयमा! फासिदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति। सेस जहा नेरइयाण जाव नो अचलिय कम्म निज्जरति। एव जाव वणस्सइ काइयाण। णवर ठिई वण्णेयव्वा जा जस्स। उस्सासो वेमायाए।

संस्कृत छाया—प्रश्न—पृथिवीकायिकाना भगवन्! कियन्त काल स्थिति पज्ञप्ता?

उत्तर—गौतम! जघन्येन अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्टेन द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि।

प्रश्न—पृथिवीकायिका भगवन्! कियत्कालेन आनमन्ति वा प्राणमन्ति वा?

उत्तर—गौतम! विमात्रया आनमन्ति वा।

प्रश्न—पृथिवीकायिका आहारार्थिन?

उत्तर—हन्त आहारार्थिन।

प्रश्न—पृथिवीकायिकाना कियत्कालेन आहारार्थ समुत्पद्यते?

उत्तर—गौतम! अनुसमयमविरहित आहारार्थ समुत्पद्यते।

प्रश्न—पृथिवीकायिका किमाहारमाहरन्ति?

उत्तर—गौतम! द्रव्यतो यथा नैरयिकाणा यावत् निर्व्याघातेन षड्दिशम्, व्याघात प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशम् स्यात् चतुर्दिशम्, स्यात् पञ्चदिशम्। वर्णत काल—नील—पीत—लोहित—हारिद्र—शुक्ला—नाम्। गन्धत सुरभिगन्धानि 2 रसत तिक्तानि 5, स्पर्शत कर्कशानि 9, शेष तथेव, नानात्वम्।

प्रश्न— कतिभाग आहरन्ति, कतिभाग स्पर्शयन्ति?

उत्तर—गौतम! असंख्येयभागमाहरन्ति, अनन्तभाग स्पर्शयन्ति यावत्।

प्रश्न—तेषा पुद्गला कीदृशतया भूयो भूय परिणमन्ति?

उत्तर—गौतम! स्पर्शेन्द्रियविमात्रतया, भूयो भूय परिणमन्ति। शेष यथा नैरयिकाणाम् यावद् नो अचलित कर्म निर्जरयन्ति। एव यावत् वनस्पतिकायिकानाम्। नवर स्थितिर्वर्णयितव्या या यस्य। उच्छ्वासो विमात्रया।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन्! पृथिवीकाय के जीवों की स्थिति कितनी है?

उत्तर—गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव कितने काल में श्वासोच्छ्वास लेते हैं?

उत्तर—गौतम! विविध काल में श्वासोच्छ्वास लेते हैं [illegible] श्वासोच्छ्वास का समय नियत नहीं है।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव आहार के अभिलाषी हैं?

उत्तर—हां आहार के अभिलाषी हैं।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है?

उत्तर–गौतम! प्रतिसमय–निरन्तर आहार की अभिलाषा होती है।

प्रश्न–भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव किसका आहार करते हैं?

उत्तर–गौतम! द्रव्य से अनन्त प्रदेश वाले द्रव्य का आहार करते हैं इत्यादि नारकी के समान जानना पृथिवीकाय के जीव व्याघात न हो तो छहो दिशाओ से कदाचित् चार और कदाचित् पाच दिशाओ से आहार लेते हैं। वर्ण से पाचों वर्ण के द्रव्य आहार करते हैं। गध से दोनो गध वाले और रस से पाचो रस वाले द्रव्य का आहार करते हैं। स्पर्श की अपेक्षा आठो स्पर्श वाले द्रव्य का आहार करते हैं। शेष सब पहले के वर्णन के समान ही समझना चाहिए।

उत्तर–गौतम! असख्यात भाग का आहार करते हैं और अनन्त भाग का आस्वादन करते हैं।

प्रश्न–भगवन्! उनके आहार किये हुए पुद्गल बार–बार किस रूप मे परिणत होते हैं?

उत्तर–गौतम! विविध प्रकार की स्पर्शनेन्द्रिय के रूप मे पुन–पुन परिणत होते हैं, शेष सब नारकियो के समान समझना चाहिए। यावत् अचलित कर्म की निर्जरा नहीं होती। इसी प्रकार जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवो के विषय मे समझना चाहिए। अलबत्ता इनकी स्थिति पृथक–पृथक है, सो जिसकी जितनी स्थिति हो उसकी उतनी स्थिति कहनी और उच्छवास भी विविध प्रकार से जानना चाहिए।

द्विन्द्रिय जीवों का वर्णन

मूलपाठ–

बेइदियाण ठिई भणिऊण उस्सासोवेमायाए।

प्रश्न–बेइदियाणे आहारे पुच्छा?

उत्तर–अध्ससश्रससेगपिच्चत्तिए तहेव, तत्थ ण जे से आमोगनिव्वत्तिए से ण असखेज्ज समइए अन्तोमुहुत्तिए वेमायाए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेस तहेव जाव अणतभाग असायति।

प्रश्न–बेइदिया ण भते! जे पोग्गलेआहरत्ताए गेण्हति, ते कि सव्वे आहरति णो सव्वे आहारति?

उत्तर–गोयमा ! बेइंदियाणा दुविह आहरे पन्नते, तजहा–लोमाहरे पक्खेवाहारे य। जे पोग्गले लोमाहारत्ताए गिण्हति ते सव्वे अपरिसेसए आहारेंति। जे पक्खेवाहारत्ताए गिण्हंति तेसि ण पोग्गलाण असखज्जइभाग आहारेति, अणेगाइ च ण भागसहस्साइ अणासाइज्जमाणाइ अफासाइज्जमाणाइ, विद्धस आगच्छंति।

प्रश्न–एएसि ण भते! पोग्गलाण अणासाइज्जमाणाण अफासाइज्जमाणण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वो विसेसाहिया वा?

उत्तर–सव्वत्थोवा पुग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणतगुणा।

प्रश्न–बेइदिया ण भते! जे पोग्गला आहारत्ताए गिण्हति, ते ण तेसि पुग्गला कीसत्ताए मुज्जो मुज्जो परिणमति?

उत्तर–गोयमा! जिब्भिदिय–फासिदियवेमायत्ताए मुज्जो मुज्जो परिणमति।

प्रश्न–बेइदियाण भते! पुव्वाहारियापोग्गला परिणया ?

उत्तर– तहेव जाव चलिअ कम्म निज्जरति।

सस्कृत छाया–द्वीन्द्रियाण स्थितिर्भणित्वा उच्छवासो विमात्रया।

प्रश्न–द्वीन्द्रियाणामाहारे पृच्छा?

उत्तर–अनाभोगनिर्वर्तितस्तथैव। तत्र योऽसावाभोगनिर्वर्तित सोऽसख्येयसमयिक आन्तमौहूर्तिक विमात्रया आहारार्थ समुत्पद्यते। शेष तथैव यावद् अनन्तभागमास्वादयन्ति।

प्रश्न–द्वीन्द्रिया भगवन्! यान् पुद्गलान् आहारतया गृह्णन्ति तान् कि सर्वान् आहरन्ति सर्वानाहरन्ति?

उत्तर–गौतम! द्वीन्द्रिया ण द्विविध आहार प्रज्ञप्त तद्यथा–लोमाहार प्रक्षेपाहारश्च। यान् पुद्गलान् लोमाहारतया गृह्णन्ति तान सर्वान् अपरिशेषितान् आहरन्ति। यान् प्रक्षेपाहारतया गृहणन्ति तेषा पुद्गलानामसख्येयभागमाहरन्ति अनेकानि च भागसहस्राणि अनाखाद्यमानानि अस्पर्श्यमानानि विध्वसमागच्छन्ति।

प्रश्न–एतेषा भगवन्! पुद्गलाना अनास्वाद्यमानाना अस्पर्श्यमानाना च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा, बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा?

उत्तर–गौतम! सर्वस्तोका पुद्गला अनास्वाद्यमाना अस्पर्श्यमाना अनन्तगुणा।

प्रश्न–द्वीन्द्रिया भगवन्! यान् पुद्गलान आहारतया गृह्णन्ति ते तेषा पुद्गला कीदृशतया भूयो भूय परिणमन्ति?

उत्तर–गौतम ! जिह्वेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रियविमात्रया भूयो भूय परिणमन्ति।

प्रश्न– द्वीन्द्रियाण भगवन्! पूर्वाहृता पुद्गला परिणता ?

उत्तर–तथैव यावत् चलित कर्म निर्जरयन्ति।

मूलार्थ–दो–इन्द्रिय जीवो की स्थिति कहकर उनका विमात्रा से अनियत– श्वासोच्छ्वास कहना चाहिए।

तत्पश्चात् द्वीन्द्रिय जीव के आहार का प्रश्न होता हे कि–भगवन्! द्वीन्द्रिय जीव को कितने काल मे आहार की अभिलाषा होती है?

उत्तर–अनाभोगनिर्वर्तित आहार पहले के ही समान समझना चाहिए। जो आभोगनिर्वर्तित आहार हे वह द्वीन्द्रिय जीवो का दो प्रकार का है– रोमाहार (रोमो द्वारा खीचा जाने वाला आहार) ओर प्रक्षेपाहार (कोर करके मुह मे डालकर किया जाने वाला आहार) जा पुद्गल रोमाहार के रूप मे ग्रहण किये जाते हैं उन सब के सब का आहार होता है और जो पुद्गल प्रक्षेपाहार क रूप मे ग्रहण किये जाते हें उनमे से असख्यातवा भाग खाया जाता है

शेष अनेक हजार भाग बिना आस्वाद के और बिना स्पर्श के ही नष्ट हो जाते है।

प्रश्न–भगवन्। नही आस्वादन किये जाने वाले और नही स्पर्श किये जाने वाले पुद्गलो मे से कौन किससे अल्प है बहुत है, तुल्य है या विशेषाधिक है? अर्थात् जो पुद्गल आस्वाद मे नही आये, वे अधिक है या जो स्पर्श मे नही आये वे अधिक है?

उत्तर–गौतम। आस्वाद मे नही आने वाले पुद्गल सब से कम हैं और स्पर्श मे नही आये हुए पुद्गल उनसे अनन्त गुने हैं।

प्रश्न–भगवन। द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलो को आहार रूप मे ग्रहण करते है वे पुद्गल किस रूप मे पलटते हैं?

उत्तर–गौतम। जिह्वा इन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे पलट जाते है।

प्रश्न–भगवन्। द्वीन्द्रिय जीव द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल परिणत हुए–पलटे है?

उत्तर–यह सब वक्तव्य पहले की भाति ही समझना। यावत् चलित कर्म की निर्जरा होती है।

त्रीन्द्रिय आदि जीवों का वर्णन

मूलपाठ–

तेइदिय–चउरिदियाण णाणत ठिइए जाव णेगाइ ण भागसहस्साइ अणाघाइज्जमाणाइ अणासाइज्जमाणाइ अफासाइज्जमाणाइ विद्धस आगच्छन्ति।

प्रश्न–एएसि ण मते। पोग्गलाण अणाघाइज्जमाणाण 3 पुच्छा?

उत्तर–गोयमा। सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा, अणासाइज्जमाणा अणतगुणा अफासाइज्जमाणा अणतगुणा, तेइदियाण घाणिदिय–जिब्भिदिय–फासिदिय–वेमायाए भुज्जो भुज्जो परिणमति।

सस्कृत छाया–त्रीन्दिय–चतुरिन्द्रियाण नानात्व स्थितौ यावत् अनेकानि च भागसहस्राणि अनाघ्रायमाणानि अनास्वाद्यमानानि अस्पृश्यमानानि विध्वसमागच्छन्ति।

प्रश्न–ऐतेषा भगवन्। पुद्गलानामनाघ्रायमाणाना 3 पृच्छा?

उत्तर–गौतम। सर्वस्सतोका पुद्गला अनाघ्रायमाणा अनास्वाद्यमाना अनन्तगुणा, अस्पर्श्यमाना अनन्तगुणा। त्रीन्द्रियाण घ्राणेन्द्रिय–जिह्वेन्द्रिय–स्पर्शन्द्रियविमात्रया भूयो भूय परिणमन्ति।

मूलाथ–तीन इन्द्रिय वाले और चार इन्द्रिय वाले जीवा की स्थिति मे भेद है शेष सब पहले की भाति है। यावत् अनेक हजार भाग विना सूघे विना चखे विना स्पर्श ही नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न–भगवन्। इन नहीं सूघे नहीं चखे और नहीं स्पर्श किये हुए पुद्गलो मे कौन किससे थोडा बहुत तुल्य या विशेषाधिक है?

उत्तर– ह गौतम। सब से कम नहीं सूघे हुए पुद्गल हैं उनस अनन्त गुने नहीं चखे हुए और उनसे अनन्त गुन नहीं स्पर्श किये हुए पुद्गल हैं। तीन

इन्द्रिय वाले जीवो द्वारा खाया हुआ आहार घ्राणन्द्रिय के रूप मे जिह्वा इन्द्रिय के रूप मे और स्पर्श–इन्द्रिय के रूप मे बार–बार परिणत होता है। चार इन्द्रिय वाले जीवो द्वारा खाया हुआ आहार आख नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रिय के रूप मे बार–बार परिणत होता है।

पञ्चेन्द्रियतिर्यंच–तथा–मनुष्य आदि का वर्णन

मूलपाठ

पचिदियतिरिक्खजोणियाण ठिइ भणिऊण उस्सासो वेमायाए। आहारो अणाभोगनिव्वत्तिओ अणुसमय अविरहिओ आभोगनिव्वत्तिओ जहण्णेण अतोमुहुत्तस्स उक्कोसेण छट्ठमत्तस्स। सेस जहा चउरिदियाण, जाव–चलिय कम्म णिज्जरेति। एव मणुस्साण वि णवर–आभोगनिव्वत्तिए जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण अट्ठमभत्तस्स। सोइदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति। सेस जहा तहेव जाव–निज्जरेंति।

सस्कृत छाया–पञ्चेन्द्रियतिर्यगयोनिकाना स्थितिर्भणित्वा उच्छवासो विमात्रया। आहारोऽनाभोगनिर्वर्तितोऽनुसमयमविरहित आभोगनिर्वर्तितो जघन्येन अन्तर्मुहूर्तेन, उत्कृष्टेन षष्टभक्तेन शेष यथा चतुरिन्द्रियाणाम्। यावत्चलित कर्म निर्जरयन्ति।

एव मनुष्याणामपि नवरम् आभेगनिर्वर्तितो जघन्येन अन्तर्मुहूर्तेन उत्कृष्टेन अष्टमभक्तेत। श्रोत्रेन्द्रियविमात्रतया भूयो भूय परिणमन्ति।

मूलार्थ–पाच अन्द्रिय वाले तिर्यञ्चो की स्थिति कह कर उनका आहार विमात्र से विविध प्रकार से–कहना चाहिए। अनाभोगनिर्वर्तित आहार प्रतिसमय निरन्तर होता हे। आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त म और उत्कृष्ट षष्ठ भक्त (दो दिन व्यतीत हो जाने पर) हाता है। शेष वक्तव्यता चतुरिन्द्रिय जीवो के समान समझना चाहिए। यावत् चलित कर्म की निर्जरा होती है। मनुष्यो के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही जानना चाहिए। विशेषता इतनी

है कि उनका आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अष्टम भक्त–तीन दिवस बीतने पर होता है। पचेन्द्रिय द्वारा गृहीत आहार (पूर्वोक्त चार इन्द्रियो के अतिरिक्त) श्रोत्रेन्द्रिय के रूप मे भी परिणत होता हैं। शेष सब पहले के समान समझना चाहिए यावत् चलित कर्म की निर्जरा करते हैं।

वाण–व्यन्तर आदि का वर्णन

मूलपाठ

वाणमतराण ठिइए नाणत्त्व। अवसेसजहा णागकुमाराण। एव जोइसियाण वि, णवर उस्सासो जहण्णेण मुहुत्तपुहुत्तस्स। आहारो जहण्णेण्ध दिवसपुहुत्तस्स, उक्कोसेण वि दिवसपुहुत्तस्स। सेस तहेण। वेमाणियाण ठिई भाणियव्वा ओहिया। ऊसासो जहण्णेण मुहुत्तपुहुत्तस्स, उक्कोसेण तेत्तीसाए पक्खाण। आहारो आमोगनिव्वत्तिओ जहण्णेण दिवसपुहुत्तस्स, उक्कासेण तेत्तीसाए वाससहस्साण। सेस चलियाइय तहेव निज्जरावेति।

सस्कृत छाया–वानव्यन्तराणा स्थितौ नानात्वम् अवशेष यथा नागकुमाराणाम्।

एवच ज्योतिष्काणामपि, नवर उच्छ्वासौ जघन्येन मुहूर्तपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेनापि मुहूर्त्तपृथक्त्वेन। आहारो जघन्येन दिवसपृथक्त्वेर उत्कृष्टेनापि दिवसपृथक्त्वेन्। शेष तथैव।

वैमानिकाना स्थितिर्भणितव्या औधिकी। उच्छ्वासो जघन्येन मुहूर्त्तपृथक्त्वेन उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिशता पक्षै आहार आमोगनिर्वर्तितो जघन्येन दिवसपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिशता वर्षसहस्रै। शेष चलितादिक तथैक निर्जरयन्ति।

मूलार्थ–वाण–व्यन्तरदेवो की स्थिति मे भेद है शेष सव नागकुमारो के समान समझना चाहिए।

यही ज्योतिषी देवो के सबध मे भी जानना चाहिए। विशेपता यह है कि–ज्योतिषी देवो को उच्छवास–निश्वास जघन्य और उत्कृष्ट मुहूर्त्तपृथक्त्व के वाद होता है, और आहार जघन्य एव उत्कृष्ट से दिव–पृथक्त्व के पश्चात् हुआ करता है। और सब बाते पहले के समान ही समझना चाहिए।

वैमानिको की स्थिति ओधिकी (सामान्य) कहनी चाहिए। उनका उच्छवास जघन्य मुहूर्तपृथक्त्व और उत्कृष्ट तेतीस पक्ष के पश्चात् होता है। उनका आभागनिर्वर्तित आहार जघन्य दिवसपृथक्त्व के बाद और उत्कृष्ट तेतीस हजार वर्ष बाद होता है। चलित कर्म की निर्जरा होती है, इत्यादि शेष सब पूर्ववत ही समझना चाहिए।

व्याख्यान–ऊपर जो विविध प्रकार के जीवो का वर्णन दिया गया है उसकी कुछ विशेष बातो पर टीकाकार ने प्रकाश डाला है।

असुर कुमार की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक की कही गई है सो बलि नामक असुरराज की अपेक्षा से है। चरमेन्द्र की आयु एक सागरोपम की ही है। और बलिराज का आयुष्य चरमेन्द्र के आयुष्य से कुछ अधिक है।

असुरकुमार का श्वासोच्छ्वास जघन्य सात स्तोक मे बतलाया है, किन्तु स्तोक किसे कहते हैं यह जान लेना आवश्यक है–टीकाकार कहते हैं–

हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरूवकिट्ठस्स जतुणो।
एगे ऊसास नीसासे एस पाणुत्ति वुच्चई ।।
सत्त पाणुणि से थोवे, सत्त थोवणि से लवे।
लवाण सत्तहत्तरिए एस मुहूत्ते वियाहिए।।

स्तोक का परिमाण बतलाने के लिए श्वासोच्छ्वास से आरम्भ किया है पर प्रत्येक जीव का श्वासोच्छवास समान कालीन नही होता, अतएव शास्त्र मे कहा है कि इस गणना मे मनुष्य का श्वासोच्छ्वास लेना चाहिए। वह मनुष्य हृष्ट हो बहुत बूढा न हो शोक–चिन्ता वाला न हो, रुग्ण न हो। ऐसे मनुष्य के एक श्वास और उच्छ्वास को प्राण कहते हैं। सात प्राण का एक स्तोक होता है सात स्तोक का लव होता है और सतत्तर लव का एक मुहूर्त होता है।

काल के लौकिक माप पराधीन हैं। आज घडी से काल का माप होता है लेकिन घडी टूट जाये तो क्या किया जाएगा। ज्ञानियो का कथन है कि प्रकृति स्वय काल नापती है उसे समझ लेना चाहिए। अनुयोग द्वारा सूत्र मे प्रकृति का माप सरसो आदि से बतलाया है।

जो माप किसी और के आश्रित नही है किन्तु प्रकृति के आश्रित हैं, वह लोकोत्तर माप है। दुनिया स्वतत्रता को त्याग कर परतत्रता के माप मे पड रही है लेकिन अन्त मे प्रकृति का आश्रय लेना ही पडता है।

ऊपर मूहूर्त्त का परिमाण बतलाया गया है। तीस मूहूर्त्त का अहोरात्र और पन्द्रह अहोरात्र का पक्ष (पखवाडा) होता है। एक मास मे दो पक्ष होते हैं। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार महीने मे कम ज्यादा दिन हो जाते हैं इसलिए पक्ष मे भी कम ज्यादा होते हैं। "आजकल सवत्सरो पर्व ज्योतिष के हिसाब से माना जाता है लेकिन शास्त्रकारो ने काल के माप के लिए पाच सवत्सर अलग कर दिये हैं। शास्त्र मे कहा है कि 77 लव का एक मुहूर्त्त होता है 30 मुहूर्त्त का एक दिन–रात होता हे, 14 दिन–रात का एक पक्ष और 30 दिन–रात का एक मास होता है। इस काल गणना मे किसी प्रकार की गडबड नही पडती।

काल–गणना की अनेक विधिया प्रचलित हैं। अग्रेज लोग काल मापने के लिए ज्योतिष के सहारे नही रहे। उन्होने तारीखे नियत कर ली हें और चार वर्ष मे एक दिन बढा दिया है।

अगर हमारे यहा जीव व्यवहार से ऐसा कोई नियम बना दिया जाये तो सवत्सरी आदि मे कोई अन्तर न रहे। प्रश्न होता है नियम किस आधार पर बनाया जाये ? इसका उत्तर स्पष्ट है–77 लव का एक मुहूर्त्त 30 मूहूर्त्त का एक अहोरात्र 15 अहोरात्र का एक पक्ष और दो पक्ष का एक मास होता हैं दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक सवत्सर होता है।"

असुरकुमार का आहार जघन्य चार भक्त मे बतलाया है। चार भक्त का अर्थ एक दिन आहार करे, फिर एक दिन और दो रात न खाकर तीसरे दिन खावे। इसे चतुर्थ भक्त कहते हें। चतुर्थ भक्त उपवास की एक सज्ञा हे।

नागकुमार की दो पल्योपम की स्थिति कही गई हे। यह उत्तर दिशा के नागकुमार की अपेक्षा से है। दक्षिण दिशा के नागकुमार की अपेक्षा डेढ पल्योपम की ही स्थिति है।

मुहूर्त्त पृथक्त्व का अर्थ हे 77 लव बीतने पर एक मुहूर्त्त होता है ओर दो मुहूर्त्त से लेकर नौ मुहूर्त्त तक को मुहूर्त्त पृथक्त्व कहते हें। दो से लेकर नौ तक की सख्या सिद्धान्त मे पृथक्त्व कहलाती है।

असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक का वर्णन किया गया है। इनके बीच मे किन–किन का समावेश हे यह बात इस सग्रह गाथा स ज्ञात हो सकती है –

असुरा नाग–सुवण्णा,विज्जु–अग्गी य दीव–उदही य ।
दिसि–वाऊ थणिया वि य, दसभेया भवणावासीण।।

अर्थात्–भवनवासी देवो के दस भेद हैं– (1) असुरकुमार (2) नागकुमार (3) सुवर्णकुमार (4) विद्युतकुमार (5) अग्निकुमार (6) द्वीपकुमार (7) उदधिकुमार (8) दिक्कुमार (9) वायुकुमार और (10) स्तनितकुमार।

एक दण्डक नारकी जीवो का और दस दण्डक भवनवासी देवो के, यह ग्यारह दण्डक हुए। इसके पश्चात् एक दडक पृथ्वीकाय के जीवो का आता है।

पृथ्वीकायिक जीवो की आयु अन्तर्मुहूर्त्त की है। ऊपर जो परिमाण मुहूर्त्त का बतलाया गया है उससे कुछ कम समय अन्तर्मुहूर्त्त कहलाता है। पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट स्थिति 22 हजार वर्ष की, खर पृथ्वी की अपेक्षा से कही गई है। पृथ्वी के छह भेद है–

सण्हा य सुद्ध वालुय मणासिला सक्कारा य खर पुढवी।
एग बारस चोद्दस सोलस अट्ठारस बावीस त्ति।।

पहली स्निग्ध–सुहाली पृथ्वी है। इसकी स्थिति एक हजार वर्ष की है। दूसरी शुद्ध पृथ्वी की बारह हजार वर्ष की स्थिति है। तीसरी बालुका पृथ्वी की चौदह हजार वर्ष की चौथी मन शिला पृथ्वी की सोलह हजार वर्ष की पाचवी शर्करा पृथ्वी की अठारह हजार वर्ष की, और छठी खर पृथ्वी की बाईस हजार वर्ष की स्थिति है।

विमात्रा–आहार करने से यह तात्पर्य है कि उसमे कोई मात्रा नही है। कोई कैसा आहार लेता है कोई कैसा पृथ्वीकाय के जीवो का रहन–सहन भिन्न–भिन्न और विचित्र है। इसलिए उनमे श्वास की भी मात्रा नही है कि कब–कितना लेता है। तात्पर्य यह है कि इनका श्वासोच्छवास विषम रूप है। उसकी मात्रा का निरूपण नही किया जा सकता।

शास्त्र सम्बधी वार्त्ता बडी आनन्ददात्री है। मगर जिसमे इस वार्ता का रस लेने का सामर्थ्य हो वही आनन्द ले सकता है। आजकल हम लोगो का ज्ञान अत्यल्प है और जीवन मे जजाल बहुत है। अतएव हम लोग शास्त्र के रहस्य को भली–भाति समझ नही पाते। मगर आज जीवन कितना ही व्यस्त क्यो न हो जिस समय शास्त्र का निर्माण हुआ उस समय ऐसा जजाल न था। इस कारण उस समय शास्त्र बडे महत्व की दृष्टि से देखे जाते थे।

उक्त वर्णन से इस बात का भी भलीभाति अनुमान किया जा सकता है कि जैन धर्म क्या है? उसकी बारीकी और व्यापकता कहा तक जा पहुची है। एक छोटे से राज्य का राजा होता है दूसरा बडे राज्य का होता है। वासुदेव का भी राज्य और चक्रवर्ती का भी। चक्रवर्ती का राज्य सबस बडा गिना जाता है क्योकि उसके राज्य मे सभी एक छत्र आ जाते हैं। सबका एक छत्र के नीचे आ जाना यही चक्रवर्ती का चक्रवर्तीपन है।

हम लोग तीर्थकरो की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं–'प्रभो। तू त्रिलोकीनाथ है। अगर भगवान को त्रिलोकनाथ कहते है तो उनके राज्य मे तीनो लोक के जीवो का समावेश हो जाना चाहिए। फिर भले ही कोई छोटा हो या बडा हो। चक्रवर्ती मनुष्यो पर ही शासन करता है लेकिन त्रिलोकनाथ का छत्र तो चौबीस दण्डको के जीवो के सिर पर है। उनका छत्र नारकी जीवो पर भी है। जैसे बडा राजा अपने राज्य को प्रान्तो मे विभक्त करता है उसी प्रकार भगवान ने अपने राज्य चौबीस दण्डक रूपी प्रान्तो मे विभक्त किया है। इन दण्डको मे से पहला दण्डक नारकी का है। भगवान ने नारकियो को सबसे पहले याद किया है। मनुष्य के शरीर मे भी पहले पाव गिना जाता है सिर नही। लोग पैर पूजना कहते हैं सिर पूजना नही कहते। पैर का महत्व बढने से सिर का महत्व आप ही बढ जाता है। भगवान का राज्य तीनो लोको मे फैला है। उन्होने नरक को भी एक प्रान्त बनाया है।

यहा यह आशका हो सकती है कि असुरकुमार आदि के जो समीप ही हें दस दडक माने गये हैं और नारकी जीवो का एक ही। इसका क्या कारण है? इस आशका का समाधान यह हे कि नारकी जीवो म इतनी अधिक उथल–पुथल नही होती क्योकि वे दु ख मे पडे हैं। भवनवासी उथल–पुथल करते रहते हें। इत्यादि कारणो से उनके दस दडक किये गये हे।

फिर प्रश्न होता है कि असुरकुमार के सिवा नो भवनवासी समान ही हैं फिर इनके अलग अलग दडक क्यो बताये गये हैं। एक ही दडक क्या न बता दिया?

जिन भगवान् ने दडक रूपी प्रान्त बनाये हैं इन्ह उस विषय म अधिक ज्ञान था। हमे उनकी व्यवस्था पर ही निर्भर रहना चाहिए।

इस विषय मे सूत्रो मे कोई स्पष्टीकरण नही हें किन्तु आचार्यो की धारणा ऐसी है कि नारकी मे सातो नरक के नेरयिक परस्पर सलग्न हैं–इनक

बीच मे कोई दूसरे त्रस जीव नही हैं किन्तु भवनपति देवो मे यह बात नही है इनकी बीच मे व्याघात होने से इनके दडक पृथक–पृथक माने हैं अर्थात प्रथम नरक के 13 प्रतर और 12 अन्तर है। अन्तर मे एक–एक जाति के भवनपति रहते हैं और पतर मे नेरिये रहते है परन्तु प्रथम नरक के नीचे के प्रतर से सातवी नरक तक बीच मे कोई भी नही होने से नेरयिको का एक और दश जाति के भवनपतियो के दडक (विभाग) किये गये हैं ऐसी पूर्वाचार्यो की धारणा है।

पृथ्वीकाय के जीवो का एक दडक है। पृथ्वीकाय के जीवो को यह मालूम नही है कि मै पृथ्वी हू। लेकिन भगवन् कहते हैं कि जो खेल असुरकुमारो मे हो रहा है वही पृथ्वीकाय के जीवो मे भी हो रहा है। जैन शास्त्रो मे जैसा अनन्त विज्ञान भरा है वैसा ज्ञान अन्यत्र देखने मे नही आता।

भगवान ने नरक के जीवो असुरकुमार और पृथ्वीकाय के विषय मे 72 बाते कही है। इन जीवो के जितनी–जितनी इन्द्रिया हैं, उनका वर्णन भी किया गया है। भगवान की करुणा सभी जीवो पर समान है।

पृथ्वीकाय की ही तरह जलकाय अग्निकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय का भी एक एक दडक माना गया है। फिर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और तिर्यञ्च पचेन्द्रिय का एक एक दडक किया और एक दडक मनुष्य का किया है। चाहे मनुष्य किसी भी क्षेत्र का और किसी भी जाति का हो सबका दडक एक ही है। मनुष्य के दडक के बाद वान–व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक का दडक गिना गया है।

देव और असुर दो योनिया हैं। देव मे ज्योतिष्क और वैमानिक गिने जाते है और असुर योनि मे असुरकुमार आदि गिने जाते हैं। देवो मे इतने झगडे नही होते जितने असुरो मे होते है। भगवान् ने असुरकुमार आदि दस के दस दडक गिनाये और देवो का एक ही दडक गिना यह त्रिलोकीनाथ का राज्य है।

पृथ्वीकायिक जीवो के आहार के विषय मे कहा गया है कि अगर व्याघात न हो उनका आहार छहो दिशाओ से होता है। यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि व्याघात किसे कहते है?

लोक के अन्त मे जहा लोक और अलोक की सीमा मिलती है वही व्याघात होना सम्भव है। जहा व्याघात नही है वहा छहो दिशा का आहार लेते

है जहा व्याघात हो वहा तीन चार या पाच दिशा स आहार लेत हैं। तात्पर्य यह हे कि लोक के अन्त मे कोने के ऊपर रहा हुआ पृथ्वीकाय का जीव तीन चार या पाच दिशाओ से आहार ग्रहण करता हे। तब तीन दिशाए अलोक मे दब जाती हैं– तीन तरफ अलोक आ जाता है तब तीन दिशा से आहार लते हैं। जब दो दिशाए अलोक म दब जाती हैं तब चार दिशा का और जब एक दिशा अलोक मे दब जाती है तब पाच दिशाआ से आहार लते हैं। मतलब यह है कि जो दिशा अलोक मे दब जाती है उसका आहार नही लेते।

पृथ्वीकाय जीवा के एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय ही हाती है। उन्ह रसन्द्रिय नही है। जिसके रसन्द्रिय नही है वह उसके द्वारा आहार ग्रहण करके स्वाद लेता है मगर यह बात इनमे नही पाई जाती। इसलिए यह जीव स्पर्शनन्द्रिय से ही आहार ग्रहण करके उसका आस्वादन करते हैं। इनका यह स्पर्श भी एक प्रकार का आस्वादन हे।

पाच स्थावरो की स्थिति म अप्काय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की हे ओर उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की हे। अग्निकाय क जीवो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन दिन की है वायुकाल की उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्ष की वनस्पति काय की दस हजार वर्ष की ओर पृथ्वीकाय की बाईस हजार वर्ष की स्थिति हे। इस प्रकार इन सबकी स्थिति हे।

दो–इन्द्रिय की स्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की ओर जघन्य अन्तर्मुहूर्त की हे। दो इन्द्रिय वाले जीवो को अभोगआहार की इच्छा असख्यात समय बाद होती हे। असख्यात समय कितना लेना चाहिए यह बताने के लिए अन्तर्मुहूर्त्त का असख्यात समय ग्रहण किया गया हे। द्वीन्द्रिय जीवा के आहार का कोई निश्चित समय नही हे, अतएव वह विमात्र स कहा गया हे।

इन जीवा का आभोग आहार रोम द्वारा भी होता हे जब वर्षा होती हे तब रोमो द्वारा शीत आप ही आ जाता हे। वह रोमाहार कहलाता हे।

द्वीन्द्रिय जीवो क आभाग–आहार के विषय म यह भी स्पष्ट कर दिया गया हे कि व राम द्वारा गृहीत आहार का पूर्ण रूप स खा जात हे और प्रक्षेपाहार का बहुत सा भाग नष्ट हा जाता हे ओर असख्यातवा भाग शरीर रूप मे परिणत हा जाता हे। इस कथन क आधार पर यह प्रश्न किया गया

है कि जो पुद्गल स्पर्श मे तथा आस्वाद मे आये बिना ही नष्ट हो जाते है उनमे कौन–से अधिक हैं? अर्थात स्पर्श मे न आने वाले पुद्गल अधिक हैं या आस्वाद मे न आने वाले? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि आस्वाद मे न आने वाले पुद्गल थोडे हैं और स्पर्श न किये जाने वाले पुद्गल अनन्त गुण है।

त्रीन्दिय और चतुरिन्द्रिय जीवो की स्थिति मे अन्तर हैं त्रीन्द्रिय जीवो की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट 49 रात दिन की है। चौइन्द्रिय जीवो की जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छह मास की है। आहार आदि मे जो अन्तर है वह पहले बतलाया जा चुका है।

पचेन्द्रिय तिर्यंच का आहार षष्ठमक्त अर्थात् दो दिन बीत जाने पर बतलाया गया है। यह आहार देवकुरु और और उत्तर कुरु के युगलिक तिर्यचो की अपेक्षा कहा गया है। इसी प्रकार मनुष्यो का जो अष्टमभक्त अर्थात तीन दिन बाद आहार कहा है वह भी देवकुरु उत्तरकुरु के युगमलिक मनुष्यो की अथवा भरतादि मे जब प्रथम आरा प्रारम्भ होता है या छठा आरा उतसर्पिणी का पूर्ण होता है उस समय के मनुष्यो की अपेक्षा समझना चाहिए।

वान्‌व्यन्तर की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक पल्योपम की है ज्योतिषी देवो की जघन्य पल्योपम के आठवे भाग की और उत्कृष्ट एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की है।

दो मुहूर्त से लेकर नौ मुहूर्त तक को मुहूर्तपृथक्त्व कहते हैं। जघन्य मुहूर्तपृथक्त्व मे दो या तीन मुहूर्त्त समझना चाहिए और उत्कृष्ट मे आठ या नौ मुहूर्त लेना चाहिए।

वैमानिको की स्थिति औधिक कही है। औधिक का परिमाण एक पल्योपम से लेकर तेतीस सागरोपम तक है। इसमे जघन्य स्थिति सोधर्म देवलोक की अपेक्षा और उत्कृष्ट अनुत्तर विमानो की अपेक्षा से कही गई है।

श्वासोच्छ्वास का जघन्य परिमाण जघन्य स्थिति वालो की अपेक्षा और उत्कृष्ट परिमाण उत्कृष्ट स्थिति वालो की अपक्षा से जानना चाहिए। [illegible]–गाथा कही है जो इस प्रकार है–

जस्स जाइ सागराइ तस्स ठिई तत्तिएहि पक्खेहि।
उस्साओ देवाण वाससहस्सेहि आहारो ।।

अर्थात्–वैमानिक देवा को जितने सागरापम की स्थिति हो उनका श्वासोच्छ्वास उतन ही पक्ष मे होता हे और आहार उतने ही हजार वर्ष मे समझना चाहिए।

यह चोवीस दडको क विषय म व्याख्यान हुआ। किस दडक वाले जीव की कितनी स्थिति है, क्या आहार है कर्म पुद्गल केसे लगत हैं और किस प्रकार झडते हैं इत्यादि अनेक–विध प्रश्न गौतम स्वामी न किये ओर भगवान महावीर ने उनका उत्तर दिया।

अब तक जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उन सबके आधार पर यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि जब आत्मा अरूपी है तो उसमे आहार आदि का झगडा क्यो है? श्वासोच्छ्वास और कर्मबध आदि भी कैसे होते हैं? आत्मा अमूर्त होने क कारण आकाश की भाति निर्लेप निर्विकार रहनी चाहिए।

साख्यमत मे आत्मा अकर्त्ता है क्योकि अमूर्त्तिक है। जो अमूर्त्तिक होता है वह कर्ता नहीं होता जैसे आकाश। आकाश अमूर्तिक है अतएव कर्ता नही है इसी प्रकार आत्मा भी कर्ता नही होनी चाहिए।

साख्य के इस मत मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा अमूर्त्त होने स अगर कर्ता नहीं है तो सुख–दु ख का भाग क्या करती है? इस प्रकार उत्तर साख्य यह देते हैं कि यह सब प्रकृति करती है। प्रकृति के ससर्ग से आत्मा अपने आपको सुखी–दु खी मान लेती हे पर वास्तव मे सुख–दु ख प्रकृति के ही होते हैं।

साख्य की यह मान्यता न जेना को स्वीकार हे न वदान्तियो का। इस मान्यता पर सर्वप्रथम ही यह प्रश्न उपस्थित होता हे कि आत्मा अगर अरूपी ओर अकर्त्ता है तो? वह शरीर म क्या पडी हे? साख्य यह कह सकत हें कि पकृति ने इस केद कर रक्खा हे मगर यदि प्रकृति के रोकने स यह शरीर म रुकी रहती हे ओर कर्ता नहीं हे तो उसे गुक्ति केसे प्राप्त हा सकती हे ? इसक अतिरिक्त जड प्रकृति को ता कर्ता माना जाये और चतन आत्मा का अकर्ता कहा जाय यह कहा तक तर्कसगत हो सकता हे?

अव यह कहा जा सकता है कि आपक (जेन) मत म आत्मा रूपी हे या अरूपी? रूपी तो आप स्वीकार नहीं करते। अगर अरूपी हे ओर ज्ञानवान भी ह ता वह अज्ञान के कार्य क्यों करती हे? इसका उत्तर यह हे कि आत्मा स्वभाव स अरूपी हात हुए भी प्रकृति क साथ लगी हुई हे। आत्मा अनादिकाल स ह आर अनादि काल स ही कर्मो क साथ उसका सयाग हा रहा है। कर्मो क साथ एकमक हो जान क कारण ससारी आत्मा कथञ्चित रूपी बनी हुई

है और अपने असली स्वरूप को भूल गयी है। वास्तव मे आत्मा ही कर्ता है। वह सब क्रियाए करती है आत्मा शरीर मे रहने वाली देही है और शरीर देह है। आत्मा के दो देह हैं। एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। स्थूल देह जब छूट जाती है तब भी सूक्ष्म देह आत्मा के साथ बनी रहती है। सूक्ष्म शरीर के साथ रहने से ही आत्मा बार–बार जन्म–मरण करती है। जन्म–मरण का यह कारण जब मिट जाता है तब जनम–मरण भी मिट जाता है। जन्म–मरण का कारण क्या है यही वर्णन अब भगवती सूत्र मे आता है।

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

— एक परिचय —

स्थानकवासी जैन परम्परा मे आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा एक महान् क्रातिकारी सत हुए हैं। आषाढ शुक्ला सवत् 2000 को भीनासर मे सेठ हमीरमलजी बाठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला मे उन्होने सथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध सघ की एक श्रद्धाजलि सभा आयोजित की गई जिसमे उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालाल जी बाठिया ने उनकी स्मृति मे भीनासर मे ज्ञान–दर्शन चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदन्तर दिनाक 29 4 1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप मे इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा–ज्ञान एव सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए सस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए हैं। आचार्य श्री जवाहरलालजी म सा के व्याख्यानो से सकलित सम्पादित ग्रथो को श्री जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान मे इसकी 32 किरणो का प्रकाशन सस्था द्वारा किया जा रहा हे इसमे गुफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य है। आज गोरवान्वित हे गगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि जिसे दादा गुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला ओर ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुच सकी।

सस्था द्वारा एक पुस्तकालय का सचालन किया जाता है जिसमे लगभग 5000 पुस्तके एव लगभग 400 हस्तलिखित ग्रथ हैं। इसी से सम्बद्ध वाचनालय मे दैनिक, साप्ताहिक पाक्षिक मासिक– कुल 30 पत्र–पत्रिकाये उपलब्ध करवाई जाती हैं। प्रतिदिन करीब 50–60 पाठक इससे लाभान्वित होते हैं। ज्ञान–प्रसार के क्षेत्र मे पुस्तकालय–वाचनालय की सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हे ओर क्षेत्र मे अद्वितीय है।

महिलाओ को स्वावलम्बी बनाने हेतु सस्था द्वारा सिलाई बुनाई कढाई-प्रशिक्षण-केन्द्र का सचालन किया जाता है जिसमे योग्य अध्यापिकाओ द्वारा महिलाओ व छात्राओ को सिलाई, बुनाई कढाई व पेन्टिग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यों मे योगदान दे सकती हैं और आवश्यकता पडने पर इस कार्य के सहारे जीवन मे स्वावलम्बी भी बन सकती हैं।

सस्था के सस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालाल जी बाठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति मे एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमे उच्च कोटि के विद्वानो को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग-अलग धार्मिक सामाजिक विषयो पर प्रवचन आयोजित किए जाते हैं।

उपरोक्त के अलावा प्रदीप कुमार जी रामपुरिया-स्मृति-पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एव वाणिज्य सकाय मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियो को नकद राशि प्रशस्ति-पत्र एव प्रतीक-चिन्ह देकर सम्मानित किया जाता है एव स्नातकोत्तर शिक्षा मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे सर्वाधिक अक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप मे प्रशस्ति-पत्र एव प्रतीक-चिन्ह देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे मीठे जल की प्याऊ का सचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वय-सिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यों से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर है।